ISSN: 0975-1769



संस्कृतविमर्शः

(यू.जी.सी. केयर-मानिता विद्वत्परिशीलिता अन्ताराष्ट्रीया शोधपत्रिका)

(An UGC-CARE Listed Peer-Reviewed International Research Journal)



(जुलाई 2022-दिसम्बर 2022) वर्षम् 2024 अङ्क: 23

प्रधानसम्पादकः

प्रो. श्रीनिवास वरखेड़ी कुलपतिः

सम्पादकः

डॉ. गणेश ति. पण्डितः



केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः

संसदः अधिनियमेन स्थापितः

देहली

संस्कृतविमर्शः

(An International Refereed & Peer-Reviewed Research Journal, UGC-CARE Listed)

नवोत्कर्षः

अङ्कः 23 (जुलाई 2022 - दिसम्बर 2022) वर्षम् 2024

प्रधानसम्पादक:

प्रो. श्रीनिवास वरखेड़ी कुलपतिः

सम्पादक:

डॉ. गणेश ति. पण्डितः



केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः

संसदः अधिनियमेन स्थापितः

देहली - 110 058

प्रकाशक:

कुलसचिव:

केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः

(संसद: अधिनियमेन स्थापित:)

56-57, इन्स्टीट्यूशनल् एरिया, जनकपुरी, नवदेहली-110058

011-28524993, 28521994, 28520977

emial:res-pub@csu.co.in website:www.sanskrit.nic.in

© केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालय:

ISSN: 0975-1769

संस्करणम् : 2024

मूल्यम् - 300.00

ग्राहकताशुल्कम्

त्रैवार्षिकम् - 1800.00 पञ्चवार्षिकम् - 3000.00

मुद्रक: डी.वी. प्रिटर्स 97-यू.बी. जवाहर नगर, दिल्ली-110007

SAMSKRTA-VIMARŚAH

(An International Refereed & Peer-Reviewed Research Journal, UGC-CARE Listed)

NAVOTKARŞAḤ

Vol. 23

(July 2022 - December 2022)

Year 2024

Editor in Chief **Prof. Shrinivasa Varakhedi**Vice-Chancellor

Executive Editor **Dr. Ganesh T. Pandit**



CENTRAL SANSKRIT UNIVERSITY

(Established by an Act of Parliament)

Delhi

Publisher: Registrar

Central Sanskrit University

56-57, Institutional Area, Janakpuri, New Delhi - 110058 (India) E-mail: res-pub@csu.co.in website: www.sanskrit.nic.in

© Central Sanskrit University

ISSN: 0975-1769

Edition: 2024

Rs. 300.00

Subscription

Three Years: 1800

Five Years: 3000

Printed by:
D.V. Printers
97-U.B., Jawahar Nagar, Delhi-110 007

परामर्शदातृ-समितिः

1. प्रो. बनमाली बिश्वाल:

अधिष्ठाता (शैक्षणिक:) केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालय:, नवदेहली-110058

2. प्रो. ललित कुमार त्रिपाठी

अधिष्ठाता (शोधप्रभागः) गङ्गानाथझापरिसरः केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः प्रयागराजः, उत्तरप्रदेशः

3. प्रो. गोदावरीमिश्रः

सङ्कायाध्यक्ष: - SBSPCR नालन्दाविश्वविद्यालय:, राजगृहम्, बिहार:, पिन-803116

4. प्रो. शशिप्रभाकुमारः

सङ्कायाध्यक्षा, श्रीशङ्कराचार्यसंस्कृतमहाविद्यालय:, नवदेहली, पिन-110001

5. प्रो. रमेशकुमारपाण्डेयः

शोधविभाग:, श्रीला.ब.शा.रा.सं.वि.वि., नवदेहली, पिन-110016

6. प्रो. राधाकृष्ण सि.एस्.

संस्कृतविभाग:, पाण्डेचेरिविश्वविद्यालय:, पाण्डेचेरी पिन- 605014

Advisory-Board

1. Prof. Banmali Biswal

Dean (Academic) Central Sanskrit University, New Delhi-110 058

2. Prof. Lalit Kumar Tripathi

Dean (Research)
Ganganath Jha Campus
Central Sanskrit University,
Prayagraj (U.P.) Pin - 211002

3. Prof. Godavri Mishra

Dean, SBSPCR, Nalanda University, Rajgir (Bihar) Pin - 803116

4. Prof. Shashi Prabha Kumar

Dean, Shri Shankaracharya Sanskrit Mahavidyalaya, New Delhi, Pin-110001

5. Prof. Ramesh Kumar Pandey

Department of Research, LBS National Sanskrit University New Delhi, Pin - 110016

6. Prof. Radhakrishna P.

Department of Sanskrit Pondicherry University Pondicherry-605014

सम्पादकीयम्

राष्ट्रियमूल्याङ्कनप्रत्यायनपरिषदा केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य गुणवत्तां परीक्ष्य A++ इत्येषा सर्वोत्कृष्टा श्रेणी प्रदत्ता वर्तते इति विदितमेव समेषाम्। ततश्च अयं विश्वविद्यालय: विश्वविद्यालयानुदानायोगस्य A क्रमान्तर्गतायां विश्वविद्यालय-पट्टिकायामपि राजतेतमाम्। विश्वविद्यालयस्यास्य माननीयकुलपतीनाम् आचार्य श्रीनिवासवरखेडीवर्याणां मार्गदर्शनेनैव अयम् अभिनवोत्कर्ष: सम्प्राप्त: वर्तते। असौ विश्वविद्यालय: तेषां मार्गदर्शनं प्रतिपदं स्वीकृत्य पठनपाठनप्रकाशनसंशोधनादिष् सर्वेषु शैक्षिककार्येषु गुणवत्तां परिरक्षितुम् अनुक्षणं प्रयतते। विशिष्य अस्मिन् शैक्षिकसत्रे शिक्षाया: गुणवत्तापरिरक्षणाय परिवर्धनाय च शैक्षिकगुणोत्कर्षवर्ष (2023-24) सार्थकोपक्रमैः समाचरित। शैक्षिकगुणोत्कर्षः नामिका सप्तदिनव्यापिनी एका कार्यशाला अपि नवम्बर मासस्य द्वाविंशतितमात् दिनाङ्कात् अष्टाविंशति- दिनाङ्कं यावत् मुख्यालये समायोजिता। स्वाध्याय: शिक्षा शोध: इति शैक्षिकोत्कर्षहेतून् अधिकृत्य इयं कार्यशाला अस्माभि: समायोजिता। एवं पठनपाठनप्रकाशनसंशोधनादिषु कार्येषु विशिष्टं ध्यानं केन्द्रीकरोति सपरिसर: केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालय:। विशिष्य भारतीयवाङ्गमयप्रचारकार्येषु आबहो: कालात् प्रकाश्यमाना संस्कृतविमर्श: इत्येषा शोधपत्रिका भृशमुपकरोति। लक्ष्यकेन्द्रिता विविधविद्याधारित-शोधलेखै: शोभमाना च एषा शोधपत्रिका नैरन्तर्येण सारस्वतलोकं प्रकाशयन्ती विद्यते। विश्वविद्यालयानु-दानायोगस्य रक्षितसुच्याम् उल्लिखितायाम् अस्यां पत्रिकायां संस्कृतेन सह आङ्ग्लभाषायां हिन्दीभाषायां च उपनिबद्धाः लेखाः लसन्ति।

तेलुगुव्याकरणेन सह संस्कृतव्याकरणस्याभिसम्बन्धः, आहारविवेके स्वास्थ्य-सिद्धः, ङ्याप्प्रातिपदि-कादिति सूत्रे दीक्षितनागेशमतयोः विचारानुशीलनम्, Living Traditions of Advaita Vedanta, प्राचीन भारतीय मूल्याङ्कन प्रणाली विमर्श, Digital Conservation and Preservation of Sanskrit Heritage इत्यादयः शोधलेखाः अस्मिन् अङ्के सन्ति। एवं संस्कृत-हिन्दी-आङ्ग्लभाषासु उपनिबद्धस्य अस्य अभिनवोत्कर्षद्योतकस्य अङ्कस्य सम्पादनकर्मणि प्रतिपदं मार्गदर्शनं कृतवद्भ्यः कुलपितभ्यः सम्पादकगणः सनमोवाकं धन्यवादान् व्याहरित। प्रकाशनकार्येषु विश्वविद्यालयस्य कुलसचिवाः आचार्य रा.गा. मुरलीकृष्णवर्याः अपि काले काले अभिप्रेरयन्ति इत्यतः तेभ्योऽपि धन्यवादान् व्याहरामः। कुलपतीनां विशेषकार्याधिकारी कार्यक्रमयोजनानुभागयोः निदेशकः प्रो. मधुकेश्वरभट्टवर्यः, प्रकाशनानुभागस्य डॉ. पवनव्यासवर्यः, डॉ. छोटी बाई मीना वर्या, श्रीमती सोनिया, कुमारी रीना प्रभृतयः साहाय्यमकुर्वन्। अतः तेभ्यः अपि धन्यवादान् समर्पयामः। विशिष्य परामर्शकमण्डल्याः सदस्यान् समीक्षकान् च पौनःपुन्येन स्मरामः। तेषां सहयोगेन एव एषा पत्रिका प्राकाश्यतां यातीति शम्।

सम्पादकगणः

विषयानुक्रमणिका

| | परामर्शदातृ–सिमितिः | | ν | | |
|-----|--|-----------------|-----|--|--|
| | Advisory Board | | vi | | |
| | सम्पादकीयम् | , | vii | | |
| | संस्कृत-संभागः | | | | |
| 1. | येऽनूचानास्ते कवयः, योऽनूचानः स नो महान् इ श्रुतिस्मृतिवाक्ययोः विश्लेषणम् | त्यनयोः | 1 | | |
| | -डॉ. गणेश ति पण्डित | : | | | |
| 2. | ङ्याप्प्रातिपदिकादिति सूत्रे दीक्षितनागेशमतयोः वि -डॉ. शम्भुनाथ भट्टः | त्रचारानुशीलनम् | 7 | | |
| 3. | तेलुगुव्याकरणेन सह संस्कृतव्याकरणस्याभिसम्बन्ध -डॉ. विदुषी बोल्ला | गः | 16 | | |
| 4. | आहारविवेके स्वास्थ्यसिद्धिः आहारशुद्धौ सत्त्वशु -डॉ. नवीन भट्ट | ब्द्रिः 🥻 | 25 | | |
| 5. | त्रिविधं तपः -डॉ. जि. नरसिंहुलु | ; | 31 | | |
| 6. | वैश्विकान्तरिकाशान्तये प्रज्ञापराधः | | | | |
| | –डॉ. अमृताकौर: | | | | |
| 7. | नैषधचरितालोके वैदिकदेवस्य स्वरूपम् | 4 | 44 | | |
| | –टुम्पा जाना | | | | |
| 8. | आयुर्वेदे योगतत्त्वम् –डॉ. गोबिन्द: दास: | ; | 57 | | |
| 9. | स्वास्थ्यमौषधम् -डॉ. चक्रधरमेहेरः | • | 67 | | |
| 10. | . जयरामन्यायपञ्चाननकृता काव्यप्रकाशटीका-एक: -डॉ. अनसूया महारणा | विमर्शः : | 73 | | |
| 11. | . शिशुपालवधस्य सर्वङ्कषाटीकायाः कोशोद्धृतीनां प्रामाणिकताविचारः –डॉ. मृत्युञ्जयगराँइ | 1 | 83 | | |

| 12. | नाऽभिधालक्षणाभ्यां व्यञ्जनायाः गतार्थत्वम् | | |
|-----|--|-----|--|
| | -राजकुमार-मण्डल: | | |
| 13. | भक्तिमार्गालोके श्रीजीवगोस्वामी | 105 | |
| | –अमलकुमार कर | | |
| 14. | अर्चावतारस्य वैदिकत्वप्रदर्शनं बुद्धनिर्वाणकाला- | 114 | |
| | पेक्षयार्वाचीनत्वनिरसनञ्च - एकं समीक्षणम् | | |
| | –चन्दन–मुखार्जी | | |
| 15. | उपदेशसाहर्स्यनुसारम् अद्वैतेतरवादीनां मतपरीक्षणं | 126 | |
| | स्वमतस्थापनञ्च -कार्त्तिकरुइदास: | | |
| 16. | षष्ठीसमासनिषेधशास्त्राणां समीक्षणम् | 142 | |
| | −उत्तम−माझि: | | |
| 17. | पाणिनीयव्याकरणे प्रकृतिवदनुकरणे ज्ञापकानामावश्यकता | 154 | |
| | -पल्लवी-मालिक: | | |
| 18. | स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा इति सूत्रस्य समीक्षणम् | 166 | |
| | -डा. मलयपोडे | | |
| 19. | स्त्रीधनविषये प्राचीनधर्मशास्त्रेण सहार्वाचीनहिन्दु | 178 | |
| | विधेस्तुलनात्मकमध्ययनम् | | |
| | -डॉ. अञ्जन-दास: | | |
| 20. | उपनिषत्सु निहितप्रमुखतत्त्वानां विवेचनम् | 184 | |
| | –डॉ. विशम्बरदास: | | |
| | हिन्दी संभाग | | |
| 21 | प्राचीन भारतीय मूल्यांकन प्रणाली विमर्श | 191 | |
| 21, | -प्रो. लीना सक्करवाल | 171 | |
| | | 206 | |
| 22. | काव्यप्रकाशोक्त 'प्रतिकूलविभावादिग्रह' दोष परिशीलन विशेषतः काव्यप्रकाश की 'बालबोधिनी' टीका के सन्दर्भ में | | |
| | ावशापतः काव्यप्रकाशं का बालबाधिना टाका क सन्दम् म -शिवानी | | |
| | | | |
| 23. | समकालीन संस्कृत महिला लेखन और उनके काव्य उपमान | 214 | |
| | –डॉ. अजय कुमार मिश्र | | |

| 24. | पश्चिम बंगाल में उच्च माध्यमिक विद्यालयों में छात्र अशांति की समस्या पर एक अध्ययन -श्रीकान्त हाजरा | 229 |
|-----|--|-----|
| 25. | हनूमान्-चालीसास्तोत्रस्य गेयात्मकः संस्कृतानुवादः (सन्तकवि गोस्वामी तुलसीदासविरचितम्) -अनुवादक: डॉ॰ सत्यनारायणहेच्. के | 239 |
| 26. | संयम स्वरूप विमर्श –योगिन्द्रा देवी | 243 |
| 27. | प्रादेशिक शब्दों की भाषा यात्रा में प्राकृत का योगदान -डॉ. रजनीश शुक्ल | 253 |
| | English Section | |
| 28. | Living Traditions of Advaita Vedānta -Dr. Shakuntala Gawde | 265 |
| 29. | Digital Conservation and Preservation of Sanskrit Heritage: Bridging the Past and Future -Dr. Rautmale Anand S. | 283 |
| 30. | Melodic Maternity: Exploring Gayatri Mantra's Influence in Garbha Samvad - Dr Bhairavi Dixit | 298 |
| 31. | Generative Artificial Intelligence and gamification for enhancing student engagement and volition for the promotion of the Bhartiya Knowledge System - Dr Ramesh C Sharma | 314 |
| 32. | - Dr Madan K Jha The Mysterious Fact of Number - 33 (33 Crore Gods and Goddesses) - Abhishaik Chitraans - Ankakshr Miracless | 331 |
| 33. | The Logical Conclusion of Karmayoga Philosophy of the Bhagavadgītā -Dr. Arpit Kumar Dubey -Dr. Kamini Kumari | 335 |



येऽनूचानास्ते कवयः, योऽनूचानः स नो महान् इत्यनयोः श्रुतिस्मृतिवाक्ययोः विश्लेषणम्

-डा. गणेश ति पण्डितः*

ISSN: 0975-1769

पीठिका

अथ महामुनिना मनुना लोकहिताय मनुस्मृतिरित्याख्यः शास्त्रीयः ग्रन्थः व्यलेखीति विदितमेव समेषां धीजुषां विदुषाम्। तत्रत्यं श्लोकवाक्यमेव 'योऽनूचानः स नो महान्' इति। श्लोकस्यास्य मूलस्रोतः किम्? इत्यत्र बहूनां सन्देहः वर्तते एव। वस्तुतः श्रुतिरेव अस्य मूलं न तु स्मृतिः इति शोधलेखेऽस्मिन् सप्रमाणमुल्लिख्यते। 'येऽनूचानास्ते कवयः' इत्येषः मन्त्रः ऋग्वेदीये ऐतरेयब्राह्मणे श्रूयते। कौषीतकीब्राह्मणेऽपि 'यो अनूचानः श्रोत्रियः स्यात् तस्य प्रवृञ्ज्यताम्, आत्मा वै स यज्ञस्य' इति अनूचानस्य उत्कृष्टं स्थानं प्रोक्तम्। शुक्लयजुर्वेदीये शतपथब्राह्मणे तु 'यो वा अनूचानः सोऽलं यशसे' इत्येवमादिभिः मन्त्रैः यज्ञयशोमूलप्रसङ्गे अनूचानमिधकृत्य सूक्तमेव। वेदाङ्गेष्वपि अनूचानस्य वर्णनं बहुत्र दृश्यते। गृह्मश्रौतसूत्रेष्वपि वर्णितोऽय-मनूचानः तदग्रे स्मृतिषु सन्दृश्यते। सम्पूर्णः श्लोकः यथा-

न हायनैर्न पिलतैर्न वित्तैर्न च बन्धुभि:। ऋषयश्चिक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्॥(मनुस्मृतौ 2/154)

स्मृतयोऽपि वेदमूलजाः एव। एवमनूचानः आदौ श्रुतौ ततः सूत्रग्रन्थेषु तदग्रे स्मृतिषु पुराणेषु महाभारतादिषु महाकाव्येषु च क्रमशः सन्दृश्यते। महाभारतस्य आरण्यकशल्यादिषु द्वित्रेषु पर्वसु श्लोकोऽयमुपलभ्यते। अतः बहवो हि बालाः महाभारतमेव अस्य मूलिमिति मन्वते। महाभारतादिप पूर्वं पुराणानि सृष्टानि व्यासमहर्षिणा। ततः महाभारतं लिखितम्। यथोक्तं मत्स्यपुराणे-

अष्टादशपुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः। भारताख्यानमखिलं चक्रे तदुपबृंहणम्॥ (53/70) इति।

नारदपुराणादिषु अनूचानस्य महिमा सूपपादितोऽस्ति। पुराणानां रचयिता तु व्यासमहर्षिः। सः वेदव्यासः इत्येव कीर्त्यते। वेदं व्यस्यति पृथक्करोतीति वेदव्यासः।

^{*} सहाचार्य:, शिक्षाशास्त्र विद्याशाखा, के.सं.वि., मुख्यालय:, नवदेहली-110058।

2 संस्कृतविमर्शः

अतः वेदिवभजकस्य व्यासस्य कृतिविशेषेषु बहुत्र वेदसारसङ्ग्रहरूपान् श्लोकान् साद्यन्तम् अवलोकियतुं शक्नुमः। एतदनु वेदोक्तस्य अनूचानस्यापि प्रचुरमात्रेण वर्णनं श्लोकरूपेण कृतं दृश्यते। श्लोकोऽयं पुराणेषु उपपुराणेषु च तत्र तत्र परिदृश्यते। परं मनुस्मृतिस्तु महाभारतरामायणपुराणादीनामपेक्षयापि प्राचीना वर्तते। मनुस्मृतिस्थाः बहवो हि श्लोकाः पुराणेषु महाकाव्येषु च उपलभ्यन्ते। किञ्च पुराणेषु मनोः वर्णनं मनुकुलवर्णनादिकं च दृश्यते। परं मूलमनुस्मृतौ क्वापि पुराणानां रामायणमहाभारतादीनां वा उल्लेखः नैव दृश्यते। अतः महाभारतमेव अस्य मूलिमिति कथनं युक्तिसङ्गतं न भाति। मनुस्मृतौ अनूचानस्य वर्णनं सङ्ग्रहेण कृतं चेत् पुराणेषु भारते च व्यासमहर्षिणा अनूचानस्य गुणवेशिष्ट्यानि विस्तरेण विहितानि सन्ति। पुनश्च वेदिविहितानां धर्माणां सरलसुबोधभाषायां वर्णनायैव पुराणानि व्यासेन विरचितानि। यथोक्तम्-

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरेदिति॥

वेदसारं पुराणानां माध्यमेन महाकाव्यानां माध्यमेन च व्यासः व्यावृणोत्। व्यासिवरिचितेषु पुराणेषु महाभारते च श्लोकोऽयं बहुत्र दृश्यते इत्यतः प्रसिद्धिवशात् महाभारतमेव अस्य मूलिमिति मन्यन्ते बहवो हि पाठकाः। मनुस्मृतेः मूलभागः अन्यः, प्रक्षिप्तभागाः बहवः अद्यत्वे उपलभ्यन्ते इत्यतः क्वचित् स्मृतिविषयेऽपि भ्रमस्तु जायत एव। परं स्मृतीनां सूत्रग्रन्थानां च अपेक्षया श्रुतावेव अनूचानः सूपपादितः इत्यतः अनूचानस्य अनुप्रयोगमूलं श्रुतिरिति निश्चप्रचम्। अतः तस्मादेव उल्लिख्यते।

कुञ्चिकापदानि

अनूचान:, कवि:, श्रुति: , स्मृति:, इतिहास:।

अथ अनूचानः नाम वेदवेदाङ्गवेत्ता इति सर्वैः विदितमेव। अयं शब्दः द्विधा सिध्यति। अनु इत्युपसर्गपूर्वकात् 'ब्रूज्' व्यक्तायां वाचि धातुना (अनु + 'ब्रूज्' + लिट् , तस्य कानच्) यः शब्दः सिध्यति सः साङ्गवेदप्रवक्ता (अमरकोषानुसारम्- अनूचानः प्रवचने साङ्गेऽधीती गुरोस्तु यः, महाभाष्यानुसारम्- अनूक्तवान् अनूचानः) इत्यर्थं द्योतयित। अनूचानः इति पदस्य अयमेव अर्थः वैयाकरणसिद्धान्तकौमुद्यां वर्णितः- वेदस्य अनुवचनं कृतवान् अनूचानः इति। गुरुणा उपदिष्टं वेदमन्त्रम् अनूक्तवान् इत्यर्थः। पुनः अनु इत्युपसर्गपूर्वकात् 'वच' धातोः (अनु + वच् + लिट्, तस्य कानच्) योगे यः शब्दः सिध्यति सः विनीतः/सिवनयः इत्यर्थं (मेदिनीकारमतानुसारम्- अनूचानो विनीते स्यात् साङ्गवेदिवचक्षणे) द्योतयित। अनेकार्थसङ्ग्रहे तु 'अनुचानः साङ्गवेदकोविदे विनयान्विते' इति सुस्पष्टमुक्तमस्ति।

येऽनूचानास्ते कवयः, योऽनूचानः स नो महान् इत्यनयोः श्रुतिस्मृतिवाक्ययोः... 3

साङ्गवेदकोविद: (गुरुः) विनयान्वित: (शिष्यः) इत्यनयोः मध्ये भेदम् अभेदं च दर्शियतुं समर्थः (द्वितीयसदृशव्यवच्छेदः) शब्दः नाम अनूचानः इत्येक एव इति मन्मतम्। एवं विनीतः, वेदवेदाङ्गवेत्ता, मुनिः, कविः इत्यादिषु अर्थेषु अनूचानः इत्यस्य पदस्य प्रयोगः वाङ्मये तत्र तत्र दृश्यते इति फलितम्। साङ्गवेदविचक्षणः सामान्यतः विनीतः भवत्येव। पुनः मुनिविशेषाणां कृते अनूचानाः इति विशेषणं कालिदासेन विशेषतः दत्तमेव। यथोक्तं कुमारसम्भवे–

अथ ते मुनयः सर्वे मानयित्वा जगद्गुरुम्। इदमूचुरनूचानाः प्रीतिकण्टिकतत्वचः॥ 6.15॥

वैदिकसाहित्ये तु अनूचानाय किवरित्यिप प्रयोगः दृश्यते। 'येऽनूचानास्ते कवयः' इति ऐतरेयब्राह्मणे दृश्यते। यथा- 'दाशित हिवरिदकं स्वस्वत्वं निवर्त्यं युष्पत्स्वत्वापादनं करोति। य एव किवः अनूचानः 'येऽनूचानास्ते कवयः।' (ऐ.ब्रा 2.2)

कविर्मेधावी होता इति प्रसिद्धस्तत्र। कविरध्वर्यु: अपि वर्तते। शतपथब्राह्मणेऽपि दृश्यते। यथा- स हैतेनापि यजेत। योऽलं यशसे सन्नयशो भवित यो वा अनूचानः सोऽलं यशसे सन्नयशो भवित यो न यशो भवित स तमसा वै स तत्प्रावृतो भवित। (शतपथे- 5/3/2)

कवते सर्वं जानाति सर्वं वर्णयित सर्वव्यापीति किवः। भारते तु वेदिविद्विष्णुरेव किविरिति कीर्त्यते। "वेदो वेदिविद्वव्यङ्गो वेदाङ्गो वेदिवित् किवः" इत्येवं विष्णोर्विशेषणानि तत्र उल्लिखितानि। इदमत्रावधेयं यत् किवः इति शब्दो वा भवतु अनूचानः इति शब्दो वा भवतु उभाविप वेदवेदाङ्गसम्बद्धेषु अध्ययनाध्यापनयजन-याजनादिषु कर्मसु एव विशेषतः प्रयुक्तौ स्तः। अतः अनेकार्थकोऽिप अनूचानशब्दः साम्यार्थद्योतकोऽिप वर्तते इति वेदितव्यम्। एवं श्रुतिस्मृतिस्थयोः पदयोः (अनूचानः/किवः) वाक्ययोशच (येऽनूचानास्ते कवयः, योऽनूचानः स नो महान्) प्रसङ्गसाम्यं अर्थसाम्यं क्विचत् तात्पर्यसाम्यं च दृश्यते इति फिलतम्। यदि श्रुतिस्थे स्मृतिस्थे वा वाक्ये विरोधः स्यात् तदा श्रुतिवाक्यमेव प्रमाणत्वेन स्वीकरणीयमेविति शास्त्रसम्मतं मतम्। 'श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी' इति जाबालवचनमि अत्र प्रमाणं वर्तते। परमत्र प्रसङ्गे अविरोधः एव दृश्यते न तु विरोधः। अतः श्रुतिस्मृतिवाक्ययोः विश्लेषणं सुलभमेव। प्रसङ्गः क्विचत् भिद्यते न तु भावः। पुराणकाव्यादिषु अपि एषैव स्थितिः।

अनूचानस्य लक्षणं विशेषताः च नारदपुराणस्य पूर्वार्धे सनन्दननारदयोः संवादे दृश्यते। तत्र नारदः सनन्दनं पृच्छति यत्– मानवः सुज्ञानी कथं भवितुं शक्नोति ? इति। तद्यथा–

अनूचानः कथं ब्रह्मन्युमान्भवति मानद। तन्मे कर्म समाचक्ष्व श्रोतुं कौतूहलं मम॥ 50-8॥

नारदीयां जिज्ञासां सविस्तरं समाधत्ते सनन्दन:। तद्यथा-

श्रृणु नारद वक्ष्यामि ह्यनूचानस्य लक्षणम्। यज्ज्ञात्वा साङ्गवेदानामिभज्ञो जायते नरः॥ 50-9॥ शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषं तथा। छन्दःशास्त्रं षडेतानि वेदाङ्गानि विदुर्बुधाः॥ 50-10॥ ऋग्वेदोऽथ यजुर्वेदः सामवेदो ह्यथर्वणः। वेदाश्चत्वार एवैते प्रोक्ता धर्मनिरूपणे॥ 50-11॥ साङ्गान्वेदान्गुरोर्यस्तु समधीते द्विजोत्तमः। सोऽनूचानः प्रभवति नान्यथा ग्रन्थकोटिभिः॥ 50-12॥

अत्र द्वादशे श्लोके गुरुमुखादेव साङ्गवेदाध्ययनं यः करोति सः प्रकृष्टः अनूचानः भवति इति उक्तमस्ति। पूर्वतनेषु श्लोकेषु वेदवेदाङ्गानां नामोल्लेखः एतदर्थं स्पष्टतया विहितः यत् अन्येषां वाङ्मयप्रकाराणामध्ययनेन अनूचानः भवितुं न अर्हति पुमान् इति।

महाभारतस्य आरण्यके पर्वणि 135 तमे सर्गे अष्टावक्रद्वारपालयोः संवाद-सन्दर्भेऽपि पूर्वोक्तः श्लोकः श्रूयते। द्वारपालः बालम् अष्टावक्रं दृष्ट्वा कथयति यत् 'न वै बालाः प्रविशन्त्यत्र विप्रा वृद्धा विद्वांसः प्रविशन्ति द्विजार्ग्याः' इति। तच्छुत्वा अष्टावक्रः भणति-

यद्यत्र वृद्धेषु कृतः प्रवेशो
युक्तं मम द्वारपाल प्रवेष्टुम्।
वयं हि वृद्धाश्चरितव्रताश्च
वेदप्रभावेन प्रवेशनार्हाः॥६॥

अग्रिमे बालस्यापि (अनूचानस्य) लक्षणानि योग्यता: प्रोक्ता:। तद्यथा-

शुश्रूषवश्चापि जितेन्द्रियाश्च ज्ञानागमे चापि गताः स्म निष्ठाम्। न बाल इत्यवमन्तव्यमाहु-र्बालोऽप्यग्निर्दहति स्पृश्यमानः॥७॥

अनेन सिध्यति यत् जितेन्द्रियत्वम् , शुश्रूषा, वैदिकज्ञाननिष्ठता च यस्मिन् अस्ति सः बालो वा भवतु सः अनुचानः (ज्ञानवृद्धः) इति परिभाषितो भवति इति।

येऽनूचानास्ते कवयः, योऽनूचानः स नो महान् इत्यनयोः श्रुतिस्मृतिवाक्ययोः... 5 अष्टावक्रस्य उत्तरेण अतृप्तः द्वारपालः कालक्रमेण खलु मानवः वृद्धो भवति खलु इति कथयति। यथा-

वृद्धेभ्य एवेह मितं स्म बाला
गृह्णन्ति कालेन भवन्ति वृद्धाः।
न हि ज्ञानमल्पकालेन शक्यं
कस्माद्बालो वृद्ध इवावभाषसे॥१०॥

अष्टावक्र: वदित तदा यत् ज्ञानेन स्थिविरपदवाच्यो भवित नर: न तु वार्धक्यवशात् इति। तद्यथा–

> न तेन स्थिविरो भवति येनास्य पलितं शिरः। बालोऽपि यः प्रजानाति तं देवाः स्थिविरं विदुः॥11॥

द्वादशे श्लोके अष्टावक्रः नरेण जीवितावधौ व्यतीतकालस्य आधारेण पिलतकेशानां बलेन बन्धुमित्रधनकनकैर्वा कश्चन ज्ञानी न भवित इति स्पष्टीकरोति। किञ्च पूर्वजैः प्रवर्तिते धर्ममार्गे ये आबालवृद्धाः प्रचलन्ति ते सर्वे अनूचानाः इति। एवं श्रुतौ स्मृतौ पुराणेषु महाकाव्येषु च सूपपादितः अनूचानशब्दः विशिष्टः विभिन्नार्थद्योतकश्च इति फिलितम्।

सहायकग्रन्थसूची-

- 1. ऐतरेयब्राह्मणम्, सद्गुरुशिष्यकृतसुखप्रदाख्यवृत्तिसहितम्, नागप्रकाशन, 1991
- 2. कुमारसम्भवम्, महागुरुकालिदासविरचितम्, मल्लिनाथविरचितसञ्जीविन्याख्य-व्याख्यया सहितम्, निर्णयसागर प्रेस्, मुम्बई, 1807
- 3. कौषीतकीब्राह्मणम्, ऋग्वेदान्तर्गतम्, सम्पादकः सन्निधानं सुदर्शनशर्मा, श्रीवेङ्कटेश्वरवेदविश्वविद्यालयः, तिरुपतिः, 2009
- 4. श्रीनारदीयमहापुराणम्, भगवता व्यासमहर्षिणा विरचितम्, प्रकाशक: प्रो. वि. कुटुम्बशास्त्री, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, नई दिल्ली, 2002
- 5. मत्स्यमहापुराणम्, भगवता व्यासमहर्षिणा विरचितम्, प्रकाशक: गीताप्रेस् गोरखपुर, 2020
- 6. मनुस्मृति:, श्रीकुल्लूकभट्ट प्रणीतमन्वर्थमुक्तावलीव्याख्यासिहता, सम्पादक: गोपालशास्त्री नेने, प्रकाशक: चौखम्बासंस्कृतसंस्थानम्, वाराणसी, 1981

6 संस्कृतविमर्शः

7. श्रीमन्महाभारतम्, भगवता व्यासमहर्षिणा विरचितम्, पण्डितरामनारायण-दत्तशास्त्रीपाण्डेयविरचितहिन्दी-अनुवादसहितम्, प्रकाशक: गीता प्रेस्, गोरखपुर, 2021

- 8. मेदिनीकोश:, नानार्थशब्दकोशापरपर्याय:, सम्पादक: जगन्नाथशास्त्री कोशिङ्ग:, चौखम्बासंस्कृतसीरीज्, वाराणसी, 1968
- 9. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, श्रीमद्भट्टोजीदीक्षितविरचिता, सम्पादक: पण्डित श्रीगोपालशास्त्री नेने, चौखम्बासंस्कृतसीरीज् आफीस्, वाराणसी, 1977
- 10. श्रीवाजसनेयि माध्यन्दिनयुक्तम्, शतपथब्राह्मणम्, सायणाचार्यादिभाष्यसहितम्, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, नई दिल्ली, 2002



ङ्याप्प्रातिपदिकादिति सूत्रे दीक्षितनागेशमतयोः विचारानुशीलनम्

-डॉ. शम्भुनाथ भट्टः

ISSN: 0975-1769

शोधसारः- प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणमिति परिभाषया स्त्रीप्रत्ययान्तानामिप ग्रहणं भवित। सूत्रस्य कार्यं सुबन्तत्वसम्पादनम्। तच्च ङ्याप्ग्रहणं विनापि सिध्यित इति प्रश्नः। तत्र दीक्षिताः ङ्याप्ग्रहणं स्वार्थिकतद्धितानाम् उत्पत्तिः स्त्रीप्रत्ययानन्तरं भवेत् न तु ततः प्राक् इति आशोरते। परं नागेशभट्टाः इदं नाङ्गीचक्रुः अपि तु अचखण्डन्। तत्र दीक्षितानां युक्तयः काः नागेशस्य काः इति विचारः अत्र कृतः। तैस्तैः दत्ताः हेतवश्च विचारिताः। ततः तद्ध्याख्यातृणाम् आशयमि आश्रित्य युक्तायुक्तत्वं परिशील्यते अत्र। युक्तिविवेचनेन बुद्धिवैशाल्यमस्य लेखस्य लक्ष्यम्। तत्र विशेषेण दीक्षितानां मतानुसारं तद्धितानां समुत्पत्तिः सुबन्तादेव स्यात्। यतः 'कुत्सिते' इति सूत्रे प्रवृत्तिनिमित्ततदाश्रयिलङ्गसंख्याकारकाणां क्रमिकोत्पत्तिः इति सूचितम्। अर्थान्तरयोगः पश्चादेव कर्तव्यः। स्वार्थे परिपूर्णं सत् अर्थान्तरेण अन्वयं प्राप्नोति। परं नागेशभट्टानामाशयः अन्यादृशो भवित। तद्धितेषु सार्थकाः, स्वार्थिकाः, अत्यन्तस्वार्थिकाः इति त्रेधा प्रभेदान् स्वीकृत्य अत्यन्तस्वार्थिकानां समुत्पत्तिः जात्यनन्तरमेव इति व्याख्यान्ति।

प्रमुखशब्दा:- प्रातिपदिकम्, ङचाप्, स्त्रीप्रत्यय:, दीक्षिता:, नागेश:, विवेक:

आमुखम्-

ङ्गाप्प्रातिपदिकात् इति सूत्रं प्रातिपदिकात्, स्त्रीप्रत्ययान्तेभ्यः च सुप्प्रत्ययानां विधानार्थं प्रवृत्तम्। प्रातिपदिकसंज्ञाविधायकसूत्रे अप्रत्ययः इति प्रत्ययान्तपर्युदासात् स्त्रीप्रत्ययान्तानां प्रातिपदिकत्वं नास्ति। अतः स्त्रीप्रत्ययान्तेभ्यः शब्देभ्यः सुबुत्पत्तिः न स्यात्। अतः ङ्गाप्प्रहणं सूत्रे कृतम्। "प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणमिति" परिभाषया स्त्रीप्रत्ययान्तानामपि ग्रहणं भवति। सूत्रस्य कार्यं सुबन्तत्वसम्पादनम्। तच्च ङ्गाप्प्रहणं विनापि सिध्यति इति प्रश्नः। तत्र दीक्षिताः

^{*} सहायकाचार्य:, श्रीसत्यसाईविश्वविद्यालय:, कर्णाटक:।

^{1.} अष्टाध्यायी 5-3-74

^{2.} परिभाषेन्दुशेखर:- 71

ङ्याप्रहणं स्वार्थिकतद्धितानाम् उत्पत्तिः स्त्रीप्रत्ययानन्तरं भवेत् न तु ततः प्राक् इति आशेरते।

दीक्षितमतम्²-

लिङ्गविशिष्टपरिभाषया सिद्धे ङ्याब्यहणं ङ्याबन्तात्तद्धितोत्पत्तिर्यथा स्यात्, ङ्याबभ्यां प्राङ् मा भूदित्येवमर्थम्। तेन लोहिनिका, आर्यका इति च सिध्यति। तथा हि, ङ्याब्यहणाभावे लोहितशब्दात् 'लोहितान्मणौ' इति कन्, 'वर्णाद्नुदात्तात्तोपधात्तो नः¹⁴ इति ङीब्नकारयोः प्राप्तयोः, अत्यन्तस्वार्थिकत्वेन अन्तरङ्गः परश्च कन् ङीब्नकारौ बाधेत। ततश्च किन 'अजाद्यतष्टाप्' इति टापि 'प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः" इति इत्वे लोहितिका इत्येकमेव रूपं स्यात् न तु लोहिनिका इति। सूत्रेऽस्मिन् ङचाब्ग्रहणे तु अन्तरङ्गं परमपि कनं बाधित्वा ङीब्नकारयो: कृतयो: तत: किन, हस्वे, टापि लोहिनिका इति, वर्णाद्नुदात्तादित्यादिना वैकल्पिकनत्वसंनियोग-शिष्टङीबभावे टापि, किन, ह्रस्वे, पुनष्टापि, प्रत्ययस्थात्कात् इत्यादिना इत्वे लोहितिका इत्यपि सिध्यति। तस्मात् 'लोहिताल्लिङ्गबाधनं वा' इति वार्तिकं नारम्भणीयम्। एवम् आर्यशब्दात् स्वार्थे कन्टाप्प्रत्यययो: प्राप्तयो: परत्वादन्तरङ्गत्वाच्च किन, ततः टापि 'प्रत्ययस्थात्कात्' इत्यादिना नित्यमित्वे आर्यिका इत्येव स्यात् न तु आर्यका इति। आब्ग्रहणे क्रियमाणे तु आबन्तात् तद्धितकन्प्रत्यये, ह्रस्वे, 'उदीचामात:स्थाने यकपूर्वाया:' इति विकल्पेन इत्वे आर्यिका, आर्यका इति रूपद्वयमपि सिध्यति। तस्मादन्तरङ्गादपि तद्धितात्प्राङ्ङ्यापो: प्रवृत्त्यर्थं ङ्याब्यहणम्। न तु आब्ग्रहणं विस्पष्टार्थम् इति।

नागेशमतम्⁹-

'सुबन्तात् तद्धितोत्पत्तिः' इति सिद्धान्तेऽपि अत्यन्तस्वार्थिकप्रत्ययाः सुबुत्पत्तेः

^{1.} सिद्धान्तकौमुदी भाग: 1, पृ. सम्- 179

^{2.} प्रौ.म. भाग: 1 पृ.सं 371

^{3.} अष्टाध्यायी- 5-4-30

^{4.} अष्टाध्यायी- 4-1-39

^{5.} अष्टाध्यायी- 4-1-04

^{6.} अष्टाध्यायी- 7-3-44

^{7.} लोहितान्मणौ इति सूत्रे पठितं वार्तिकम्।

^{8.} अष्टाध्यायी- 7-3-46

^{9.} ल.श.शे अजन्तभाग: पृ.सं 37

पूर्वमेव उत्पद्यन्ते। 'सर्वस्य द्वे' (8.1.1) इत्यत्र भाष्ये सर्वस्य इति स्थाने पदस्य इति वक्तव्यमित्युक्त्वा द्विपदिका इत्यत्र द्विवंचनाभावरूपप्रयोजनं प्रदर्शितम्। यदि सर्वत्र सुबन्तात्तद्धितोत्पत्तिरिति स्वीक्रियते तर्हि, द्विपाद इत्यवस्थायां सुपि ततः वुनि, पूर्वस्य द्विपाद इत्यस्य पदत्वात् द्वित्वं स्यात्। एवञ्च भाष्ये पदस्य इति प्रयोजनप्रदर्शनमसङ्गतं स्यात्। परं तु वुन्प्रत्ययस्य अत्यन्तस्वार्थिकत्वेन अन्तरङ्गत्वात् सुबुत्पत्तेः पूर्वमेव प्रवृत्तिः। तदा द्विपाद इत्यस्य पदत्वाभावात् द्विवंचनं न भवतीति भाष्ये परिहारप्रदर्शनं सङ्गच्छते।

दीक्षितमतविचारानुशीलनम्-

सूत्रे ङ्याब्य्रहणं 'ङ्याबन्तात्तद्धितोत्पत्तिर्यथा स्यात्' इति स्वीकारे बहुगोमत्का इत्यत्र दोष:। तथा हि- बहव: गोमन्त: यस्यां सा इति विग्रहे बहु जस् गोमत् जस् इत्यलौकिकविग्रहे, प्रातिपदिकसंज्ञायां सुब्लुकि, बहुगोमत् इत्यवस्थायामन्यपदार्थस्य स्त्रीत्वात् 'उगितश्च' इति ङीप् प्राप्त:, नद्यन्तबहुव्रीहिरित्यत: 'नद्युतश्च' इति कप् प्रत्ययश्च प्राप्त:। अत्र ङ्याबन्तात्तिद्धतोत्पत्तिरिति नियमस्वीकारे 'उगितश्च' इति ङीपि, ततः कपि, टापि बहुगोमतीका इत्यनिष्टं स्यात् इति चेदत्र उच्यते-प्रकृते बहु जस् गोमत् जस् इत्यलौकिकविग्रहवाक्ये समासान्तः कप्प्रत्ययः उत्तरपदस्य गोमत् जस् इत्यस्यानन्तरम् अवयवो भूत्वा प्रवर्तते। नन् समासान्तः प्रत्ययः समासात्पूर्वम् अलौकिकप्रक्रियावाक्ये कथं प्रवर्तताम् इति चेत्, 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इति सूत्रस्थभाष्यात् समासान्तः इत्यत्र समासपदं समासार्थे वाक्ये वर्तते 'तादर्थ्यात् ताच्छब्द्यम् 16। तच्च वाक्यमलौकिकमेव लौकिके वाक्ये समासप्रवृत्त्ययोगात्। एवञ्च समासान्तः कप्प्रत्ययः अलौकिकप्रक्रियादशायामेव प्रवर्तते। स च विभक्तेः पुरस्तात् परस्तात् इति पक्षद्वयम्। तत्र विभक्तेः परस्तात् प्रवर्तते इति सिद्धान्तः। कप्प्रत्ययः पुरस्तात् प्रवर्तते इति पक्षस्वीकारे 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इति भाष्यस्य वाच्यार्थविरोधः स्यात्। तत्र हि भाष्ये⁷ बहुकुमारीक: इत्यादौ कपि 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इति ह्रस्वस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः इत्युक्तम्। बह्व्यः कुमार्यः यस्य इति विग्रहे बह्वी जस् कुमारी जस् इत्यवस्थायां 'सुपो धातुप्रातिपदिकयो: (2.4.71) इति सुब्लुिक,

^{1.} अष्टाध्यायी- 8-1-1

^{2.} म.भा भाग: 6 पु.सं 5

^{3.} अष्टाध्यायी- 4-1-6

^{4.} अष्टाध्यायी- 5-4-153

^{5.} अष्टाध्यायी- 1-2-48

^{6.} म.भा भाग: 2 पृ.सं 57

^{7.} म.भा भाग: 2 पृ.सं 57

^{8.} अष्टाध्यायी- 2-4-71

'नद्युतश्च' इति कपि बहुकुमारीक: इति रूपम्। बहुकुमारी इत्यवस्थायां 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इति हृस्वः प्राप्तः, 'नद्युतश्च' इति कबिप प्राप्तः। तत्र अन्तरङ्गत्वात् ह्रस्वः प्राप्नोतीत्यतः 'कब्विषये प्रतिषेधो वक्तव्यः' इति शङ्कित्वा. कब्बिषये 'न कपि इति निषेधः वर्तत एव' इति समाहितम्। ततः एवमुक्तम्-'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा' इति न्यायेन 'केऽण:' इत्यनेन या ह्रस्वप्राप्ति:, तस्य 'न कपि' इत्यनेन निषेध: न तु 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इत्यनेन प्राप्तहस्वस्य। यदि सर्वत्रापि हस्वस्य 'न कपि' इत्यनेन निषेध: स्यात् तर्हि प्रियं ग्रामणि ब्राह्मणकुलमस्य प्रियग्रामणिक: इत्यत्र विधीयमान: 'ह्रस्वो नप्ंसके प्रातिपदिकस्य¹ (1.2.47) इति ह्रस्वोऽपि निषिध्येत इति। तस्मात् कब्विषये प्रतिषेधो वक्तव्यः इति पुनराशङ्क्य 'कपि कृते अनन्त्यत्वात् ह्रस्वत्वं न भविष्यति' इति समाहितम्। बहुकुमारी इत्यवस्थायां कप्प्रत्यय:, हृस्वं च प्राप्तम्। तत्र समासविशेषं नद्युत्तरपदञ्च अपेक्षते इति कप् बहिरङ्गः। उपसर्जनस्त्रीप्रत्ययान्तप्रातिपदिकमात्रमपेक्षते इति ह्रस्वः अन्तरङ्गः। परं तदपेक्षया अन्तरङ्गतरः कप्प्रत्ययः। ननु समासान्तकप्प्रत्ययस्य बहिरङ्गत्वात् कथमन्तरङ्गतरत्विमिति चेत् 'तादर्थ्यात् ताच्छब्द्यम् भविष्यति' इति वचनेन भाष्ये समाधानं प्रदर्शितम्। एवञ्च अनेन वचनेन समासान्तः कप्प्रत्ययः हृ०स्वापेक्षया अन्तरङ्गः भवति इत्यतः समासार्थो भृत्वा अलौकिकविग्रहवाक्ये एव उत्तरपदस्य अनन्तरमवयवो भृत्वा प्रवर्तते। तदा कपि कृते अनन्त्यत्वात् ह्रस्वत्वं न भविष्यति इति भाष्याशय:। यद्यत्र विभक्ते: पूर्वं कप: प्रवृत्ति: स्यात् तर्हि एतद्भाष्यविरोध: स्यात।

किं च विभक्तेः पूर्वं कपः प्रवृत्तिस्वीकारे बहुचिर्मिका इत्यत्र बहु जस् चर्मन् क जस् इति अलौकिकविग्रहः स्यात्। ततः अस्य समाससंज्ञायां, सुब्लुिक, 'न लोपः प्रातिपिदकान्तस्य' इति नलोपे, टापि बहुचर्मक आ इत्यवस्थायाम् आपः सुपः परत्वात् 'प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः' इति मकाराकारस्य इत्वं न स्यात्। विभक्तेः परं कपः प्रवृत्तिस्वीकारे तु बहु जस् चर्मन् जस् क इत्यवस्थायां तिद्धतान्तत्वात् प्रातिपिदकसंज्ञायां सुब्लुिक, नलोपे बहुचर्मक इत्यवस्थायां टापि आपः सुपः परत्वाभावात् 'प्रत्ययस्थात् कात्' इति नित्यमित्वे बहुचिर्मका इति सिध्यति इति न दोषः। एवञ्च समासान्तकप्रत्ययः समासात्पूर्वम् अलौकिकप्रिक्रयादशायां विभक्तेः परस्तात्प्रवर्तते इति स्वीकारात् बहु जस् गोमत् जस् इत्यवस्थायां सुब्लुिक, किप, टापि बहुगोमत्का इति सिध्यति। तस्मात् 'तादर्थ्यात् ताच्छब्द्यम्' इति भाष्यवचनात् समासान्तविषयं विहाय अन्तरङ्गादिप तिद्धतात्प्राङ्ङ्यापोः प्रवृत्त्यर्थं सूत्रे ङ्याब्यहणम्। एवञ्च आब्यहणस्य प्रयोजनवत्वात् स्पष्टार्थमिति हरदत्तोक्तिः न सङ्गच्छते इति दीक्षिताशयः।

^{1.} अष्टाध्यायी- 1-2-47

वस्तुत: विचार्यमाणे सूत्रे ङचापोर्ग्रहणस्य नास्त्यावश्यकता। 'कृत्सिते' इति स्त्रभाष्यात् 'सुबन्तात् तद्धितोत्पत्तिः' इति सिद्धान्तः। तथाहि- 'कुत्सिते' इति सूत्रे भाष्ये² स्वार्थद्रव्यलिङ्ग संख्याकारकप्रयुक्तकार्याणि क्रमेणोत्पद्यन्ते इति बोधितम्। 'नागृहीतविशेषणा बुद्धि: विशेष्य उपजायते' इति न्यायात् विशेषणज्ञानं विना विशेष्यस्य स्वरूपावगतिर्न भवति। अतः सर्वादौ व्यक्तौ विशेषणरूपेण स्थितस्य जातेः उपस्थितिर्भवति। ततः विशेष्यरूपेण वर्तमानस्य जात्याश्रयस्य द्रव्यस्योपस्थितिः। द्रव्यस्य च लिङ्गसंख्याभ्यामन्वयो भवति। तत्र संख्याया: स्वसजातीयस्य अन्यस्य अपेक्षा भवतीत्यत: सा बहिरङ्गा। लिङ्गस्य तावत् तदपेक्षया अन्तरङ्गत्वम्। अत: संख्यापेक्षया लिङ्गस्य अन्तरङ्गत्वात् लिङ्गस्योपस्थिति:। तत्पश्चात् संख्याकारकयो: कारकं विजातीयक्रियामपेक्ष्य प्रवर्तते इति तस्य बहिरङ्गत्वात् तदपेक्षया संख्यायाः अन्तरङ्गत्वात् तस्याः अभिधानं भवति। ततः सर्वान्ते बहिरङ्गस्य कारकस्योपस्थितिः। एवञ्च पूर्वोक्तक्रमेण यथा शब्दस्य भानं तथा तत्प्रयुक्तकार्याण्यपि तेनैव क्रमेण भविष्यन्ति। एवं क्रमेण स्वार्थादिप्रयुक्तकार्यै: परिपूर्णस्य पदस्य बहिर्भूतकुत्सनाद्यर्थेन साकं योगः भवति इत्युक्तम्। अतः प्रथमं ङ्यापः प्रवृत्तिः, तत्पश्चात् कबादितद्भित-प्रयुक्तकार्याणि प्रवर्तन्ते। एवञ्चानेन भाष्येण 'सुबन्तात् तद्धितोत्पत्तिः' इति सिद्धान्तितं भवति।

सुबन्तात् तद्धितोत्पित्तिरित्यत्र 'घकालतनेषु कालनाम्नः' इति सूत्रमिप मानम्। तथाहि- 'अतिशायने तमिबष्ठनौ' इत्यनेन तमप्प्रत्ययः, 'द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ' इत्यनेन तरप्प्रत्ययश्च विधीयते। तत्र 'घकालतनेषु कालनाम्नः' इति सूत्रं तरप्तमप्प्रत्यययोः परयोः कालवाचकात् परस्याः सप्तम्याः विकल्पेन अलुग्विधानार्थमारब्धम्। पूर्वाहणेतरे इत्याद्युदाहरणम्। प्रकृते पूर्वाह्ले इति सप्तम्यन्तात् तरप्प्रत्यये तद्धितान्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां सत्यां प्रातिपदिकावयवस्य सुपः लुकि प्राप्ते सप्तम्याः अलुगनेन विधीयते। अत्र तरप्तमपोः तद्धितप्रत्ययत्वात् तयोः परयोः सप्तम्याः अलुग्विधानाज्ज्ञापकात् विभक्तचुत्पत्त्यनन्तरमेव तद्धिताः उत्पद्यन्ते। यदि प्रातिपदिकादेव तरबुत्पद्येत तर्हि सुपः प्रातिपदिकावयवत्वं न सम्भवतीति कृत्वा लुकः प्राप्तिरेव न इति तरप्प्रत्यये परे सप्तम्याः अलुग्विधानमनुपपन्नं स्यात्। एवञ्च सुबन्तात्तद्धितोत्पत्तिरिति सिद्धान्तात् लोहिनिका इत्यादौ लिङ्गबोधकप्रत्ययस्य प्रथममुपस्थित्या लोहितशब्दात् आदौ ङीपि, तकारस्य नकारे, ततः तद्धितकन्प्रत्यय-

^{1.} अष्टाध्यायी- 5-3-74

^{2.} म.भा भाग: 4 पृ.सं 397

^{3.} अष्टाध्यायी- 6-3-17

^{4.} अष्टाध्यायी- 5-3-55

^{5.} अष्टाध्यायी- 5-3-57

स्योत्पत्तौ, इत्वे च लोहिनिका इति सिध्यित। नत्वसंनियोगस्य ङीपः वैकिल्पकत्वेन ङीपः अभावपक्षे टापि, लोहितिका इति च सिध्यित। तस्मात् 'लोहितािल्लङ्गबाधनं वा' इति वार्तिकस्यानारम्भः उचितः। एवमार्यशब्दादिप पूर्वं टापि, ततः किन, हस्वे, पुनष्टापि, विकल्पेन इत्वे आर्यिका, आर्यका इति सिध्यत्येव। अतः सुबन्तात्तिद्धतोत्पत्ति-रित्यनेन सिद्धे ङ्याबन्तात्तिद्धतोत्पत्त्यर्थं ङ्याब्ग्रहणं सूत्रे व्यर्थम्। परं सुबन्तात्तिद्धतोत्पत्तिरिति स्वीकारेऽपि 'तादर्थ्यात् ताच्छब्द्यम्' इति वचनात् समासान्तविषये नियमोऽयं न प्रवर्तते। अतः बहुगोमत्का इत्यत्र न दोषः। इत्थं च सुबन्तात्तिद्धतोत्पत्तिरिति लब्धार्थस्य अनुवाद एव ङ्याब्ग्रहणम् इति मनोरमादौ दीक्षितैः अभिप्रेतम्।

नागेशमतानुशीलनम्-

ङचाबन्तात्तद्धितोत्पत्तिर्यथा स्यात् इत्येतदर्थं सूत्रे ङचाब्ग्रहणिमति वदद्भिः दीक्षितै: वस्तुतस्तु इत्यारभ्य समासान्तविषयं विहाय 'सुबन्तादेव तद्धितोत्पत्तिः' इति सिद्धान्तमाश्रित्य सूत्रे ङचाब्राहणस्य वैयर्थ्यं प्रदर्शितम्। परम् 'अत्यन्तस्वार्थिकप्रत्ययानां त् सुब्त्पत्तेः पूर्वमेवोत्पत्तिः' इति नागेशः। अत्र हि 'सर्वस्य द्वे' 'पुंयोगादाख्यायाम्' इति सुत्रस्थभाष्यं मानम्। 'सर्वस्य द्वे' इत्यत्र भाष्ये सर्वग्रहणस्य प्रयोजननिरूपणसन्दर्भे ''सर्वस्य इत्यस्य स्थाने 'पदस्य' इति वक्तव्यं, समासनिवृत्त्यर्थं, तद्धितनिवृत्त्यर्थं, वाक्यनिवृत्त्यर्थं च। तद्धितनिवृत्त्यर्थं द्विपदिका, त्रिपदिका" इत्युक्तम्। अयमाशय:-द्वौ द्वौ पादौ ददाति इति विग्रहे द्वि औ पाद औ इत्यवस्थायां 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इति समासे, सुब्लुिक, द्विपाद इत्यवस्थायां 'पादशतस्य संख्यादेवीप्सायां वुन्लोपश्च¹⁴ इति सूत्रेण वुन्प्रत्यये, प्रकृतेरन्त्यस्य लोपे, द्विपाद् वु इति स्थिते 'युवोरनाकौ' इति अकादेशे, 'पाद: पत्" इति पदादेशे, टापि, 'प्रत्ययस्थात्कात्' इत्यादिना इत्वे च द्विपदिका इति रूपम्। तत्र द्विपाद इत्यवस्थायां वुन्प्रत्ययः, सुप्प्रत्ययश्च प्राप्तौ। वुन्प्रत्ययस्य अत्यन्तस्वार्थिकत्वात् सः सुबुत्पत्तेः पूर्वं प्रवर्तते। तदा पूर्वस्य द्विपाद इत्यस्य सुबन्तत्वाभावेन पदत्वाभावात् 'पदस्य द्वे' इति द्विर्वचनं न भवति। 'सर्वस्य द्वे' इत्युक्तौ तु द्विपाद इति दशायां सर्वस्य शब्दस्य द्विपाद इत्यस्य द्विर्वचनं स्यात्। तस्मात् सुत्रे पदस्य इति वक्तव्यम् इति तस्य प्रयोजनं प्रदर्शितम्। यदि अत्यन्तस्वार्थिकस्य वृन्प्रत्ययस्य 'सुबन्तात्तद्धितोत्पत्तिः' इति वचनात्

^{1.} अष्टाध्यायी- 4-1-48

^{2.} म.भा भाग: 6 पु.सं. 5

^{3.} अष्टाध्यायी- 2-1-51

^{4.} अष्टाध्यायी- 5-4-1

^{5.} अष्टाध्यायी- 7-1-1

^{6.} अष्टाध्यायी- 6-4-130

सुबन्तादेवोत्पत्तिः स्यात् तर्हि, द्विपाद इत्यस्य पदत्वात् 'पदस्य द्वे' इति द्विर्वचनं दुर्वारमेव। तथा सित भाष्ये 'पदस्य द्वे' इत्यस्य प्रयोजनप्रदर्शनमसङ्गतं स्यात्। अत्र कैयटोऽपि एवमाह¹ - द्विपिदका इत्यत्र द्वित्वसंख्यायुक्तः पादपदार्थः वीप्सितः। वीप्सायां द्विपादशब्दगतैकत्वसंख्या, स्त्रीत्वञ्च नान्तर्भवति। अतः तद्धितोत्पत्तेः पूर्वं समासे, ततः तद्धितप्रत्यये द्विपाद इत्यस्य पदत्वं नास्तीति कृत्वा द्विर्वचनं न भवति। यद्यत्र वीप्सायामिप द्विपादशब्दगतैकत्वसंख्यायाः, स्त्रीत्वस्य च अन्तर्भावः तर्हि लिङ्गबोधक - प्रत्ययानन्तरं सुबुत्पत्तौ, ततः वुनि, द्विपाद इत्यस्य पदत्वात् द्विर्वचनं स्यात्। आभ्यां भाष्यकैयटग्रन्थाभ्याम् अत्यन्तस्वार्थिकप्रत्ययानां सुबुत्पत्तेः पूर्वमेवोत्पत्तिरिति विज्ञायते।

अपि च 'पुंयोगादाख्यायाम्' इत्यत्र भाष्ये 'गतिकारकोपपदानां कृद्धिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः' इति परिभाषायाः साङ्कृटिनम् इति प्रयोजनमुपपादितम्। गतिकारकोपपदसंज्ञकानां शब्दानां कृदन्तेन सह सुबुत्पत्तेः प्राक् समासः भवति इति परिभाषाया: अर्थ:। सम्पूर्वककृटधातो: 'अभिविधौ भाव इनुण्' इति इनुण्प्रत्यये, अनया परिभाषया सुबुत्पत्ते: पूर्वं समासे, सङ्कृटिन् इति स्थिते, 'अणिनुण: 4 इति अण्प्रत्यये, आदिवृद्धौ साङ्कृटिनिमिति सिध्यति। परिभाषाया: अस्या: अभावे इनुण्प्रत्यये सित सुबुत्पत्त्यनन्तरमेव समासो वक्तव्य:। परं यदा सुब्बिभक्तिरुत्पद्यते, तदा तत्र 'अणिनुणः' इति अण्प्रत्ययोऽपि प्राप्नोति। अण्प्रत्ययस्य अत्यन्तस्वार्थिकत्वेन अन्तरङ्गत्वात् सुबुत्पत्तेः पूर्वं प्रवृत्तिः स्यात्। ततश्च 'तद्धितेष्वचामादेः' इति विधीयमाना आदिवृद्धिः कृटिन्शब्दस्यैव स्यादिति सङ्कौटिनमिति अनिष्टमापद्येत। तद्वारणार्थमिह गतिकारकोपपदानामिति परिभाषाऽश्रयणीया इति भाष्याशय:। यदि अत्यन्तस्वार्थिकानामपि सुबन्तादेवोत्पत्तिरिति मन्यते तर्हि, सङ्कूटिन् इत्यवस्थायाम् अण्प्रत्ययस्य सुबन्तादुत्पत्तिः स्यात्। यदा सुब्विभक्ते: उत्पत्ति: तदा तत्र समास:, अण्प्रत्ययश्च प्राप्तौ। तत्र प्रातिपदिकत्व-समर्थत्व-इनुणन्तत्वसापेक्षात् अण्प्रत्ययः बहिरङ्गः। समर्थत्व-गतित्वरूप-सापेक्षात् समासः अन्तरङ्गः। अतः अन्तरङ्गत्वात् पूर्वं समासे, सुब्लुिक, सङ्कृटिन् इत्यवस्थायामण्प्रत्यये, आदिवृद्धौ साङ्कृटिनिमिति इष्टिसिद्धौ, अस्य गतिकारकोपपदाना-मिति परिभाषाफलत्वेन ग्रहणमसङ्गतं स्यात्। एवञ्च सुबन्तात्तिद्धतोत्पत्ति: इत्यत्र यदि तद्धितप्रत्ययः अत्यन्तस्वार्थिकः तर्हि सुबृत्पत्तेः पुवमेव प्रवर्तते। एवं तर्हि लोहितशब्दात् आर्यशब्दाच्च किन लोहितिका, आर्यिका इत्येकमेव रूपं स्यात् इति

^{1.} म.भा. भाग: 6 प्र.व्या पृ.सं. 5

^{2.} म.भा. भाग: 4. पु.सं. 68,69

^{3.} अष्टाध्यायी- 3-3-44

^{4.} अष्टाध्यायी- 5-4-15

चेत् लोहिनिका इति 'लोहिताल्लिङ्गबाधनं वा' इति वार्तिकेनैव इष्टिसिद्धिः। एवमार्यिका इत्येव इष्टं रूपम्।

'ङचाप्प्रातिपदिकात्' इति सूत्रे भाष्येऽपि¹ "ङचाब्र्यहणे कृते 'तत्र समासान्तेषु दोषो भवित, बहवो गोमन्तो अस्याः इति बहुव्रीहौ ङोपि, कबुत्पत्तौ बहुगोमतीका इति स्यात् न तु बहुगोमत्का'' इति दोषः उक्तः। तत्पश्चात् "यत्प्रातिपदिकं स्त्रियां वर्तते तस्मात् स्वार्थे टाबादयो भवित्ति। समासान्ताः अपि स्वार्थिकाः। उभयोः स्वार्थिकयोः परत्वात् समासान्ताः भविष्यन्ति" इति दोषः परिहृतः। तत्पश्चात् हिरतशब्दात् किन हिरिणका इति न स्यादिति प्रश्ने हिरिणशब्दात् प्रकृत्यन्तरात् किन टापि सिद्ध्यित इत्युक्तम्। ततः लोहितशब्दात् किन, कथं लोहिनिका इत्याशङ्क्य 'लोहिताल्लङ्गबाधनं वा' इति समाहितम्। एवञ्च लोहिनिका इत्यस्य सिद्ध्यर्थं वार्तिकमाश्रयणीयम्, आर्यका इत्यस्य तु अनिभधानिमति लभ्यते। अत्यन्तस्वार्थिकानामिप यदि स्त्रीप्रत्ययान्तादेव उत्पत्तिस्तिर्हं लोहितिका, लोहिनिका इतीष्टसिद्धौ 'लोहिताल्लङ्गि बाधनं वा' इति वार्तिकस्य वैयर्थ्यं स्यात्। तस्मात् अत्यन्तस्वार्थिकानारभ्य स्त्रीप्रत्ययेषु ङचाब्र्यहणसम्बन्धाभावः इति नागेशोऽभिप्रैति।

उपसंहार:-

मतद्वयस्यापि परिशीलने अत्र भाष्यसम्मतः पक्षः नागेशेन उक्तः इति भाति। वार्तिकस्यापि तदा सार्थक्यमिति वार्तिककारानुग्रहोपि। दीक्षितैः प्रायः सूत्रकारमतं प्रतिपादियतुं कश्चन यत्नः कृतः। मनोरमादौ गभीररूपेण विचारं कृत्वा स्वतात्पर्यं न्यरूपि। पक्षेऽस्मिन् समासान्तानां व्याख्यानं न स्वरसतया क्रियते। तथा क्वचित् भाष्यविरोध इव भाति। वार्तिकं नापेक्षते इति लाघवं तु दृश्यते।

शोधपद्धति:-

विषयेऽस्मिन् दीक्षितानां ग्रन्थानां विशेषेण कौमुद्याः, प्रौढमनोरमायाः च अध्ययनं कृतम्। ततः नागेशटीकानां शेखरग्रन्थानुसारं विचारः अधिगतः। उभयोः पक्षयोः तुलना कृता। तेषां युक्तीनां समवलोकनेन च तत्र युक्तायुक्तविचारः कृतः। अतः आश्रिताः पद्धतयः प्राधान्येन ग्रान्थिकटीकावलोकनम्, प्रमाणानां तुलना, युक्तायुक्तविचारेण च बलाबलनिर्णयः इत्येवंरूपाः सन्ति।

परिणाम: चर्चा च-

प्रबन्धे विशेषेण मूलग्रन्थानां समवलोकनेन परिणामाः प्राप्ताः। मतद्वयस्यापि परिशीलने अत्र भाष्यसम्मतः पक्षः नागेशेन उक्तः इति भाति। वार्तिकस्यापि तदा

^{1.} म.भा भाग: 4 पृ.सं 14

सार्थक्यमिति वार्तिककारानुग्रहोपि। दीक्षितैः प्रायः सूत्रकारमतं प्रतिपादयितुं कश्चन यत्नः कृतः। मनोरमादौ गभीररूपेण विचारं कृत्वा स्वतात्पर्यं न्यरूपि। पक्षेऽिस्मिन् समासान्तानां व्याख्यानं न स्वरसतया क्रियते। तथा क्वचित् भाष्यविरोध इव भाति। वार्तिकं नापेक्षते इति लाघवं तु दृश्यते। अत्र इतोऽिप व्याख्यानां परिशीलनेन विचारः कर्तु शक्यते। यतोऽिह महाभाष्यकाराणामाशयः न सुलभेन ज्ञातुं शक्यते। अतः व्याख्यानां, विद्वद्भिः सह समालोचनेन विषयः सम्यक् विचारितः स्यात्।

References-

- महामहोपाध्यायश्रीमद्भट्टोजीदीक्षिता:। वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी [प्रथमो भाग:] बालमनोरमा-तत्त्वबोधिनीसहिता, 8th edition, 2005. मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, 173-184.
- 2. महामहोपाध्यायश्रीमद्भट्टोजीदीक्षितिवरचिता **प्रौढमनोरमा** टीकाचतुष्टयोपेता, 1996. प्रकाशक:- जयकृष्णदास हरिदासगुप्त: चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी सिटी. 325-381
- 3. महर्षिपतञ्जिलना विरचितम् व्याकरणमहाभाष्यम्-4 प्रदीपोद्योतसिहतम्, 2011 (पुनर्मुद्रणम्) भार्गवशास्त्रिभि: संशोधितम्, चौखम्बा संस्कृतप्रतिष्ठानम् देहली. 1-16.
- 4. महामहोपाध्यायनागेशभट्ट विरचित:, लघुशब्देन्दुशेखर: (भावबोधिनी-बालबोधिनीसहित:), Rashtriya Sanskrit Vidyapeetha, Tirupati, 2005. आचार्यश्रीपादसत्यनारायणमूर्तिभि: सम्पादित:, 28- 39.



तेलुगुव्याकरणेन सह संस्कृतव्याकरणस्याभिसम्बन्धः

-डॉ. विदुषी बोल्ला*

ISSN: 0975-1769

शोधसारः- 'इदमन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्, यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते' इति दण्डिवचनात्, 'काणादं पाणिनीयञ्च सर्वशास्त्रोपकारकिमं त्यिभयुक्तोक्त्या संस्कृतव्याकरणस्य सर्वशास्त्रोपकारकत्वं निश्चप्रचमेव। एवञ्च संस्कृतव्याकरणं ज्ञानराशेर्भगवतो वेदस्य वै मुखं स्मृतम्। अतएव भारतीयाध्ययनपरम्परायां संस्कृतव्याकरणं प्राधान्येन वरीवर्त्ति। ईदृग्व्याकरणस्याभिसम्बन्धः आभारते सर्वाभिः भाषाभिः सह वर्त्तते इति नास्त्यतिशयोक्तिः। स एव सम्बन्धः अस्मिन् शोधपत्रे प्रकाशितो मया। तत्र संस्कृतव्याकरणस्य प्रभावः मुख्यतया दाक्षिणात्यतेलुगुभाषायाः व्याकरणस्य ग्रन्थरचनायाम्, सञ्ज्ञाविधाने, रूपनिष्पादनप्रक्रियायाम्, सूत्रसंरचनायाञ्च दरीदृश्यत इति प्रतिपादितम्।

प्रमुखशब्दाः-आन्ध्रशब्दचिन्तामणिः, ग्रन्थरचना, तेलुगुव्याकरणम्, व्याकरण-स्याभिसम्बन्धः, सञ्ज्ञाविधानम्, रूपनिष्पादनप्रक्रिया च।

आमुखम् - दैवीवाग्रूपेण राराजते संस्कृतभाषा। प्रायशः सर्वासां भारतीयभाषाणां जननीरूपेणाऽपि चकास्ति लोके। विश्वस्मिन् विश्वे सर्वाङ्गपूर्णेयं भाषा अन्याः भाषाः पोषयन्ती प्रथिताऽस्ति। परिष्कृतायाः अस्याः प्रकृष्टोपकारकं त्रिमुनेः व्याकरणशास्त्रं प्रकृतिप्रत्यय-तत्तदर्थविभाग-तत्तदर्थान्वयविभागबोधकत्वेन निखिलेऽस्मिन् लोके देदीप्यते।

तथैव उत्तरभारते हिन्दी-बाङ्ग्ला-पञ्जाबी-मराठीभाषाः, दक्षिणभारते च तिमल-तेलुगु-मलयालमप्रभृतयः बह्व्यः भाषाः लोकभाषात्वेन व्यविह्नयमाणाः वर्तन्ते। शोधपत्रेऽस्मिन् आन्ध्र-देशीयस्थतेलुगुभाषाव्याकरणेन सह संस्कृतव्याकरणस्याभिसम्बन्धः अनुसन्धीयते। एतदेव विषयमनुसृत्य निम्नलिखिताः अंशाः विमृश्यन्ते-

- 1. तेलुगुव्याकरणपरम्परा।
- 2. आन्ध्रशब्दचिन्तामणेः परिचयः।
- 3. बालव्याकरणस्य परिचय:।
- 4. ग्रन्थरचनायां संस्कृतव्याकरणस्याभिसम्बन्धः।

सहायिकाचार्या, श्रीसोमनाथसंस्कृतविश्वविद्यालय:, वेरावलम्, गुजरातम्।

- 5. सञ्ज्ञाविधाने संस्कृतव्याकरणस्याभिसम्बन्धः।
- 6. रूपनिष्पादनप्रक्रियायां संस्कृतव्याकरणस्याभिसम्बन्धः।
- 7. सूत्रेषु संस्कृतव्याकरणस्याभिसम्बन्धः।
- 1. तेलुगुव्याकरणपरम्परा- आन्ध्रव्याकरणं स्वरूपभेदात् पञ्चधा विभज्यते-प्रथमजातिग्रन्थाः, द्वितीयजातिग्रन्थाः, तृतीयजातिग्रन्थाः, चतुर्थजातिग्रन्थाः, पञ्चमजातिग्रन्थाश्च।
- क. प्रथमजातिग्रन्थाः -प्रथजातिग्रन्थेषु संस्कृतभाषायां गद्यात्मके सूत्रात्मके वा लिखिताः ग्रन्थाः, अपि चैतेषां विवरणात्मकग्रन्थाश्च आगच्छन्ति, यथा-श्रीनन्नयभृष्टस्य आन्ध्रशब्दचिन्तामणिः, श्रीचिन्नसीतारामस्वामिनः बालसरस्वतीयम्, अहोबलपण्डितस्य अहोबलपण्डितीयम्, किम्पूरि नरसराजस्य कविजनाञ्जनम्, श्रीचिन्नसीतारामस्वामिनः चिन्तामणिविषयपरिशोधनम्, नारायणशास्त्रिणः नन्नयाथर्वणकारिकावली, अथर्वणस्य विकृतिविवेकम्, लक्ष्मीनरिसंहाचार्यस्य आन्ध्रकौमुदी, कृष्णमूर्त्तिशास्त्रिणः हिरकारिका, चिन्नयसूरिणः सूत्रान्ध्रव्याकरणम् एवञ्च अप्पकवीयम्।
- ख. द्वितीयजातिग्रन्थाः² द्वितीयजातिग्रन्थेषु तेलुगुभाषायां छन्दोनिबद्धाः श्लोकात्मिकाः ग्रन्थिवशेषाः आगच्छन्ति, यथा गणपवरवृवेङ्काटकवेः आन्ध्रभाषाभूषणम्, विन्नकोटपेद्दनस्य काव्यालङ्कारचूडामणि, वेल्लङ्कितातम्भट्टोः कविलोक चिन्तामणि, मुद्दराजुरामनस्य कविजनसञ्जीवनी, कूचिमंचितिम्मकवेः सर्वलक्षण सारसङ्ग्रम्, गणपवरवृवेङ्काटकवेः आन्ध्रकौमुदी, कस्तूरिरंगकवेः आनन्दरङ्गराट् छन्दमुसुरकवेश्च कविसंलयविच्छेदम्।
- ग. तृतीयजातिग्रन्था: अत्र तेलुगुभाषायामेव सूत्रगद्यप्रणाल्यां विरचिता: ग्रन्थविशेषा: अन्तर्भवन्ति, यथा- चिन्नयसूरिण: बालव्याकरणमु, श्रीबहुजनपिल्लसीता- रामाचार्युलुवर्यस्य प्रौढव्याकरणमु, कल्लूरि वेङ्कटरामशास्त्रिणश्च 0बाल-व्याकरणगुप्तार्थप्रणालिका।
- घ. चतुर्थजातिग्रन्थाः अत्राङ्ग्लभाषायां ग्रथिताः ग्रन्थविशेषाः समागच्छन्ति।
- ङ. पञ्चमजातिग्रन्थाः अत्र कालेन विपरिणतिं प्राप्ताः द्राविडभाषाज्ञानमूलकाः ग्रन्थविशेषाः आगच्छन्ति।

^{1.} आन्ध्रभाषाविकासम्, पृष्ठसङ्ख्या- 155

^{2.} आन्ध्रभाषाविकासम्, पृष्ठसङ्ख्या- 167

^{3.} आन्ध्रभाषाविकासम्, पृष्ठसङ्ख्या- 172

^{4.} आन्ध्रभाषाविकासम्, पृष्ठसङ्ख्या- 174

^{5.} आन्ध्रभाषाविकासम्, पृष्ठसङ्ख्या- 174

18 संस्कृतविमर्शः

2. आन्ध्रशब्दचिन्तामणेः परिचयः- अस्मिन् शोधपत्त्रे उपिर निर्दिष्टेषु तेलुगुव्याकरणेषु संस्कृतभाषायां श्रीनन्नयभृट्ट विरचितम् 'आन्ध्रशब्दचिन्तामणिः' तेलुगुभाषायां श्रीचिन्नयसूरिवरचितं 'बालव्याकरणम्' इति आश्रित्य गवेषणा विहिता वर्तते। अतः एतयोः अपि सङ्क्षेपेण परिचयः प्रदीयते। तेलुगुव्याकरणस्य आद्यं ग्रन्थरत्नमस्ति। अस्य ग्रन्थकृतः सन्ति- श्रीनन्नयभृटाः। एते संस्कृतपण्डिताः आसन्। ग्रन्थोऽयं संस्कृतभाषायामुपलभ्यते। अत्र आर्यावृत्ते अष्टाशीतिसङ्ख्यकाः श्लोकाः सन्ति।

- 3. बालव्याकरणस्य परिचयः- श्रीचिन्नयसूरिणा विरचितं तेलुगुव्याकरणम्-बालव्याकरणम् इति नाम्ना प्रसिद्ध्यिति। व्याकरणमिदं तेलुगुभाषायां विरचितं सूत्रात्मकरूपेण प्राप्यते। श्रीचिन्नयसूरिणा सूत्रान्ध्रव्याकरणमिति संस्कृतभाषायामिप तेलुगुव्याकरणग्रन्थो विरचित:।
- **4. ग्रन्थरचनायां संस्कृतव्याकरणस्याभिसम्बन्धः** ग्रन्थरचनायां संस्कृत व्याकरणस्य प्रभाव: मुख्यतया एवं दृश्यते-
- आन्ध्रशब्दिचन्तामणि: इति तेलुगुव्याकरणग्रन्थ: सञ्ज्ञा-सिन्ध-अजन्त-हलन्त-क्रियापिरच्छेद-भेदेन विभक्तोऽस्ति। पाणिनीयशास्त्रपद्धत्यनुसारमत्रापि अहोबलपण्डितीयिमिति भाष्यमपि समुपलभ्यते। तत्रापि परिभाषा, सिन्धः, अजन्तशब्दाः, हलन्तशब्दाः, स्त्रीप्रत्ययाः, विभक्तचर्थः, समासाः, तद्धितप्रत्ययाः, तिङन्ताः, कृदन्तप्रत्ययाः इति विभागाः सिन्ति।
- बालव्याकरणिमिति तेलुगुव्याकरणग्रन्थः सञ्ज्ञा-सिन्ध-तत्सम-कारक-समास-तद्धित-क्रिया-कृदन्त-प्रकीर्णनामिभः प्रकरणैः परिच्छिद्यते। ग्रन्थोऽयं चिन्तामिणग्रन्थादिप बृहद्वर्त्तते।
- तेलुगुव्याकरणे बालव्याकरणे आदौ संस्कृतव्याकरणवत् वर्णपिरचयो प्रदत्तः।
- तेलुगुव्याकरणस्यापि आद्यग्रन्थः संस्कृते 'आन्ध्रशब्दचिन्तामणिः' इत्येवाऽस्ति।
- भाष्यपरम्पराऽपि दृश्यते अहोबलपण्डितेन विरचितं भाष्यं फिक्ककायुक्तञ्च मिलित।
- चिन्नयसूरिविरचिते बालव्याकरणे सिद्धान्तकौमुद्यनुसारं सूत्राणि, तदर्थः,
 तदुदाहरणानि च लिखितानि सन्ति।
- तेलुगुव्याकरणे प्राप्तहलन्तपिरच्छेदः सम्पूर्णतया संस्कृतमाश्रीयते। यतोहि तेलुगुभाषायां हलन्तशब्दाः न भवन्ति, किन्तु हलन्तपिरच्छेदे संस्कृतशब्दानामेव रूपप्रक्रिया प्रदर्शिता, यथा- वाक्, विणक् इति।

5. सञ्ज्ञाविधाने संस्कृतव्याकरणस्याभिसम्बन्धः- श्रीनन्नयविरचितं व्याकरण-शास्त्रं संस्कृते एवास्ति अत एव प्रायः संस्कृतव्याकरणसञ्ज्ञाः प्राप्यन्ते।

 सन्धिः
 समासः
 विभक्तिः
 क्रिया
 अच्

 हल्
 अव्ययम्
 प्रथमादिविभक्तयः
 अन्तस्थः
 ऊष्माणः

 भूतकालः
 भविष्यकालः
 वर्तमानकालः
 कर्ता
 कर्म

 करणम्
 समासनामानि

तेलुगुभाषाया: स्वभावमाश्रित्य काश्चन नूतनसञ्ज्ञा: अपि संस्कृतभाषायामेव दृश्यन्ते, यथा-

 वक्र:
 वक्रतमः
 सरलः
 परुषः
 स्थिरः

 कलः
 द्रुतप्रकृतिः
 औपविभक्तिः
 महत्
 अमहत्

 महती
 उपकृतिः
 परिणतिः
 संवृतिः
 तद्धर्मः

- **6. रूपनिष्पादनप्रक्रियायां संस्कृतव्याकरणस्याभिसम्बन्धः** तेलुगुव्याकरण-ग्रन्थेष्वपि रूपनिष्पादनप्रक्रियायां संस्कृतव्याकरणस्य प्रभावः दरीदृश्यते, यथा-
- तेलुगुशब्दिनष्पादनेऽपि संस्कृतव्याकरणवत् प्रकृतिप्रत्ययाः आगच्छिन्ति, यथा रामुडु इत्यस्य सिद्धिप्रक्रियायां राम इति प्रातिपदिकात् डुप्रत्ययो भवति। अत्र डुप्रत्ययः 'पुल्लिङ्गम्बगु महाद्वाचकम्बुनकु डुज्जगु'¹, 'महातस्सोर्डुज् अनितो भवेत्पुंसि'² इत्येतयोः सूत्रयोः भवति।
- ▶ द्वितीयतुल्यताऽस्ति संस्कृतव्याकरणशास्त्रे सिद्धिप्रक्रियायामण्टाध्याय्यां सर्वतः स्वस्विलङ्गमाश्रित्य लक्ष्यानुसारञ्च सूत्राणि प्रवर्तन्ते, तथैव तेलुगुव्याकरणेऽपि दरीदृश्यते। यथा रामुनिकि इत्यत्र राम इति प्रातिप०दिकात् 'पुल्लङ्गम्बिय महाद्वाचकम्बियन नामम्बु तुदियत्वम्बुन कृत्वम्बगु' इत्यनेन उत्वं भवति 'रामु' इति। अनन्तरं 'डुमन्तबनकु द्वितीयाद्येकवचनम्बु वरम्बगुनप्पुडु निगागमम्बु सर्वत्र विभाषनगु' इत्यनेन विकल्पेन निकिनि एवं नुकुनु इति च भवति 'रामुनिकिनि / रामुनुकुनु' इति। अनन्तरञ्च 'इकारम्बुमीदि कुनुवु क्रियाविभक्तुलु मीदि युत्वम्बुन कित्वम्बुगु' इत्यनेन 'रामुनिकि' इति रूपं सिद्ध्यित। अत्र उपस्थितानि एतानि सूत्राणि पृथक्देशतः सन्ति।

^{1.} बालव्याकरणे तत्समपरिच्छेदे पृष्ठसङ्ख्या 132

^{2.} आन्ध्रशब्दचिन्तामणौ

^{3.} बालव्याकरणे तत्समपरिच्छेदे पृष्ठसङ्ख्या 131

^{4.} बालव्याकरणे तत्समपरिच्छेदे पृष्ठसङ्ख्या 133

^{5.} बालव्याकरणे तत्समपरिच्छेदे पृष्ठसङ्ख्या 136

20 संस्कृतविमर्शः

7. सूत्रेषु संस्कृतव्याकरणस्याभिसम्बन्धः- सूत्रपरम्पराऽपि संस्कृतव्याकरणादेव अनुवर्त्तते। तेलुगुसूत्रेष्वपि सूत्रलक्षणमनुसृतम्- अल्पाक्षरत्वम्, असन्दिग्धत्वम्, सारवत्त्वम्, व्यापकार्थप्रकाशकत्वम्, अर्थविहीनशब्दराहित्यम्, विशुद्धसंरचन- त्वञ्च। एवं सूत्रसंरचनायां कुत्र कुत्र साम्यं दृश्यते, तिद्ववृणुते-

- श्रीनन्नयव्याकरणे महाभाष्यस्यानुसरणमि दृश्यते, यथा- 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे'
 इत्यस्यार्थं प्रतिपादयिल्लिखितं सूत्रमिस्ति- सिद्धिः लोकादुदृश्या इति।
- अस्त्यप्रयुक्ताः सन्ति शब्दाः..... इति मनिस निधाय विरचितं सूत्रमिस्ति-संस्कारार्थो नियमः इति।
- तथैव श्रीनन्नयभट्ट विरचितसूत्रेषु संस्कृतसूत्राणां प्रभाव: तालिकाद्वारा प्रदर्श्यते-

संस्कृतसूत्राणि कर्मप्रवचीनयुक्ते द्वितीया सह युक्तेऽप्रधाने विभाषा गुणेऽस्त्रियाम् अन्यारादितरर्तेदिच्छब्दाञ्चूत्तर यतश्च निर्धारणम् षष्ठी शेषे

श्रीनन्नयभट्ट विरचितसूत्राणि कर्मप्रवचनीयके कूर्चि: तोऽसहार्थे टास: पट्टिति तु पञ्चमी गुणे हेतौ कण्टेऽन्यारादादे: लोपल निर्धारणोद्भवा षष्ठी यौक्क च शेषे षष्ठी विषयनिमित्तादिजातदैवाऽन्या

 एवमेव श्रीनन्नयभट्टविरचितसूत्रान् आधरीकृत्य श्रीचिन्नयसूरिणा तेलुगुसूत्राणि निर्मितानि, यथा-

श्रीनन्नयभट्ट कृतसंस्कृतसूत्राणि

द्रुताभ्यो नः

क्वार्थेतो न भवेत्सदा

निमित्तात्कर्मयोगे⁷

श्रीचिन्नयसूरिकृततेलुगुसूत्राणि

नकारम्बु द्रुतम्बु⁸ क्वार्थम्बैन यत्तुनकु सन्धिलेदु⁹

- 1. 2-3-8 पाणिनीयाष्टाध्याय्यां पृ.स.-11
- 2. 2-3-19 पाणिनीयाष्टाध्याय्यां पृ.स.-12
- 3. 2-3-25 पाणिनीयाष्टाध्याय्यां पृ.स.-12
- 4. 2-3-29 पाणिनीयाष्टाध्याय्यां पृ.स.-12
- 5. 2-3-41 पाणिनीयाष्टाध्याय्यां पु.स.-12
- 6. 2-3-50 पाणिनीयाष्टाध्याय्यां पृ.स.-12
- 7. वार्त्तिकम्
- 8. बालव्याकरणे सञ्ज्ञापरिच्छेदे पृष्ठसङ्ख्या 16
- 9. बालव्याकरणे सन्धिपरिच्छेदे पृष्ठसङ्ख्या 56

न विकृतिशब्दात्परतस्संस्कृतिकानां भवन्ति गसडदवाः द्रुतस्य सर्वत्र लुक्समानेषु परुषाणां गसडदवास्स्युः पदाद्वन्द्वे

तेनुगुलमीदि सांस्कृतिक परुषम्बुलकु गसडदवलु रावु¹ समासम्बुन द्रुतम्बुनकु लोपम्बगु² द्वन्द्वम्बुनं बदम्बुपयि परुषमूलकु-गसडदव लगु³

नलडादैरन्तरुतश्च

अच्चिकम्बुल बदमध्यम्बुलु नलडरल-युत्वम्बुनकु लोपम्बु बहुलम्बुगा नगु⁴ लाति यच्चुनकुसहित मौकानोकचो नुडि नडुमलोपम्बुगानम्बडियौडि⁵

अन्येषाञ्च प्रयोगमहितानाम्

स्त्रीतिर्यग्जड भिन्नम्बुलुनु वानि-

स्त्रीपलुजडान्विनान्ये महादाख्यास्त-द्विशेषणानीहा

विशेषणम्बुलुनु महात्तुलनम्बडुनु⁶

 कुत्रचित् श्रीचित्रयसूरिकृततेलुगुसूत्रेषु संस्कृतव्याकरणस्याभिसम्बन्धोऽपि साक्षात् दृश्यते, यथा-

संस्कृतव्याकरणम्

श्रीचित्रयसूरिकृततेलुगुसूत्राणि प्रातिपदिकसम्बोधनोक्तार्थम्बुलं प्रथमयगु⁸

प्रातिपदिकार्थिलङ्गपरिमाणवचन-मात्रे प्रथमा⁷

क्रियासिद्धिं प्रकृष्टोपकारकम्बु करणम्बु

क्रियासिद्ध्ये प्रकृष्टोपकारकं करणसञ्ज्ञं स्यात् (कौ.)

> गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्म-कम्बुलक प्रेरणम्बुनं कर्त्तयगुनदि प्रेरणम्बुनं कर्मम्बगु¹⁰

गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्म.⁹

^{1.} बालव्याकरणे सन्धिपरिच्छेदे पृष्ठसङ्ख्या 65

^{2.} बालव्याकरणे सन्धिपरिच्छेदे पृष्ठसङ्ख्या 81

^{3.} बालव्याकरणे सन्धिपरिच्छेदे पृष्ठसङ्ख्या 66

^{4.} बालव्याकरणे प्रकीर्णपरिच्छेदे पृष्ठसङ्ख्या 518

^{5.} बालव्याकरणे प्रकीर्णपरिच्छेदे पृष्ठसङ्ख्या 518

^{6.} बालव्याकरणे तत्समपरिच्छेदे पृष्ठसङ्ख्या 130

^{7. 2-3-46} पाणिनीयाष्टाध्याय्यां पृ.स.-12

^{8.} बालव्याकरणे कारकपरिच्छेदे पृष्ठसङ्ख्या 264

^{9. 1-4-52} पाणिनीयाष्टाध्याय्यां पृ.स.-7

^{10.} बालव्याकरणे क्रियापरिच्छेदे पृष्ठसङ्ख्या ४८९

22 संस्कृतविमर्शः

धातो:¹ धातवुनकु²

वर्तमाने लट् 3 वर्तमानम्बुन लट्टगु 4 परोक्षे लिट् 5 भूतम्बुन लिट्टगु 6

कुत्रचित् पाणिनीयसूत्राणामनपायोजनादिकं कृत्वा श्रीचित्रयसूरिणा तेलुगुसूत्राणि लिखितानि, यथा- अपाय भय जुगुप्सा पराजय प्रमाद ग्रहण भवन त्राण विरामन्तिर्धि वारणम्बु लेद्दाननगु दानिकि वलन वर्णकम्बगु⁷

ध्रुवमपायेऽपादानम्⁸ अपायशब्द:

भीत्रार्थानां भयहेतुः भय-त्राणशब्दौ

पराजेरसोढः¹⁰ पराजयशब्दः

वारणार्थानामीप्सितः वारणशब्दः

अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति¹² अन्तर्धिशब्द:

भुव: प्रभव:¹³ भवनशब्द:

जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसङ्ख्यानम् जुगुप्सा-विराम-प्रमादशब्दाः

तेलुगुव्याकरणेऽपि संस्कृतव्याकरणस्य बाध्यबाधकविचारः अनुसृतः।

संस्कृतव्याकरणस्य पारिभाषिकशब्दाः तेलुगुव्याकरणेऽपि दृश्यन्ते, यथा-प्रथमेतरिवभक्तिविधि निरवकाशम्बुगावुन दीनिनि बाधिञ्चेदिति अत्रस्थिनिरव-काशपदं पारिभाषिकमस्ति।

^{1. 3-1-91} पाणिनीयाष्टाध्याय्यां पृ.स.-17

^{2.} बालव्याकरणे क्रियापरिच्छेदे पृष्ठसङ्ख्या 377

^{3. 3-2-123} पाणिनीयाष्टाध्याय्यां पृ.स.-21

^{4.} बालव्याकरणे क्रियापरिच्छेदे पृष्ठसङ्ख्या 377

^{5. 3-2-115} पाणिनीयाष्टाध्याय्यां पृ.स.-21

^{6.} बालव्याकरणे क्रियापरिच्छेदे पृष्ठसङ्ख्या ३७८

^{7.} बालव्याकरणे कारकपरिच्छेदे पृष्ठसङ्ख्या 274

^{8. 1-4-24} पाणिनीयाष्टाध्याय्यां पृ.स.-७

^{9. 1-4-25} पाणिनीयाष्टाध्याय्यां पृ.स.-७

^{10. 1-4-26} पाणिनीयाष्टाध्याय्यां पृ.स.-7

^{11. 1-4-27} पाणिनीयाष्टाध्याय्यां पृ.स.-७

^{12. 1-4-28} पाणिनीयाष्टाध्याय्यां पृ.स.-७

^{13. 1-4-31} पाणिनीयाष्टाध्याय्यां पृ.स.-७

कृताकृतप्रसङ्गि नित्यम् कृताकृतप्रसङ्गि नित्यम्बुनबडु पूर्वापरनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरो परसूत्रमु वच्चुनुगानि पूर्वसूत्रमु रादनि व्याकरणसम्प्रदायमु

सन्दर्भ-सहायकग्रन्थसूची

- 1. आकुरायि- तेलुगु व्याकरण व्यास सम्पुटि, यूलगूरि वेङ्कटरेड्डि, पार्थसारथि आफसेट प्रिण्टर्स, नल्लगोण्ड, प्रथमसंस्करणम्, 1999
- 2. आधुनिक भाषा विज्ञान एवं हिन्दी भाषा संवर्धन, डॉ. पीताम्बर, नीलम प्रकाशन, आगरा, प्रथमसंस्करणम्, 1990
- 3. आधुनिक भाषाशास्त्र सिद्धान्तालु, डॉ. पी. एस. सुब्रह्मण्यम्, पद्मश्री ग्राफिक्स, गान्धीनगर, हैदराबाद, प्रथमसंस्करणम्, 1997
- 4. आन्ध्रशब्दचिन्तामणि, नन्नयभट्ट:।
- 5. आन्ध्रभाषाविकासम्, प्रो. गण्टि बोगिसोमयाजि, त्रिवेणी पब्लिशर्स, मचलिप्ट्टणम्, द्वितीयसंस्करणम्, 1968
- 6. आन्ध्र व्याकरणसंहिता सर्वस्वम्, चिन्नसीताराम स्वामी शास्त्री, वाविल्ल, रामस्वामिशास्त्रुलु अण्ड सन्स, 1951
- 7. आन्ध्र व्याकरण सर्वस्वमु, श्रीशेषाद्रि रमणकवुलु, रामा एण्ड को., एलुरु, द्वितीयसंस्करणम्, 1942
- 8. आन्ध्रव्याकरणसर्वस्वतत्त्वम्, की. शे. श्रीवेङ्कटराय शास्त्री, वैदम्- वेङ्कटरायशास्त्री अण्ड ब्रदर्स, मद्रास, प्रथमसंस्करणम्, 1950
- 9. पाणिनीय: अष्टाध्यायीसूत्रपाठ:, सम्पादक:- श्री प. ब्रह्मदत्तिज्ञासु, राधाप्रेस, देहली, सप्तदशं संस्करणम्, 2005
- 10. प्रौढव्याकरण घण्टापथम्, बहुजन सीतारामाचार्युलु, व्याख्याता वन्तरां रामकृष्णरावु, विशालान्ध्र पब्लिकेशन हाऊस, हैदराबाद, 1980
- 11. बाल प्रौढ व्याकरणमुलु विश्लेषणात्मक अध्ययनमु, प्रो. हरिशिवकुमार, श्रीकृष्ण प्रचुरणुलु, वरंगल, प्रथमसंस्करणम्, 1994
- 12. बाल व्याकरणम्, चिन्नयसूरि:, वि. वेङ्कटेश्वरशास्त्रुलु, वेविल्ला प्रेस, मद्रास, प्रथमसंस्करणम्, 1937
- 13. बालप्रौढव्याकरणसर्वस्वमु, श्रीभास्कररावु, श्रीलक्ष्मी प्रेस, गुण्टूरु, प्रथम-संस्करणम्, 1970

14. बालव्याकरणसूक्तुलु, प्रथमभागः, डॉ. अम्बिडपूडि नागभूषणमु, गौतिम प्रिण्टर्स, गुण्ट्रुरु, प्रथमसंस्करणम्, 1988

- 15. भाषातत्त्वदीपिका, श्रीहरिगोपालोपाध्याय, नवलिकशोर प्रेस, लखनऊ, 1881
- 16. भाषालोचन, पण्डितप्रवर आचार्य श्रीसीताराम चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस, 1954
- 17. वर्णनात्मकव्याकरणम्, डॉ. एच्.एस्स्. बिलिगिरि, अभिव्यक्ति पब्लिकेशन्स, बेंगलोर, प्रथमसंस्करणम्, 1975
- 18. संस्कृत व्याकरण की उपक्रमणिका, श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस. बनारस. 1931
- 19. संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, आचार्य बलदेव उपाध्याय, नया संसार प्रेस, वाराणसी, प्रथमसंस्करणम्, 1969
- 20. संस्कृतव्याकरण संग्रहम्, साहिति सदन, तिरुपति, 1976
- 21. An Introduction to Telugu Grammar, V. Vemuri, Article.
- 22. History of Telugu Language, Vol. 1, G. Narayana Rao, Ananda Press, Madras, 1st Edition, 1987.

आहारविवेके स्वास्थ्यसिद्धिः आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः

-डॉ. नवीन भट्ट*

ISSN: 0975-1769

शोधसार:-

पुरुषार्थसिद्ध्यर्थं स्वास्थ्यम् अत्यन्तमपेक्षितम्। विना स्वास्थ्यं धर्मादिपुरुषार्थसिद्धिरसाध्या एव भवित। वाग्भटाचार्यः "आयुःकामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम्"
इति आयुर्वेदस्य धर्मादिपुरुषार्थसाधनत्वं कथयित। पञ्चभूतात्मके शरीरे असन्तुलिताःसन्तुलिताश्च वात-पित्त-कफाः देहं घ्नन्ति वर्धयन्ति च। अशितमन्नमेव देह-मनोरूपेण
च परिणमते। जीविनां जीवनिर्नवहणाय आकाशादारभ्य अन्नान्तानि भूतानि आवश्यकानि
भवन्तीति अस्माकं विदितमेव। यतः तैत्तिरीयोपनिषदि ब्रह्मानन्दवल्यां "तस्माद्वा
एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः अन्नात् पुरुषः" इति जीविनाम् अन्नात्सृष्टिः
प्रतिपादिता अस्ति। अत अन्नमेव अस्माकं सर्वेषां मूलकारणमस्ति। अन्नमेव
रसासृङ्मांसमेदोस्थिमज्जाशुक्राख्येन सप्तधातुरूपेण परिणमते। इदमेव मनोरूपेणापि
परिणमते यथोक्तम् – अन्नमयं हि सौम्य मनः" इति। अस्यां पृथिव्यां शुद्धाशुद्धम्,
विकृताविकृतम्, सात्विकादिगुणभेदयुक्तम् च सर्वविधं अन्नमन्नोपलभ्यते। अस्माकं
दैहिक-मानसिक-बौद्धिकानां आरोग्यपरिपालनाय कीदृशमन्नं स्वीकर्तव्यमिति विवेकः
अपेक्षितः।

मानवेभ्यः विवेकबुद्धिं विकसितुमेव स्मृत्यादिग्रन्थाः प्रवृत्ताः सन्ति। विवेकी मानवः एव पुरुषार्थं साधियतुं शक्तः भवेत् नाविवेकी। सर्वेभ्यः विवेकज्ञानायैव आचार्याः सदाचारान् उपदिष्टवन्तः। उपदिष्टेषु सदाचारेष्विप वर्णाश्रमधर्मभेदेन अनेके प्रकाराः उपलभ्यन्ते। एतेषां सदाचाराणां परिपालनेन स्वस्य समाजस्य च स्वास्थ्यं परिपालितं भवेत्। समाजस्य स्वास्थ्यपरिपालनपूर्वकमेव स्वस्य पुरुषार्थसिद्धिभवेदिति शास्त्रीयः नियमः। पुरुषार्थसिद्धिः गुरूपदेशानुष्ठानपूर्वकं भवतीति ज्ञातम्। उपदेशानुष्ठानं च आरोग्ये सित सम्भवित। आरोग्यं च आहारपूर्वकम्, अत एव अत्र अद्यमानस्य अत्रस्य चिन्तनं क्रियते।

सहायकाचार्य, श्रीसत्यसाईंविश्वविद्यालय, कुलबर्गी, कर्णाटक:।

^{1.} अष्टाङ्गहृदयम् - 1/2

^{2.} तैत्तिरीयोपनिषत् - 2/1

प्रमुखशब्दाः - शाकाविवेकः, प्रायश्चित्तम्, व्रतम्, अन्नस्य महत्वम्। शाका-विवेकः -

सर्वाः अपि शाकाः सर्वेभ्यः प्राणिभ्यः सर्वदा अनुकूलकराः एव भवन्तीति वक्तुं कष्टकरं यतः आनुकूल्यं – प्रातिकूल्यं च तत्तद् देहप्रकृति-शाकप्रकृतिं च अनुसृत्य विवेचनीयम्। किन्तु स्मृतिकाराः कासाञ्चन शाकानां निषेधमकुर्वन्, तादृशशाकानां स्वीकारे कश्चन प्रायश्चित्तमाचरेत्। तदुक्तम् –

- पलाण्डुं विड्वराहं च छत्राकं ग्रामकुक्कुटम्। लशुनं गृञ्जनं चैव जग्ध्वा चान्द्रायणं चरेत्।।¹
- लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च। अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवानि च।।²

उभयत्र स्मृतौ पलाण्ड्वादीनां वर्ज्यत्वं प्रकथितम्। स्मृतिकारानुसारं शाकासु पलाण्डुः, लशुनम्, छत्राकम्, गृञ्जनम्, अमेध्यप्रभवानि अर्थात् अपवित्रस्थानेषु (श्मशानादिषु) उत्पन्नाः शाकाः परिवर्जयेयुः।

प्रायश्चित्तम् -

अभक्ष्य-भक्षणे सर्वै: प्रायश्चित्तमाचरणीयम्। तदिष यदि बुद्धिपूर्वकं अभक्ष्यं भिक्षतं चेत् तर्हि स: पिततो भवति। किन्तु यदि अबुद्धिपूर्वकं भिक्षतं तत् सन्तापार्हं भवति तदुक्तम् –

 अमत्यैतानि षड् जग्ध्वा कृच्छ्रं सन्तापनं चरेत्। यतिचान्द्रायणं वाऽपि शेषेषूपवसेदहः॥³

अमत्या अबुद्धिपूर्वकं पलाण्ड्वादिषु अन्यतमं भिक्षत्वा सन्तापनं कृच्छ्रं समाचरेत्। सन्तापनं व्रतं नाम "गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दिध सिर्पः कुश-उदकम्। एकरात्रोपवासं च कृच्छ्रं सन्तापनं स्मृतम्"।। अर्थात् एकरात्रोपवासं कृत्वा गोमूत्रादिकं सेवेत।

यतिचान्द्रायणं व्रतम् -

अष्टावष्टौ समश्नीयात् पिण्डान् मध्यन्दिने स्थिते। नियतात्मा हविष्याशी यतिचान्द्रायणं चरन्॥⁵

^{1.} या, स्मृ - 1/7/176

^{2.} मनु, स्मृ - 5/5

^{3.} मनुस्मृति: - 5/20

^{4.} मनु - स्मृ 11/212

^{5.} मनु - स्मृ 11/218

सः नियतात्मा भूत्वा केवलं मध्यन्दिने अष्टौ मुष्टिपरिमितः आहारः सेवेत। ते च आहाराः हविष्यादिषु उपयुज्यमानाः भवेयुः। एतदेव यतिचान्द्रायणं व्रतं भविष्यति।।

प्रसङ्गवशात् अन्यानि सम्बद्धानि व्रतान्यत्र उपवर्ण्यन्ते यथा -

चान्द्रायणं व्रतम् -

 एकैकं ह्रासयेत्पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्धयेत्। उपस्पृशंस्त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम्।।¹

अर्थात् त्रिषु कालेषु सायंप्रातर्मध्यान्हेषु स्नात्वा शुचिर्भूत्वा पौर्णमास्यां पञ्चदश ग्रासान् अश्नीयात्। ततः कृष्णप्रतिपत्तः आरभ्य एकैकं ग्रासं क्रमेण ह्रासयेत् कृष्णचतुर्दश्याम् एको ग्रासः भवति, अमावास्यायां सम्पूर्णम् उपोष्य शुक्लप्रतिपत्तः एकैकं ग्रासं वृद्धिं नयेत्। एवं पौर्णमास्यां पञ्चदश ग्रासः सम्पद्यन्ते। एतदेव चान्द्रायणं व्रतिमत्युच्यते।।

शिशुचान्द्रायणं व्रतम् -

 चतुरः प्रातरश्नीयात्पण्डान् विप्रः समाहितः। चतुरोऽस्तमिते सूर्ये शिशुचान्द्रायणं स्मृतम्॥²

सावधानिचत्तः विप्रः प्रातः चतुरः ग्रासान् अश्नीयात्। सूर्यास्तमानानन्तरं चतुरः ग्रासान् अश्नीयात्, एवं शुचिर्भूत्वा मासं यावत् व्रतमाचरेत् एतदेव शिशुचान्द्रायणं व्रतमित्युच्यते।

अतिकृच्छ्रं व्रतम् -

 एकैकं ग्रासमश्नीयात्र्यहाणि त्रीणि पूर्ववत्। त्र्यहं चोपवसेदन्त्यमितकृच्छ्रं चरन्द्रिज:।।³

अतिकृच्छ्रम् अनुतिष्ठन् द्विजः त्रीणि दिनानि प्रातःकाले सायंकाले च अयाचितरूपेण एकैकं ग्रासम् अश्नीयात्, एवं कुर्वाणः अन्तिमे त्रिषु दिनेषु सम्पूर्णम् उपवासमाचरेत्। इदमेव 'अतिकृच्छ्रव्रतम्' इत्युच्यते।

एवमनेकानि व्रतानि अभीक्षितलक्ष्यप्राप्तये स्वास्थ्यनिर्वहणाय च उपयुक्तानि भवन्ति। तत्र अस्माभि: छान्दोगानां वचनमत्र स्मर्तव्यम् यत् 'अन्नमयं हि सौम्य मनः आपोमय: प्राण: तेजोमयी वाक् ¹⁴ अन्नविकारं हि मन: अर्थात् अन्नादेव मन: वर्धते।

^{1.} मनुस्मृति: 11/216

^{2.} मनुस्मृति: 11/219

^{3.} मनुस्मृति: 11/ 212

^{4.} छान्दोग्योपनिषद् - 6/6/5

अन्नभेदात् मनोपि भिद्यते यथोक्तम् - 'आहारस्त्वमपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रिय:.....',

आयु:सत्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः। रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रियाः।¹

यस्य आहारस्य सेवनेन अस्माकं आयुः (दीर्घायुष्यम्) प्रददाति, चिरजीवनं सात्विकाहारेण प्राप्यते, बलवित दुःखेऽिप निर्विकारत्वापादकं चित्तस्थैर्यं ददाति इदमेव सत्वशब्देनोच्यते, स्वोचिते कार्यकरणे श्रमाभावयुक्तं शरीरदार्ढ्यं ददाति, इदमेव बलम् अथवा वीर्यमित्युच्यते, सात्विकाहारसेवनेन सर्वदापि देहमनसोः नीरोगता भवित, इदमेव आरोग्यमित्युच्यते, अन्तराह्णादः सुखमित्युच्यते, परमो हर्षः प्रीतिरित्युच्यते, सात्विकाहाराः एतेषाम् आयुरादीनां वर्धकाः भविन्त।

सात्विकाहाराणां गुणान् वर्णयन्ति, यथा - रस्याः मधुररसप्रधानाः आस्वाद्याः भवेयुः। अत्र मधुरः रसः स्वाभाविकः भवेत् कृतकमधुररसः कदाचित् आरोग्यं न प्रददाति। अष्टाङ्गहृदयकारः द्रव्यमाश्रितान् षड्मान् एवं क्रमेण कथयति यथा "स्वाद्वम्ललवणितक्तोषणकषायकाः। षड्द्रव्यमाश्रितास्ते च यथापूर्वं बलावहाः"², द्रव्यमाश्रिताः षट् रसाः अनेनैव क्रमेण मधुरादारभ्य कषायान्ताः रसाः परस्य रसस्य अपेक्ष्या पूर्वरसः बलिष्ठः भवित। अतः स्वादुरसः (मधुरः) सर्वेभ्यः अपि रसेभ्यः देहिनां कृते बलवान् भवित, तथा च कषायः रसः सर्वापेक्षया दुर्बलः भवित, इदमेव 'यथापूर्वं बलावहः' इति सूत्रे कथितम्। देहिनां कृते मधुरः रसः हितकरत्वात् बलिष्ठत्वात् च अयं स्वादु रसः सात्विकः भवित। स्निग्धाः अर्थात् स्वभावेन स्नेहगुणयुक्ताः भवेयुः अथवा आगन्तुकेन वा स्नेहगुणयुक्ताः आहाराः भवेयुः अयमेव स्नेहगुणयुक्तः आहारः भवित। रसाद्यंशेन शरीरे चिरकालस्थायिनः भविन्त अथवा यद्यपि आहारः अचिरादेव देहे जीर्णतां याति तथापि तदुत्पन्नाः परिणामाः चिरकालं तिष्ठन्ति इत्यतः स्थिराः आहाराः उच्यन्ते। दृष्टमात्राः हृदयप्रियाः आहाराः हृद्याः इत्युच्यन्ते। एवं दुर्गन्धाशुचित्वादिदृष्टादृष्टदोषशून्याः पदार्थाः एव सात्विकाः इति कथयन्ति। एतैर्लिङ्गैः सात्विकाः ज्ञेयाः भवन्ति।

▶ कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः। आहारा राजस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः। सूत्रस्थः अतिशब्दः कट्वादिषु सप्तस्विप योजनीयः भवित। अर्थात् अतिकटुः, अत्यम्लः इत्यादि। तत्र अतिकटुः, अत्यम्लम्, अतिलवणम्, अत्युष्णाः, अतितीक्ष्णाः मरीचादयः, अतिरूक्षाः स्नेहशून्याः पदार्थाः, एते कट्वादयः रसाः शरीरमनसोः तात्कालिकीं पीडां जनयन्तः धातुवैषम्यद्वारा रोगं उत्पाद्य सन्तापकाः भविन्त। एतैः

^{1.} भगवद्गीता - 17/8

^{2.} अष्टांगहृदयम् - 1/14

लिङ्गैः राजसाः ज्ञेयाः, एतादृशाः आहाराः सात्विकैः उपेक्षणीयाः भवन्ति।

भ्यातयामं गतरसं पूर्ति पर्युषितं च यत्। उच्छिष्टमिप चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्। अर्धपक्वाः आहाराः यातयामशब्देनोच्यते, विरसतां प्राप्तं शुष्काहाराः गतरसत्वेनोच्यते, दुर्गन्धयुक्तः आहाराः पूर्तीत्यनेन कथयन्ति, पक्वं सत्रात्र्यन्तरितः आहारः पर्युषितिमत्युच्यते, अन्यैः भुक्ताविशष्टः आहार एव उच्छिष्टमित्युच्यते। देव-पितृ-भूत-मनुष्य-यज्ञेभ्यः अयोग्यम् अनर्हं अशुचि-भोजनमेव अत्र अमेध्यमिति कथ्यते। एतादृशाः आहाराः मनुष्याणां चेतसः तत्कालोन्मदकराः भवन्ति किन्तु स्वास्थ्याय हानिकारकाः भवन्ति। किन्तु एतादृशाः आहाराः तामसप्रियाः अर्थात् एतैर्लिङ्गैः तामसाः ज्ञेयाः, तामसाहाराः सात्विकैरुपेक्षणीयाः भवन्ति।

दिशां प्रामुख्यम् -

 आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः। श्रियन् प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्ते ह्यदङ्मुखः।

आयुष्कामः प्राङ्मुखो भूत्वा भुञ्जीत। प्राङ्मुखभोजनेन आयुर्वर्धते पूर्णायुः भवतीत्यर्थः। यशः कामः दक्षिणाभिमुखः भुञ्जीत। दक्षिणाभिमुखभोजनेन यशः वर्धते। श्रियं यो इच्छति सः पश्चिमाभिमुखो भूत्वा भुञ्जीत। ऋतं सत्यं, यज्ञः अथवा यज्ञफलं स्वर्गो वा, अत स्वर्गकामः उत्तराभिमुखो भूत्वा भोजनं कुर्यात्।

अन्नस्य महत्वम् -

 पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन्। दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः।²

अश्यते भुज्यते इत्यन्नम्। अशनार्थम् यित्किञ्चिदानीतं देवतारूपेण पूज्यरूपेण पश्येत्। एतदशनस्य नमस्कारादिना प्रणम्य वा ग्रहणं कुर्युः। 'अन्नं न निन्द्यात्' इति श्रुत्युक्तप्रकारेण न कदापि अशनार्हस्य अन्नस्य निन्दनं, कुत्सितं वा कुर्यात्। कुत्सितं गर्हितं वा अन्नं न कदापि खादेत्। सर्वदा अपि अन्नस्य दर्शनेन प्रियकरदर्शन इव सन्तोषं प्राप्नुयात्। सर्वकालेष्वपि अन्नस्य विषये निन्दामकृत्वा प्रसन्नमनाः भवेत्। एतादृशस्य पुरुषस्य अन्नं सर्वदा प्राप्तः भवित। "अन्नं बहु कुर्वीत। तद्व्रतम्" इति श्रुत्युक्तप्रकारेण सर्वेऽपि अदनस्य अन्नस्य स्तुतिपूर्वकं दानार्थमपि अन्नस्य सङ्ग्रहणं कर्तव्यम्।

पूजितमशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छिति। अपूजितं तु तद्भुक्तमुभयं नाशयेदिदम्।⁴

^{1.} मनुस्मृति - 2/52

^{2.} मनुस्मृति - 2/54

^{3.} तैत्तिरीयोपनिषत् - 2/9/1

^{4.} मनुस्मृति:-2/55

आरोग्येण जीवितुमिच्छता मनुष्येण आहार: सर्वदापि पूज्य: भवेत्। प्रसन्नमनसा पूजितमन्नं अस्मभ्यं शारीरं मनो बलं च प्रयच्छति। य: प्रसन्नमनसा पूजिताहारं स्वीकरोति तस्य अङ्गोपचय: जायते, स: महाकाय: महाबलश्च भवित।

शोधपद्धतिः -

अस्मिन् शोधपत्रे विमर्शात्मकरूपेण विचाराः प्रस्तुताः सन्ति। स्वास्थ्यपरिपालनम् अन्नेन भवित किन्तु कीदृशम् अन्नं स्वीकर्तव्यं कीदृशं वर्ज्यम् इत्यत्र माणवेभ्यः विवेकः अपेक्षितः। विवेकोत्पादनार्थं श्रुति-स्मृति-आयुर्वेदग्रन्थेभ्यः विचाराः प्रतिपादिताः। आधुनिके काले आहारस्य विषये आदरः न्यूनं दृश्यते यतः गृहीयाहारापेक्षया सिद्धाहाराणां विषये, उपाहारकेन्द्रतः साक्षात् खादने वा अभिरुचिः दरीदृश्यते। अत एव मया अत्र कश्चन प्रयत्नः विहितः वर्तते।

परिणामा:-

स्मृतिग्रन्थानाम् अध्ययनम् अधुनापि आवश्यकमेव। न केवलं संस्कृतछात्राणां वा साहित्यछात्राणां वा किन्तु समेषाम् इदमिनवार्यम्। यतः स्मृतिग्रन्थेषु अस्मिनपि युगे उपयुक्ताः बहवः विषयाः सुस्पष्टं प्रतिपादिताः सन्ति। एतादृशलघु विचारं स्वीकृत्य प्रतिपादयामश्चेत् सर्वेऽपि स्मृतिग्रन्थपठने अभिरुचिं प्रदर्शयन्ति इति विश्वसिमि। आयुर्वेदः स्वास्थ्यरक्षणार्थमेव प्रवृत्तं शास्त्रम् अतः सर्वेः आयुर्वेदविषये अपि परमादरः प्रदर्शनीयः इति भावयामि।

परिशीलितग्रन्थसूची-

- अनुवादक: चक्रकोडि ईश्वरशास्त्री, मनुस्मृति, समाज पुस्तकालय:, शिवाजिबीदि, धारवाड् 1969।
- 2. Pandit Girija Prasad Dvivedi, Manusmriti, Gomati tat, Lucknow 1917.
- 3. शास्त्री कपालि:, collected works of T.V. Kapali Shastri, दीप्ति-प्रकाशनालय:, पुदुच्चेरि, 1988।
- 4. उपाध्याय: बलदेव:, संस्कृतवाङ्मय का इतिहास, उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थानम्, लखनौ 2006।
- 5. वाग्भट:, English translation Dr. R. Vaidyanath, अष्टाङ्गहृदय, चौखाम्बा आयुर्वेद अध्ययनम्, वाराणासी, 2013।
- 6. वाग्भटाचार्य:, अष्टाङ्गहृदयम्, निर्णयसागर प्रेस्, बोम्बै, 1939।
- 7. याज्ञवल्क्य:, याज्ञवल्क्यस्मृति:, चौखम्बा संस्कृत् सीरीस्, वाराणासी, 1918।

त्रिविधं तपः

डॉ. जि. नरसिंहुलु*

ISSN: 0975-1769

शोधसारः

वेदान्तदर्शने उपनिषदः-ब्रह्मसूत्राणि-श्रीमद्भगवद्गीतेति प्रस्थानत्रयं प्रामुख्यं भजते। तत्र वेदेषु चरमभागत्वेन विद्यमाना आत्मतत्त्वप्रतिपादिका उपनिषदः वेदान्तशब्देनाभिधीयन्ते। तत्र उपनिषत्प्रतिपाद्यविषयेषु संशयनिवारणपुरस्सरं तत्त्वनिर्णयाय भगवान् बादरायणः ब्रह्मसूत्राणि रचयामास। तत्र च पुनः सुकोमलमतीनामिप औपनिषदात्मत्वावगमाय लोककल्याणकाङ्क्षिणा भगवता वासुदेवेन अर्जुनं निमित्तीकृत्य श्रीमद्भगवद्गीता समुपदिष्टा। एतद्ग्रन्थत्रयस्यापि भाष्यं विरच्य श्रीशङ्करभगवत्पादाः मानवसमाजस्य महदुपाकारमकार्षुः।

अत्र श्रीमद्भगवद्गीतायां मानवं माधवरूपेणाविष्कर्तुम् अनेके विषयाः समुद्बोधितास्सन्ति। तत्र च श्रद्धात्रयविभागयोगे सप्तदशाध्याये भगवान् श्रीकृष्णः 'यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदिममं श्रृणु' इत्युक्त्वा क्रमशः एकैकस्य भेदं विवृणोति। अत्रेदानीं शोधपत्रे तपसः त्रैविध्यं विचार्यते येन दैनन्दिनजीवने आत्मोन्नतये कीदृशं तप आचरणीयमिति ज्ञातुं शक्नुमः।

प्रमुखशब्दा:- आर्जवम्, अनुद्वेगकरम्, आत्मविनिग्रह:, तप:, दानम्, ब्रह्मनिष्ठम्, यज्ञ:, विजिज्ञासस्व, विश्रुता, विशन्ति, सूयते, स्वाध्यायाभ्यसनम्, श्रोत्रियम्।

आमुखम् - त्रिविधं तपः इति शोधपत्रस्यास्य अध्ययनेन श्रीमद्भगवद्गीतायां भगवता वासुदेवेन प्रोक्तं त्रिविधं तपः सम्यक् ज्ञातुं शक्नुवन्ति। अस्मिन् पत्रे मया विविधेभ्यः ग्रन्थेभ्यः बहूनि उदाहरणानि स्वीकृत्य शाङ्करभाष्यादिकं प्रदर्श्य विषयविवरणं कृतम्। भगवद्गीतायां श्रद्धात्रयविभागस्यानुशीलनेन कथं मनुष्यः स्वगृहे स्थित्वा तपः आचरति इति ज्ञास्यामः। अत्रस्थान् विषयान् विशदतया शोधपद्धत्या समीक्ष्य सोदाहरणं समाजस्य छात्राणां वा पुरतः स्थापयामश्चेत् तर्हि महानुपयोगः भवतीति धिया मया लिखितम्।

शोधपद्धति:- अस्य शोधपत्रस्य लेखने मया समीक्षात्मकपद्धति: समाश्रिता विद्यते। अत्र भगवद्गीतायां श्रद्धात्रयविभागयोगे निरूपितान् विषयान् स्वीकृत्य

सहायकाचार्य:, अद्वैतवेदान्त:, दर्शनिवद्याशाखा, केन्द्रीयसंस्कृतिवश्वविद्यालय:, भोपाल-परिसर:, मध्यप्रदेश:।

श्रीशाङ्करभाष्यदृष्ट्या समीक्ष्य सोदाहरणं सुभाषितादिश्लोकान् उद्धृत्य विषयविवेचनं कृतम्।

परिणामः- अस्य शोधपत्रस्याध्ययनेन छात्रेषु सामाजिकेषु च आध्यात्मिकदृष्टेः विकासः भवति। समीक्षात्मकशक्तेः विकासः भवति। अत्रस्थ विषयानां वारं वारं चिन्तनेन आत्मोन्नतिः भवति।

प्रस्तावना-

'वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्मस्वनुष्ठीयताम्' इति श्रीशङ्करभगवत्पादानां वचनात् प्रतिदिनं वेदाध्यनं वेदोक्तकर्मानुष्ठानं च कर्तव्यमिति अर्थो लभ्यते। वेदस्तु उदात्तानुदात्तस्विरतोपेतः भवतीति अस्याध्ययनं न सर्वजनसाध्यम्। तिर्हं कथं भगवत्पादोक्तिः सार्थक्यं भजत इति चेत्, वेदोक्ताः विषया एषु ग्रन्थेषु प्रतिपादिताः तेषामध्यनेन तत्रोक्तानुष्ठानेन च तत्फलं सिध्यतीति प्रतिपादयन्ति पण्डिताः। अत एव लोके यथा श्रुतिः प्रसिद्धा तथेव श्रुतिमनुसरन्ती स्मृतिरिप प्रसिद्धा। एवं प्रसिद्धेषु स्मृतिग्रन्थेषु भगवतः वासुदेवस्य मुखारविन्दात् निःसृता महाभारतान्तर्गता सर्वजनोद्धारिणी श्रीमद्भगवद्गीता अन्यतमा अद्वितीया च वर्तते। उक्तं च-

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैच्छास्त्रविस्तरै:। या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःश्रृता॥ इति।

गीताभाष्येऽपि भगवत्पादैरुक्तं-' 'तिदं गीताशास्त्रं समस्तवेदार्थसारसंग्रह-भूतम्' इति। मानवजीवने श्रीमद्भगवद्गीताग्रन्थः कीदृशं स्थानमावहतीत्यत्र अस्माकं पूर्वजानां स्वामिविवेकानन्द-महात्मागान्धी-बालगंगाधरितलक्-सर्वेपिल्लिराधाकृष्णन्-विनोबाभावेप्रभृतीनां जीवनचिरतान्येव प्रमाणम्। अनेनेदं सिद्धं भवित यत्- ये च नित्यं श्रीमद्भगवद्गीताध्ययनं कुर्वन्ति अनुशीलयन्त्यिप ते स्वजीवने अवश्यमेव साफल्यमवाप्स्यन्तीति।

श्रीमद्भगवद्गीतायां विद्यमानेषु अष्टादशाध्यायेषु प्रत्येकमि अध्यायः मानवजीवनायापेक्षितान् नैकान् विषयान् विवेचयित। तत्र च श्रद्धात्रयविभागयोगे सप्तदशाध्याये भगवान् श्रीकृष्णः 'यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदिममं श्रृणु' इत्युक्त्वा क्रमशः एकैकस्य भेदं विवृणोति। तत्रेदानीं तपसः त्रैविध्यं विचार्यते।

विषयविवेचनम्-

शारीरं तप:-

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्। ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥ भ.गी.17.14 त्रिविधं तपः 33

देवेति। देवाश्च द्विजाश्च गुरवश्च प्राज्ञाश्च देवद्विजगुरुप्राज्ञास्तेषां पूजनं देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवमृजुत्वं ब्रह्मचर्यमिहंसा च शरीरनिर्वर्त्यं शारीरं शरीरप्रधानै: सर्वेरेव कार्यकरणै: कर्त्रादिभि: साध्यं शारीरं तप उच्यते। पञ्चैते तस्य हेतव इति हि वक्ष्यति। इति भाष्यम्।

अत्र शारीरं तपः निर्दिशति। देवाः ब्रह्माविष्णुशिवसूर्याग्निदुर्गादयः, द्विजाः पूज्यत्वात् द्विजोत्तमाः, गुरवः पित्राचार्यादयः, प्राज्ञाः पण्डिताः विदितवेदितव्यास्तेषां पूजनं प्रणामशुश्रूषादि, शौचं मृज्जलाभ्यां शरीरशोधनम्, आर्जवमृजुत्वं विहितप्रतिषिद्धयो-रेकरूपप्रवृत्तिनिवृत्तिमत्त्वं, ब्रह्मचर्यं निषिद्धमैथुननिवृत्तिः, अहिंसा प्राणिनामपीडनम्। चकारादस्तेयापरिग्रहाविप ग्राह्मौ। शरीरनिर्वर्त्यं शारीरं शरीरप्रधानैः सवैरेव कर्त्रादिभिः साध्यं शारीरं तप उच्यते। अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथिग्वधम्। विविधाश्च पृथक्चेष्टा देवं चैवात्र पञ्चमम्॥ शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः। न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥ इति वक्ष्यमाणात्।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम् - इहलोके नित्यमस्माभि: दैवाराधनं कर्तव्यम्। अनेन अस्माकं जीवने परमा शान्तिर्भवति। जगत: जन्मस्थितिलयकारणं ईश्वर इति श्रितिस्मृतिष् उपदिश्यते। तद्यथा- 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति तद्विजिज्ञासस्य तद्ब्रह्मोति' (तैत्तरीयोपनिषत्-भुगुवल्ली)। **अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा** (भ.गी.7.6), **मयाध्यक्षेण** प्रकृतिः सुयते सचराचरम् (भ.गी.9.10), मिय सर्विमिदं प्रोतं सूत्रे मिणगणा इव (भ.गी.७.७) इति च स्मृति:। अतो शास्त्रगुरुवाक्येषु विश्वासं निधाय नित्यं भगवदाराधनं कर्तव्यम्। अत्र केचन यत्किंचित् साधितं चेत् अहंकारेण अहमेव कर्ता धर्ता इति मन्यन्ते। अन्ये केचन ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति (भ.गी.18.61) इति भगवद्वचनमाश्रित्य अहं निमित्तमात्र:, ईश्वर एव सर्वकर्मस् मम प्रेरक:, अपि च इन्द्रादिदेवतारूपेण विलसमान स एव। यथोक्तं भगवता यद्यद्विभृतिमत्सत्त्वं श्रीमदुर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥ (भ.गी.10.41) इति तत्तद्देवताप्रसादसम्पादनेन भगवत्प्रीतिपात्रो भवाम्यहम् इति जानन्तः देवताराधनं कुर्वन्ति। अतः ईदृशं देवपूजनं तपः शब्देनोच्यते। द्विजपूजनम्- द्विवारं जन्म ये लभन्ते, ते द्विजा:। अर्थात् आदौ मातृगर्भात् अन्धकारं भित्वा बहिरायाति इति प्रथमं जन्म। ततः परं उपनयनादिसंस्कारद्वारा गुरुमुपसृत्य वेदशास्त्रादीनि सम्यगधीत्य तत्वज्ञानरूपसाधनेन अज्ञानरूपगर्भात् अन्धकारं छित्वा बहिरायाति इति तस्यैव द्वितीयं जन्म भवति। उक्तं च ब्रह्मज्ञानेन ब्राह्मणः इति। यथोक्ताः द्विजोत्तमाः, तेषां पूजनं तप उच्यते। गुरुपूजनम्- गुरूणां स्थानं सर्वोपरि इति भारतीयपरम्परा एव प्रमाणम्। अस्माकं प्रथमगुरु: माता भवति। अत एव उपनिषदि सर्वादौ मातुदेवो भव इत्युपदिष्टम्। ततःपरं पिता अस्मान् सन्मार्गे गमयतीति पितृदेवो भव इति, ततश्च

आचार्यः अस्मान् ज्ञानसम्पन्नान् करोतीति आचार्यदेवो भव इति च उदीरितम्। भारतीयसंस्कृतौ गुरोः महत्वं बहुधा कीर्तितं वर्तते यतोहि विना स्वार्थं गुरुः स्वज्ञानप्रसादेन ईश्वरदर्शनमिप कारयित। श्रीरामकृष्णपरमहंसः स्वज्ञानप्रसादेन स्वामिविवेकानन्दं आत्मज्ञानसम्पन्नमकरोदिति वयं ज्ञातुं प्रभवामः। यथोक्तं-

यस्यदेवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥ इति।

(श्वेताश्वतरोपनिषत्. 6)

गुरुपदवाच्यः कः? तादृशगुरोः समीपं कथं गच्छेदित्यत्र उच्यते उपनिषदि 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' (मुण्डकोपनिषत्) इति। अपि च केषुचित् स्थानेषु यदाऽस्माभिः गम्यते, तदा रिक्तहस्तेन न गन्तव्यमिति नीतिशास्त्रमस्मानुपदिशति। तत्र गुरुस्थानमपि अन्यतमम्। तद्यथा-

अग्निहोत्रं गृहं क्षेत्रं गर्भिणीं वृद्धबालकौ। रिक्तहस्तेन नोपेयाद्राजानं दैवतं गुरुम्॥ इति। (सुभाषितसंग्रहः)

तथा च स्थान-अंग-भव-आत्मशुश्रूषादिभिः गुरुः सेवनीय इत्युच्यते। अतः साम्प्रतिककालेऽपि गुरुपूजनं सर्वेरिप अवश्यमेवानुष्ठेयम्। यथोक्तं गुर्वाराधनं तप इत्युच्यते। शौचं मृज्जलाभ्यां शरीरशोधनम्। आर्जवं ऋजुत्वं विहितनिषिद्धयोरेक-रूपप्रवृत्तिनिवृत्तित्त्वम्। अत्र विहितकर्मसु प्रवृत्तिः निषिद्धकर्मसु निवृत्तिश्च आर्जविमत्युच्यते। ब्रह्मचर्यं निषिद्धमैथुननिवृत्तिः। उक्तं च योगशास्त्रे ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभ इति। अन्यत्र च ब्रह्मचर्यपालनफलं कीर्तितं यथा-

आयुस्तेजो बलं वीर्यं प्रज्ञा श्रीश्च महद्यशः। पुण्यं च मत्प्रियत्वं च लभ्यते ब्रह्मचर्यया॥ इति।

अहिंसा प्राणिनामपीडनम्। श्रूयते च मा हिंस्यात् सर्वभूतानि, अहिंसा परमो धर्म: इति। श्लोके अहिंसा च इत्यत्र चकारेण अस्तेयापरिग्रहौ ग्राह्यौ इति मधुसूदनीव्याख्या। शारीरं शरीरप्रधानै: कर्त्रादिभि: साध्यं शारीरं तप उच्यते।

वाङ्मयं तपः-

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्। स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥ भ.गी.17.15

अनुद्वेगेति। अनुद्वेगकरं प्राणिनामदुःखकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्। प्रियहिते दृष्टादृष्टार्थे। अनुद्वेगकरत्वादिभिर्धर्मेर्वाक्यं विशिष्यते। विशेषणधर्मसमुच्चयार्थः च शब्दः। परप्रत्ययार्थं प्रयुक्तस्य वाक्यस्य सत्यप्रियहितानुद्वेगकरत्वानामन्यतमेन त्रिविधं तपः 35

द्वाभ्यां त्रिभिर्वा हीनता स्याद्यदि न तद्वाक्यं तपः। तथा सत्यवाक्यस्येतरेषामन्यतमेन द्वाभ्यां त्रिभिर्वा विहीनतायां न वाङ्मयतपस्त्वम्। तथा प्रियवाक्यस्यापीतरेषामन्यतमेन द्वाभ्यां त्रिभिर्वा हीनस्य न वाङ्मयतपस्त्वम्। तथा हितवाक्यस्यापीतरेषामन्यतमेन द्वाभ्यां त्रिभिर्वा वियुक्तस्य न वाङ्मयतपस्त्वम्। किं पुनस्तत्तपो यत् सत्यं वाक्यमनुद्वेगकरं प्रियहितं च तत् परमं तपो वाङ्मयम्। यथा शान्तो भव वत्स स्वाध्यायं योगं चानुतिष्ठ! तथा ते श्रेयो भविष्यति। स्वाध्यायाभ्यसनं चैव यथाविधि वाङ्मयं तप उच्यते। इति भाष्यम्।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् कस्याप्युद्वेगकरं दुःखजनकं न भवतीति तत् सत्यं प्रमाणमूलकमबाधितार्थं, प्रियं दृष्टार्थं उच्चारणकाले श्रोतुः श्रुतिसुखं, हितं परिणामे सुखकरं, चकारो विशेषणानां समुच्चयार्थः। अत्र भगवान् श्रीकृष्णः दैनन्दिनव्यवहारे उच्चार्यमाणं वाक्यं कथं भवेदिति उपदिशति। इह लोके सर्वोऽपि व्यवहारः वाग्व्यापारं विना न सिध्यति। प्रातरारभ्य रात्रिपर्यन्तं, जन्मारभ्य मरणपर्यन्तं बहूनि वाक्यानि वयम् उच्चारयामः। तदनुसारं च लोके प्रीत्यप्रीतिभाजः भवामः। अत्र अनुनित्यं सत्यादिभिर्युक्तं वाक्योच्चारणमेव वाचिकं तप इति भगवदुक्तिः। अनुद्वेगकरं वाक्यं कदाचिद्वदामश्चेद् नालम्। सततमुच्चरितं सत् तत् सत्यं तपश्रब्देनोच्यते। अतोऽस्माकं वदनात् सर्वदा सत्यपूर्णा सुसंस्कृता वाण्येव निस्सरेत्। सुसंस्कृता वाक् यस्य भवति, तदेव तस्य भूषणमिति भर्तृहरिः प्रतिपादयित। तद्यथा–

केयूराणि न भूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्वला न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालंकृता मूर्धजाः। वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते क्षीयन्तेऽखिलभूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम्॥ इति।

(भर्तृहरिनीतिशतकम्)

समाजे नैके जनाः कामक्रोधादिभिराविष्टाः स्वाभीष्टसिध्यर्थं परेषां सुखदुःखादिकमविगणय्य यित्किञ्चिद्वदिन्ति। अस्माकं वचस्स्वेव अमृतं विषं च निहितं वर्तते। अतः सुविचार्यं वक्तव्यम्। उक्तं च भगवत्पादैः 'न तु वृथा वाक्यं समुच्चार्यताम्' (साधनपञ्चकम्) इति। मयसभायां दुर्योधनं वीक्ष्य द्रौपद्योक्तानि परिहासवचांसि एव महाभारतयुद्धाय कारणमभवन्। वनवासकाले लक्ष्मणमुद्दिश्य जानक्योक्तानि निन्दावचनानि रामरावणयुद्धाय कारणमभवन्। सर्वदा लोकहिताय अस्माकं वचांसि भवेयुरिति सत्पुरुषाः वदन्ति। उच्चरितं प्रत्येकं वाक्यमस्माकं प्रवृत्तिं प्रकाशयित। यदुच्यते तत् अन्येषां दुःखप्रदं न स्यात्। अपि च तत् सत्यं भवेत्। दृष्टस्य श्रुतस्य अनुभूतस्य च विषयस्य यथावत् कथनं सत्यमित्यभिधीयते। सत्यमाश्रित्य हरिश्चन्द्रः स्वयशःकायेन चिरंजीवी जातः। सत्यमुक्त्वैव सत्यकामः

ब्रह्मविद्यायाम् अधिकारी जात:। प्रोक्तं च उपनिषत्सु 'सत्यं वद। सत्यमेव जयते' इति। अपि चोक्तं- 'सत्यान्नास्ति परो धर्मो नानृतात् पातकं परम्' इति। लौकिकविषयेषु यः सत्यं नानुसरित सः पारमार्थिकसत्यमनुभवितुम् नार्हित। अतः सत्यं वदेत्। अपि च तत् सत्यं प्रियं भवेत्। उच्चारणकाले श्रोतुः सुखकरं स्यात्। उक्तं च मनुस्मृतौ-

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मस्सनातनः॥ इति। (मनुस्मृतिः)

अन्येषाम् अप्रियवचनानि निन्दावचनानि परुषवचनानि नोक्तव्यानि। यतोहि अस्माकं वाग्व्यापारेणैव परिवारे समाजे च स्नेहो वा वैरो वा जायते। उक्तं च-

न कश्चित् कस्यचिन्मित्रं न कश्चित् कस्यचिद्रिपुः। व्यवहारेणैव जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा॥ इति।

अत्र व्यवहारे अस्माकं कृत्यान्यिप अन्तर्भवन्ति। सर्वत्रऽस्माकं सम्बन्धं ज्ञापियतुं वाग्व्यापारः मुख्यभूमिकामावहतीत्यर्थः। अत एव वेदे शान्तिपाठे 'जिह्वा मे मधुमत्तमा' मम जिह्वा मधुमती अतिशयेन मधुरभाषिणी भवत्विति प्रार्थना क्रियते। अन्यत्र च उक्तं-

वदनं प्रसादसदनं सदयं हृदयं सुधामुचो वाचः। करणं परोपकरणं येषां केषां न ते वन्द्याः॥ इति।

अत्र श्लोके 'सुधामुचो वाचः' इति सत्पुरुषाणाम् अन्यतमं लक्षणमिति कीर्तितं दृश्यते। मधुरभाषणेन सर्वेऽपि प्राणिनः तुष्यन्तीति प्रेरणास्पदोऽयं श्लोकः-

प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः। तस्मात्तदेव वक्तव्यं वचने का दरिद्रता॥ इति।

अनेन इदमवगम्यते यत् उच्चरितं सत्यं प्रियमपि स्यादिति। अपि च तत् हितं परिणामकालेऽपि सुखकरं स्यात्। श्रोतुः प्रियं स्यादिति केवला स्तुतिः न स्यात्। अस्माकं वचांसि श्रोतुः हितकराणि पथप्रदर्शकानि प्रयोजनवन्ति स्युः। उक्तं च महाभारते 'यद्भूतहितमत्यन्तमेतत्सत्यं मतं मम' इति नारदवचनम्। अपि च किरातार्जुनीये उक्तं 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः' इति। अनेनावबुध्यते यत् हितकरं वाक्यं मनोहारि च यद् भवति तादृशं दुर्लभं भवति। अत एव भगवता इत्थंभूतवाक्योच्चारणं तपश्शब्देन कीर्तितम्।

स्वाध्ययाभ्यसनम् - अत्र स्वाध्यायशब्देन मुख्यतया वेदाध्ययनं प्रोक्तम्। 'स्वाध्यायो अध्येतव्यः' इति वेदोऽपि उपदिशति। तथा च स्वाध्यायशब्देन सद्ग्रन्थाध्ययनमपि स्वीक्रियते। विद्यार्थिनां स्वकक्ष्यासम्बद्धग्रन्थाध्ययनं, स्वविषयसम्बद्ध- त्रिविधं तपः 37

ग्रन्थाध्ययनमेव स्वाध्यायः भवति। अतः स्वाध्यायात् विरामः न स्यात्। उक्तं च तैत्तरीयोपनिषदि शिक्षावल्यां 'स्वाध्यायान्मा प्रमदः' इति। नैकेषां कार्यसाधकानां पण्डितानां राष्ट्रभक्तानां त्यागधनानां च दिनचर्यायां स्वाध्यायाभ्यसनम् अवलोकयामः। यदि स्वध्यायाभ्यासः न क्रियते तर्हि विद्या विषतुल्या भविष्यतीत्युच्यते। तद्यथा 'अनभ्यासे विषं विद्या' इति। अत एवोक्तं भगवता स्वाध्यायाभ्यसनमपि वाचिकं तपः भवतीति।

मानसं तप:-

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः। भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥ भ.गी.17.16

मन इति। मनःप्रसादो मनसः प्रशान्तिः स्वच्छतापादनं मनसः प्रसादः। सौम्यत्वं यत् सौमनस्यमाहुर्मुखादिप्रसादकार्यान्तः करणस्य वृत्तिः, मौनं वाक्संयमोऽपि मनः संयमपूर्वको भवतीति कार्येण कारणमुच्यते मनः संयमो मौनमिति। आत्मविनिग्रहो मनो निरोधः सर्वतः सामान्यरूप आत्मविनिग्रहो वाग्विषयस्यैव मनसः संयमो मौनमिति विशेषः। भावसंशुद्धिः परैर्व्यवहारकालेऽमायावित्वं भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते। इति भाष्यम्।

सर्वेष्विप तपस्सु मानसं तपः विशिष्यते। मनुजस्य शारीरकोपकरणेषु इन्द्रियेषु मनः मुख्यं स्थानमावहित। अतो सुसंस्कृतं मनः स्यात्। उक्तं च **'मन एव** मनुष्यानां कारणं बन्धमोक्षयोः' इति।

मनःप्रसादः - सर्वास्विप परिस्थितिषु प्रशान्तिचत्तो भवेत्। जीवः स्वात्मिनि स्वान्तःकरणे प्रसन्नश्चेत् तिस्मिन् ईश्वरोऽपि प्रसन्नः भवित। यदा मनिस विद्यमानाः रागद्वेषादयोऽपनीयन्ते तदैव सः जनः प्रसन्नः भवित। अत एव मनःप्रसादः तपःशब्देनाभिहितः। उक्तं च गीतायामेव भगवता 'आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते, प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते' इति। मानवजीवने पुरुषार्थिसिध्यर्थं मनःप्रसादः अत्यन्तमपेक्षितोऽस्ति।

सौम्यत्वं- सर्वलोकहितैषित्वम् अहिताचिन्तनं च। मनिस स्थितान् भावान् संकल्पांश्चाश्रित्य अस्माकं मुखलक्षणानि परिवर्तन्ते। मानिसकशान्तिरेव सौम्यतायाः चिह्नं भवित। एतिद्वशिष्टस्य पुरुषस्य वदनं सर्वदा प्रसादसदनं भवित। रागादिवर्जितः सौम्यः सर्वदा लोकहितमाचरित। कदापि कथमिप परेषाम् अहितं न चिन्तयित।

मौनं- ननु मौनं वाङ्नियमनं वाङ्मये तपस्यन्तर्भवति तत्कथं मानसे तपिस व्यपदिश्यते तत्र वाच: संयमस्य कार्यत्वात्, मन:संयमस्य कारणत्वात् कार्येण कारणग्रहणान्मानसे तपिस मौनमुक्तमित्याह- इति आनन्दगिरिटीका। समाहितमन

एव मौनमाचिरतुं प्रभवित। मौनं मनसः परिपक्वतां सूचयतीत्यतः मानसं तप उच्यते। मननरूपं मौनमेवात्रग्राह्मम्। उक्तं च भगवत्पादैः अपरोक्षानुभूतौ 'िगरा मौनं तु बालानाम्' इति। अपि च मौनविषये श्रीशङ्करभगवत्पादाः विवेकचूडामणिग्रन्थे प्रत्यपादयन् यत्–

योगस्य प्रथमं द्वारं वाङ्निरोधोऽपरिग्रहः। निरीहा च निराशा च नित्यमेकान्तशीलता॥ (विवेकचूडामणिः) नास्तिनिर्वासनान्मौनात्परं सुखकृदुत्तमम्। विज्ञातात्मस्वरूपस्य स्वानन्दरसपायिनः॥ (विवेकचूडामणिः)

अपि च योगवाशिष्ठग्रन्थे वशिष्ठमहर्षि: श्रीराममुद्दिश्य उपदिशति यत्-सर्वमेव परित्यज्य महामौनी भवानघ। निर्वाणवान्निर्मनसःक्षीणचित्तः प्रशान्तधीः॥ इति। (योगवासिष्ठः)

सुभाषितेष्विप उच्यते- **मौनिनः कलहो नास्ति** इति। अतोऽस्माभि: मौनं शीलियतुं यत्नो विधेय:।

आत्मविनिग्रहः - सर्वेभ्यो विषयेभ्यो आत्मनः मनसः निग्रहः निरोधः। अन्यत्र च उक्तं श्रवणादिव्यतिरिक्तविषयेभ्यो मनसः निग्रहः शम इति। निगृहीतमनसः इन्द्रियाणि स्ववशे एव तिष्ठन्ति। ततश्च स्वलक्ष्यं साधियतुं समर्थो भवति साधकः। उक्तं च योगवाशिष्ठे-

चित्तं कारणमर्थानां तस्मिन् सित जगत्त्रयम्। तस्मिन् क्षीणे जगत्क्षीणं तच्चिकितस्यं प्रयत्नतः॥ इति।

(योगवासिष्ठ:)

अत्रैव गीतायां षष्ठाध्याये भगवान् वासुदेव: मनोनिग्रह अतीवदुष्करं कार्यमित्युक्त्वा तत्रोपायं सूचयति तद्यथा-

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिवसुदुष्करम्।। भ.गी. 6.34
असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ भ.गी. 6.35
शनैः शनैरुपरमेद्बुध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनःकृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥ भ.गी. 6.25
यतो यतो निश्चरित मनःश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततो ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ इति। भ.गी. 6.26

त्रिविधं तप:

भावसंशुद्धिः- तपःशब्दवाच्यं पञ्चमं लक्षणं भवति भावसंशुद्धिरिति। भावस्य हृदयस्य शुद्धः कामक्रोधलोभादिमलिनवृत्तिः पुनरशुद्धगुत्पादराहित्येन सम्यक्त्वेन विशिष्टा सा भावसंशुद्धिः। सर्वदा निर्मलान्तःकरणेन सद्भावनया वर्तितव्यम्। विश्वोऽयम् अस्माकं भावमाश्रित्येव प्रवर्तते। यदि भावः शुद्धः भवति तर्हि महत्कार्याणि साधियतुं शक्यन्ते। स्वामिविवेकानन्दादयः भावसंशुद्ध्या एव महत्तराणि कार्याणि कृत्वा समाजस्य आदर्शभूताः समभवन्। इत्येवं मानसं तप उच्यते।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तित्रिविधं नरै:। अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥ भ.गी.17.17

श्रद्धया आस्तिक्यबुद्ध्या परया प्रकृष्टया तप्तम् अनुष्ठितं तपः तत् प्रकृतं त्रिविधं त्रिप्रकारम् नरैः अनुष्ठातृभिः अफलाकाङ्क्षिभिः फलाकाङ्क्षारिहतैः युक्तैः समाहितैः यद् ईदृशं तपः तत् सात्त्विकं सत्त्विनिवृतं परिचक्षते कथयन्ति शिष्टाः।

इत्थं भगवता श्रीकृष्णेन श्रीमद्भगवद्गीतायां सप्तदशाध्याये श्रद्धात्रयविभागयोगे तपसः त्रैविध्यम् उपदिष्टम्। श्रद्धा-यज्ञ-दानानामपि त्रैविध्यं तत्रैव स्पष्टीकृतम्। एतदनु मानवकल्याणाय उद्दिष्टानि यज्ञदानतपःकर्माणि न त्याज्यानीति निर्दिशति भगवान् वासुदेवः। तद्यथा-

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेवतत्। यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ इति। (भ.गी.18.05)

सन्दर्भग्रन्थसूची-

- 1. श्रीमद्भगवद्गीता-श्रीमच्छङ्करभाष्येण-आनन्दगिरिकृतव्याख्यायुजा संविलता, इन्डोलाजिकन्-बुक्-हौस्, वाराणसी-1983. (नीलकण्ठी- भाष्योत्कर्षदीपिका-श्रीधरीयसुबोधिनी-अभिनवगुप्ताचार्यव्याख्या-श्रीमधुसूदनसरस्वतीस्वामिकृत-गूढार्थदीपिकाख्यव्याख्या सहिता)
- 2. श्रीमद्भगवद्गीतामृततरङ्गिणी (तेलुगु)- भगवान् श्रीसत्यानन्दमहर्षि:, श्रीसत्या-नन्दाश्रम:, इनमडुगु, नेल्लूरु, आ.प्रदेश:, 1994।
- 3. विवेकचूडामणि:, श्री अरविन्दानन्दयति:, चौखम्बा विद्याभवन्, वाराणसी, 2015।
- 4. जनप्रियगीतोपन्यासमुलु (तृतीयभागः) श्रीरामकृष्णानन्दस्वामिनः, गण्डिक्षेत्रम्, आन्ध्रप्रदेशः. २००८।
- 5. भर्तृहरिकृता- सुभाषितित्रशती, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2013।



वैश्विकान्तरिकाशान्तये प्रज्ञापराधः

-डॉ. अमृताकौर:*

ISSN: 0975-1769

विश्वेऽस्मिन् विशृंखलता, मूल्यानां ह्रास:, नैतिकताया: विनाश:, अनुशासनस्य हीनतेत्याद्या: व्याप्तसमस्या: मानसिकाशान्ते: कारणीभूता:। नागरिका: तत्तद्देशीयान् प्राशासनिकनियमान् मौलिककर्त्तव्यानि च जानन्ति अन्यान् उपदिशन्ति तथापि स्वयं नानुपालयन्ति। एतादृशव्यवहारा: विश्वशान्तये आन्तरिकशान्तये च (Global and internal peace) बाधकतत्त्वानि भवन्ति। एतासां समस्यानां मूलकारणं वर्तते प्रज्ञापराध:। कोऽयं प्रज्ञापराध: इत्युक्ते चरकसंहितायां प्रोक्तं यत्–

धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टकर्म यत् कुरुतेऽशुभम्। प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणम्॥

अर्थात् प्रज्ञा नाम बुद्धिः अथवा ज्ञानम्। अपराधः इति ज्ञात्वाऽपि तत्कर्म कुरुते सः प्रज्ञापराधः भवित। सत्त्वरजस्तमोगुणानां साम्यावस्था प्रकृतिः तथैव वातिपत्तकफानां साम्यावस्था आन्तरिकस्वस्थ्यस्य कारणीभूता स्यात्। धर्मार्थकामानां च साम्यावस्था प्रकृतेः विश्वस्य आत्मनः शान्तये प्रतीकभूताः भविन्त। अतः मानसिक-अशान्तये मनोविकाराः प्रज्ञापराधजाः भविन्त। प्रज्ञापराधेन ग्रस्ताः आन्तरिकाशान्तेः कारणतः विश्वस्य कृते संकटदायकाः जायेरन्। तस्मात् समुचितं कर्म ज्ञात्वा अपि अनुचिते कर्मणि बुद्धेः प्रवृत्तिः प्रज्ञापराध इत्युच्यते।

प्रज्ञापराधस्य अवगमनेन तद्दोषस्य नियन्त्रणेन दूरीकरणेन च प्रज्ञापराधव्यवहारस्य हासः जायते। तेन आत्मनः शान्तिः, तद्द्वारा विश्वस्य शान्तिः सञ्जायते इति धिया शोधपत्रेऽस्मिन्प्राच्यपाश्चात्यशास्त्रपरम्परायां प्रज्ञापराधं शास्त्रकाराः कथं निरूपितवन्तः? शास्त्रसम्मतं कर्म कीदृशं स्यात्? वैश्विकान्तरिकशान्तये प्रज्ञापराधज्ञानं कथमुपकरोति इत्यादीनां विषयाणां विस्तृतं विवरणं सोदाहरणमस्मिन् शोधपत्रे निरूप्यते।

शान्तिं सर्वेऽपि इच्छन्ति परं तस्याः कृते यत् कर्म न कर्त्तव्यं तत् कर्म कुर्वन्ति। मनुष्याः ज्ञात्वा अपि अविवेकिनो भूत्वा अकर्तव्यं कर्म कुर्वन्ति तदा विश्वे शान्तिः कथं भवितुमर्हति। गीतायां उक्तमस्ति यथा-

^{*} सहायकाचार्या (शिक्षाशास्त्रम्), केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालय:, देहली।

^{1.} चरक संहिता शरीर. 1/102

तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।

विश्वस्य शान्तेः पूर्वम् आन्तरिकशान्तिः अपेक्ष्यते। यदा आन्तरिकशान्तिः भवित तदा विश्वस्य कृतेऽपि शान्तिस्थापनम् भवितुमर्हति। प्रज्ञापराधैः विश्वे आन्तरिकं च शान्तेः स्थापनं न शक्यते। एतादृशाः व्यवहाराः वैश्विकान्तरिकाशान्तये बाधकाः भविन्त यथा-

उदीरणं गितमतामुदीर्णानां च निग्रहः। सेवनं साहसानां च नारीणां चातिसेवनम्।। कर्मकालातिपातश्च मिथ्यारम्भश्च कर्मणाम्। विनयाचारलोपश्च पूजानां चाभिवर्षणम्।। ज्ञातानां स्वयमर्थानामहितानां निषेवणम्। परमौन्मादिकानां च प्रत्ययानां निषेवणम्।। अकालादेशसञ्चारौ मैत्री सिङ्क्लष्टकर्मभिः। इन्द्रियोपक्रमोक्तस्य सद्गतस्य च वर्जनम्।। ईर्ष्यामानभयक्रोधलोभमोहमदभ्रमाः। तज्जं वा कर्म यत् क्लिष्टं क्लिष्टं यद्देहकर्म च॥ यच्चान्यदीदृशं कर्म रजोमोहसमुत्थितम्। प्रज्ञापराधं तं शिष्टा बुवते व्याधिकारणम्॥²

प्राकृतिकावेगानां दमनं, अनुचितशक्तेः प्रदर्शनं, यौनकृत्येषु अतिलिप्तता, प्रशासकानां कार्यकालस्य अनुचितोपयोगः, अत्यधिकोपयोगः, उपचाराणां विगलितोपयोगः, अनुचितकाले कार्यकरणम्, शीलस्य उत्तमाचरणस्य हानिः, सम्मानितानाम् असम्मानम्, हानिप्रदवस्तुनाम् उपयोगे आनन्दः, मत्तकारणतः कर्त्तव्यनिर्वहणम्, चिरत्रहीनव्यक्तिना सह मित्रता, सदाचरणे वर्णितानां स्वस्थगतिविधीनां त्यागः, द्वेषात् गर्वात् भयात् क्रोधात् लोभात् अज्ञानतायाः व्यसनात् भ्रमात् च उत्पन्नम् अनुचितकार्याणां कृते आश्रयप्रदानम्, रजोगुणात् तमोगुणात् उत्पन्नानि अनुचितकार्याणि इत्यादीनि सर्वाण्यिप प्रज्ञापराधस्य निर्माणं कृर्वन्ति।

बुद्ध्या विषमविज्ञानं विषमं च प्रवर्तनम्। प्रज्ञापराधं जानीयान्मनसो गोचरं हि तत्॥³

^{1.} श्रीमद्भगवद्गीता 16.24

^{2.} चरकसंहिता - शारीरस्थानम् - 1.-103-108

^{3.} चरकसंहिता - शारीरस्थानम् - 1.109

दुर्बलबुद्धिवशात् अनुचितरीत्या विषयाणाम् अवगमनम्, तस्य अनुचितज्ञानस्य अनुचितरीत्या क्रियान्वयनमपि प्रज्ञापराधं कथ्यते यत् मनसः इन्द्रियस्य च वस्तुभिः विषयैश्च अनुचितज्ञानसम्बद्धं स्थापयति।

- कर्मवाद: आयुर्वेद: -
- कीटाण्वाद: ऐलोपति
- 🗲 ईर्ष्याशोकभयक्रोधमानद्वेषादयश्च ये।
- मनोविकाराप्याहुः सर्वे प्रज्ञापराधजा।।¹
- 🕨 स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला।
- प्रज्ञापराधात्सम्भृते व्याधी कर्मज आत्मन:।²

भगवतगीतायामिप उक्तमिस्त यत् चिन्तयतः शब्दादीन् विषयविशेषान् आलोचयतः पुरुषस्य आसिक्तः प्रीतिः तेषु विषयेषु उत्पद्यते। प्रीतेः तृष्णा समुत्पन्ना भवति। तृष्णायाः क्रोध उत्पद्यते।

चिन्तयतः शब्दादीन् विषयविशेषान् आलोचयतः पुरुषस्य आसक्तिः प्रीतिः तेषु विषयेषु उत्पद्यते। सङ्गात् प्रीतेः समुत्पद्यते कामः तृष्णा। कामात् कुतश्चित् प्रतिहतात् क्रोध अभिजायते।।

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते। संगात् संजायते कामः कामात्क्रोधोभिजायते॥

ये प्रज्ञापराधं कुर्वन्ति तेषां शरीरं स्वस्थं न भवित अर्थात् रोगग्रस्ताः भविति। चिकित्सकस्य पार्श्वे गत्वा अपि रोगस्य निदानं भिवतुं नार्हित तदा चिकित्सकः उपिदशित यत् चिन्तनम् अधिकं मास्तु तेन रोगः वर्धते न तु क्षयते। विज्ञाने उक्तमस्ति यद् सर्वेऽिप रोगाः मिस्तिष्केनोत्पन्नाः भविन्त। यदि कोऽिप अयोग्यकर्म अशुभकर्म वा करोति तिर्हि तस्य मिस्तिष्के विकाराः उत्पद्यन्ते। वर्तमाने प्रज्ञापराधेन बहवः रोगा उत्पद्यन्ते यथा– मधुमेहः, रक्तचापः, पक्षाघातः इत्यादयशारीरिकरोगाः। तथैव मानिसकिविकाराः यथा– Insomnia, Anxiety and Depression, Alzheimer's disease,, ADHD etc. अतः कर्म विचिन्त्य करणीयम् तेन मनिस च एतादृशाः मानिसकिविकाराः नोत्पद्यन्ते। तथैव मानवस्य शरीरस्य कृते यत् खाद्यमस्ति तत् खाद्यम् उपयुक्तमनुपयुक्तमिति ज्ञात्वा भोक्तव्यम्। तेन शरीरे रोगाः न प्रविशन्ति। वात्त–पित्त–कफेत्यादीनां सन्तुलनेन शरीरः रोगमुक्तः भवित। वर्तमाने गोलकायजनाः

^{1.} च.सू.स्था. 1.7.51-52

^{2.} च. सू.स्था. 11

^{3.} श्रीमद्भगवतगीता-2.62

कृशकायशरीरं पातुमिच्छन्ति। कृशकायशरीरस्य कृते ते ज्ञात्वा किमपि खादन्ति किमपि कुर्वन्ति। तेन शरीरे समस्याः उत्पद्यन्ते। अतः खादने वदने करणे ज्ञात्वा अपि अनुचितकर्मणि मा भवन्तु। प्रज्ञापराधेन विना मनुष्य उत्तमजीवनं यापियतुं शक्नोति।

सन्दर्भग्रन्था:-

- 1. डॉ. रा. गायत्री, मुरलीकृष्ण:, आचार्य:, के.सं.वि.वि., देहली, प्रज्ञापराध: मुल्यशिक्षा, शोधपत्रप्रस्तुतीकरणम्।
- 2. Patil, Asmita., (2018). The Concept of Pragyaparadh with respect to the factor cause life style disorder. Volume(1), Page Numbers 112-114. https://www.iamj.in
- 3. Jha, Srujan. Amarkosh online applicationhttps://play.google.com/store/apps/details?id=org.srujanjha.amarkosh-hl=en_IN&gl=US
- 4. Clark, D.A., Beck, A. T., & Alford, B.A. (1999). Scientific foundations of cognitive theory and therapy of depression. New York, NY, USA: Wiley
- 5. Deole YS, ThakarAB, Chandola H, Ravishankar B. Observational study on external social and lifestyle related factors and their role in pathogenesis of premature ageing and stress. AYU [serial online] 2012 [cited 2021 Mar 24]:33:378-86. Available from: https://www.ayujournal.org/text.asp?2012/33/3/378/108828.
- 6. Rnic K, Dozois DJ, Martin RA. Cognitive Distortions, Humor Styles, and Depression, Eur J Psychol. 2016:12(3):348-362. Published 2016Aug 19. doi:10.5964/ejop.v12i3.1118
- 7. Croskerry, Pat MD, PhD The Importance of Cognitive Errors in Diagnosis and Strategies to Minimize Them, Academic Medicine: August 2003 Volume 78 Issue 8 p 775-780



नैषधचरितालोके वैदिकदेवस्य स्वरूपम्

-टुम्पा जाना*

ISSN: 0975-1769

'विद्'- धातुना सह घञ्-प्रत्ययस्य (हलश्च) योगे वेदशब्दो निष्पन्नः। विद्-धातोः चतुर्विधः अर्थः-ज्ञानम्, सत्ता, लाभः विचारणम् च। अतः येन मनुष्याः जानन्ति, भवन्ति, प्राप्नुवन्ति, विचारयन्ति च स एव वेदः। दयानन्द-सरस्वती तस्मात् ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायाम् अवदत्-विद्ज्ञाने, विद्सत्तायाम्, विद्लृलाभे, विद्विचारणे एतेभ्यो हलश्चेति सूत्रेण करणाधिकरणयोर्घञ् प्रत्यये कृते वेदशब्दः साध्यते। विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति विन्दन्ते लभन्ते, विन्दते विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः'। वेदं विना किमिप ज्ञानं न सम्पूर्णं भवति। अत्रैव सर्वज्ञानं निहितमस्ति। अतः वेदानां ज्ञानाहरणं कृतिषु तेषां च प्रभावः प्रायः सर्वेषां पण्डितानां संस्कृतकवीनां महाकवीनां च मध्ये दृश्यते। महाकविः श्रीहर्षो नािप एतेषु व्यतिक्रमः। तस्य ग्रन्थे तस्मात् वैदिकसाहित्यस्य अनुशीलनं दरीदृश्यते। विशेषतः वैदिकदेवस्य स्वरूपं वैशिष्ट्यं वा।तेषां वैशिष्ट्यानाम् उल्लेख एव एतस्य प्रबन्धस्य उद्देश्यः।

महाकाव्यपरम्परायां श्रीहर्षस्य 'नैषधचरितम्' स्यात् संस्कृतसाहित्यस्य अन्तिमं महत्वपूर्णं महाकाव्यम्। श्रीहर्षः अतीव विद्वान् आसीत्, यतः ग्रन्थेषु तस्य विविधशास्त्रस्य पारदर्शिता लक्षिता। तस्य लिखितेषु बहुग्रन्थेषु सर्वाधिकः श्रेष्ठः तथा लोकप्रियो ग्रन्थः 'नैषधचरितम्'। द्वाविंशसर्गेषु रचितस्य अस्य महाकाव्यस्य कथावस्तु महाभारतस्य वनपर्वस्य नलोपाख्यानम्। ग्रन्थोऽयं नल-दमयन्त्योः प्रेमकाहिन्या परिपूर्णोऽपि अत्र साहित्यस्य चमत्कारिता अतुलनीया। संस्कृतसाहित्यस्य तस्मात् प्रसिद्धा उक्तः-

तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः। उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः॥

अस्मिन् महाकाव्ये न केवलं काव्यस्य रमणीयता, अपि च अस्ति सर्वेषां शास्त्राणां ज्ञानम्। श्रीहर्षेण सर्वेषां शास्त्राणां ये तावत् सिद्धान्ताः सन्ति, ते इतिवृत्तवर्णनच्छलेन ग्रन्थे समुपस्थिता, अर्थात् वेदवेदान्तन्यायादिदर्शनेषु राजनीतिशास्त्र-प्रभृतिषु च यानि तत्त्वानि वर्तन्ते, तानि तत्त्वानि अस्मिन् महाकाव्ये समुपस्थाप्यन्ते। एतस्मात् कारणात् नैषधचरितम् अवलम्ब्य श्रूयते- 'नैषधं विद्वदौषधम्' इति। अस्याः

^{*} सह-अध्यापिका नाडा़जोल-राज-कलेज (पश्चिमवङ्ग)

^{1.} ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, युधिष्ठिर-मीमांसक:, पृ-23

उक्तेः तात्पर्यं केवलं नैषधचिरते विद्यावताम् एव अवगम्यते।विदुषां मनिस यत् किञ्चित् अज्ञानजितं मालिन्यं वर्तते, तस्य मालिन्यस्य अपनोदनं नैषधचिरितस्य पाठादेव भवित, यतः श्रीहर्षेण सर्वशास्त्रीयचिन्तानां दर्शनतत्त्वानां च समुपस्थापनं नैषधचिरिते कृतम्। नैषधचिरितस्य प्रतिपादितः अर्थः तस्मात् सहजेन न उपलब्धः। स्वयमेव श्रीहर्षेण अङ्गीकृतं यत् साधारणमितनां दुर्मेधसां वा यथा ग्रन्थेऽस्मिन् सहजेन प्रवेशो न स्यात्, एतदर्थं स्वेच्छया ग्रन्थग्रन्थं केषुचित् स्थलेषु लिखितम्-

ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित् क्वचिदिप न्यासि प्रयत्नान्मया। प्राज्ञन्मन्यमनाः हठेन पठिती मास्मिन् खलः खेलतु॥

श्रीहर्षस्य अनेन वचनेन स्पष्टं यत् काव्येऽस्मिन् विविधशास्त्रस्य उपस्थापनं तेन कृतम्। येषु वेदशास्त्रम् अन्यतमम्।

वेदशास्त्रस्य प्रधानो विषयो देवता। प्रत्येकं वैदिकमन्त्रे अस्ति एका अधिष्ठात्री देवता। मन्त्रैः तासां प्रशंसा तथा आवाहणं कृतं मन्त्रद्रष्टृभिः ऋषिभिः। एतासां देवानाम् उत्पत्तिः कदा कथम् अभवत् अस्मिन् विषये स्थितं प्रमाणम् असम्भवम् एव। यतः बहुप्राचीनजनजातिः कालस्य करालग्रासे ग्रस्ता। तेषां संस्कृतिरिप ताभिः सह विलुप्ता जाता। येषां प्राचीनजनजातीनां सामान्यपरिचयः प्राप्यते, तेषाम् अनुशीलनेन ज्ञायते यत् ते जीवनधारणस्य प्रधानं कारणं तथा संस्कृतिं देवतारुपेण पूजन्ति स्म। अस्मिन् विषये प्रमाणमेकं भवति प्राचीनरोमस्य कर्मकाण्डयुक्तम् 'इन्दिगितामेन्ता' इति पुस्तकम्। ग्रन्थोऽयं यद्यपि अधुना न प्राप्यते, तथापि 'एनसाइक्लोपीडिया अफ रिलिजन एन्ड इथिक्स' इति ग्रन्थे अस्य उल्लेखः अस्ति। तत्रोक्तं प्राचीनरोमवासिनां स्तुतयः देवताः तेषां संस्कृत्या तथा जीविकया सह सम्पर्कयुक्ताः। तदानीन्तनकाले तेषां जातीनां प्रधाना जीविका स्यात् कृषिकार्यम्। अतः कृषिकार्येण सह संयुक्ताः देवताः तत्रैव दृश्यन्ते। यथा– 'सातुर्नसः' बीजवपनस्य सीरीसः च शस्यानां वृद्धिकारकः देवः आसीत्। तत्र न केवलं देवस्य, अपि च देव्याः उल्लेखः अस्ति। 'फ्लोरा' इति देवी स्यात् पुष्पस्य अधिष्ठात्री देवता।²

वैदिकधर्मेऽपि एषा प्रवृत्तिः अर्थात् जीवनयापनेन सह सम्पर्कयुक्ता देवता प्राप्यते। वेदे वर्णिता प्रायः प्रत्येकं देवता एकैकस्य पार्थिवपदार्थस्य अधिष्ठातृदेवता। यथा-पार्थिवस्य अग्नेः अधिष्ठाता देवता अग्निः, सूर्यस्य देवता सूर्यः सविता वा आदित्यदेवः वा, झञ्झावातस्य देवता मरुत्, जलस्य देवता वरुणदेवः इति। वस्तुतः सूर्यः द्युलोकस्य, वायुः इन्द्रः वा अन्तरिक्षलोकस्य एवञ्च अग्निः पार्थिवलोकस्य उपद्रवात् पृथिवीं रक्षन्ति इति मन्यन्ते ऋषयः। यास्काचार्येण तस्मात् उक्तम्-'तिस्रः

^{1.} नैषधचरितम्, 22/152

^{2.} वैदिक देवता : उद्भव और विकाश, प्रथमखण्डम्, पृ.-5

एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथ्वीस्थानः। वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः। सूर्यो द्युस्थानः। तासां महाभागात् एकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति अपि ता कर्मपृथकत्वात्। यथा होताध्वर्युब्रह्मोद्गातेत्यप्येकस्य सतः'।¹ यद्यपि निरुक्तकारः यास्काचार्यः अन्यत्र अवदत् सर्वस्याः देवतायाः मूलं स्यात् अग्निदेवता। ऐतरेयब्राह्मणे (1/1) तथा तैत्तिरीयब्राह्मणे (3/2/1/10) अपि तुल्यं वचनं दृश्यते-'अग्निवैं सर्वा देवताः'। बहुत्र उल्लिखितं यत् आत्मा एव देवता। यथा–'आत्मा देवता¹² इति। विविधाः देवताः स्यात् तस्य अङ्गानि– 'महाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयन्ते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति'।³ ऋग्वेदसंहितायामपि एवं वाक्यं दृश्यते– 'एकैव वा महानात्मा देवता, स हि सर्वभूतात्मा। तद्विभूतायान्या देवताः'।⁴ अतः देवताभिः सह सम्बन्धयुक्ते प्रत्येकं पदार्थे आत्मा एव उपस्थितः। आत्मा हि देवानां सर्वम् एव। स एकमात्रं सत्। यस्य वर्णना ऋषिणा बहुधा कृता–'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति',⁵ एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।⁴

वैदिकदेवानां स्वरुपं तथा वैशिष्ट्यं विविधम्। नैषधचरितेऽपि वैदिकदेवतानां कानिचित् वैशिष्ट्यानि श्रीहर्षेण प्रतिपादितानि। तानि एव वैशिष्ट्यानि अत्र आलोचितानि।

देवाः यज्ञै सन्तुष्टाः भवन्ति यज्ञकारिणां च अभीष्टं पूरयन्ति। श्रीहर्षेण तस्मात् प्रोक्तं यत् नलस्य यज्ञेन सन्तुष्टाः देवताः तस्य राज्ये स्वर्गीयभोग्यवस्तूनि असृजन्-

इष्टेन पूर्तेन नलस्य वश्याः स्वर्भोगमत्रापि जजन्त्यमर्त्याः। महीरुहो दोहदसेकशक्तराकालिकं कोरकमृद्गिरन्ति॥ (3/21)

अन्यत्र तेन उदितं देवता: नलस्य यज्ञेषु तृप्यन्ति- 'गिरापि वक्ष्यन्ति मुखेषु तर्पणादिदं न देवा मुखलज्जयैव ते'। मिल्लिनाथेन अस्य व्याख्यायां जीवातुटीकायाम् उल्लिखितं यत्- 'मुखेषु तर्पणात् प्रीणनात् देवा:'। चतुर्दशसर्गे कविना कथितं यत् कदाचित् देवा: प्रत्यक्षरुपेण उपस्थिता: भूत्वा यज्ञस्य आहुतिद्रव्यानि स्वीकुर्वन्ति।

^{1.} निरुक्तम्, 5/2

^{2.} तै.स. 2/5/11/7

^{3.} निरुक्तम्, 7/4

^{4.} 港南, 2/14,16,18

^{5.} 港南, 1/164/46

^{6.} ऋक, 10/114/5

नैषधचरितम्, 3/21

^{8.} नैषधचरितम्, 3/153

अत: इन्द्रदेव: नलाय वरदानकाले आह- अहं प्रत्यक्षरूपे उपस्थाय तव यज्ञस्य आहुतिद्रव्यं उपभोक्ष्ये-

प्रत्यक्षलक्षामवलम्ब्य मूर्तिं हुतानि यज्ञेषु तवोपभोक्ष्ये। संशेरतेस्माभिरवीक्ष्य भुक्तं मखं हि मन्त्राधिकदेवभावे॥

मिल्लिनाथेन तस्मात् तस्य टीकायां भिणतं- 'हे नल! तव यज्ञेषु प्रत्यक्षेण लक्ष्यां दृश्यां, मूर्तिं विग्रहम् अवलम्ब्य हुतानि हवींषि, उपभोग्ये अनुभोक्षे'। वस्तुतः देवाः अग्निमाध्यमेन यज्ञस्य हविर्भागं स्वीकुर्वन्ति। येन कारणेन अग्निः 'देवतानां मुखम्' इत्यनेन विभूषितः- 'अग्निवैं देवानां मुखम्'। अतः प्रत्येकं यज्ञस्य मूलोद्देश्यं भवति आहुतिद्रव्येन देवानां सन्तुष्टिविधानं तेभ्यश्च अभीष्टफललाभम्।

वैदिकदेवस्य अन्यदेकं स्वरूपं स्यात् स्तुत्या देवानामाराधनम्। येन कारणेन वेदे सूक्तस्य आविर्भावः। सु उक्तम्=सूक्तम्। शोभनं सुन्दरं वा वचनम् एव सूक्तम्। वेदस्य मन्त्रभागाः सूक्तैः परिपूर्णाः। प्राचीनार्यजातयः प्राकृतिकशक्तेः स्वेषां रक्षणार्थं ता देवता इति मत्वा शोभनेन वचनेन स्तुतिम् अकुर्वन्। अतः वेदे सूक्तैः देवानाम् अर्चना विहिता। वस्तुतः प्रत्येकं सूक्ते एकाधिकाः मन्त्राः दृश्यन्ते। यास्काचार्येण तस्मात् भणितं निरुक्तग्रन्थे- 'यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तद्दैवतः स मन्त्रो भवति'। अतः प्रतिपाद्यते यत् स्तोता सूक्तैः देवतानां सन्तुष्टिं विधायते। नैषधचरितेऽपि उक्तं वेदस्य कार्यं भवति देवानां गुणकीर्तनम्- 'श्रुतिः सुराणां गुणगायणी'। अस्मिन्नेव महाकाव्ये दृश्यते दमयन्ती नलरूपधारिषु इन्द्रादिदेवेषु प्रकृतं नलं चिह्नितार्थम् इन्द्रादिदेवानां स्तुतिम् करोति-

वैशद्दृह्यैभ्रादिमाभिरामैरामोदिभिस्तानथ जातिजातैः। आनर्च गीत्यन्वितषट्पदैः सा स्तवप्रसूनस्तवकैर्नवीनैः॥

पश्चात् दृष्टं यत् दमयन्त्याः एतेन श्रुतिवचनेन देवताः सन्तुष्टाः जाताः-'भक्त्या तयैव प्रससाद तस्यास्तुष्टं स्वयं देवचतुष्टयं तत्'। ते देवाः न केवलं सन्तुष्टाः, अपि तु दमयन्त्याः अभीष्टमपि पूरयन्ति। अर्थात् दमयन्ती इन्द्रादिचतुष्टय-देवतासु नलं पृथकीकृत्वा स्वयंवरसभायां तस्मै वरमाल्यम् अददत्। तया एतदपि घोषितं यत् इन्द्रादिदेवानाम् अनुग्रहं विना सा नलं पितरूपेण न प्राप्नोति-

^{1.} नैषधचरितम्, 14/70

^{2.} ऐ.ब्रा. 7/16

^{3.} निरुक्तम्, 7/1/1

^{4.} नैषधचरितम्, 9/148

नैषधचरितम्, 14/6

^{6.} There are no sources in the current document. नैषधचरितम्, 14/8

चिह्नैरमीभिर्नलसंविदस्याः संवादमाप प्रथमोपजाता। सा लक्षणव्यक्तिभिरेव देवप्रसादमासादितमप्यबोधि॥

अतः निःसन्देहेन वक्तुं शक्यते यत् वैदिकाः देवाः स्तुत्या तथा सूक्तेन सन्तुष्टाः भवन्ति। येन कारणेन वेदे देवान् उद्दिश्य सूक्ताः विहिताः।

देवाः भवन्ति प्रभूतसम्पदः अधिष्ठातारः। तस्मात् कारणात् यज्ञैः सन्तुष्टाः भूत्वा देवाः नलस्य राज्ये स्वर्गीयभोगसामग्रीकरूपां सम्पदम् असृजन्-

इष्टेन पूर्तेन नलस्य वश्याः स्वर्भोगमत्रापि सृजन्त्यमर्त्याः। महीरुहो दोहदसेकशक्तरेशकालिकं कोरकमुद्गिरन्ति॥²

पञ्चमसर्गे दृश्यते देवराजः इन्द्रः तस्य अर्जितां सम्पदं सत्पात्रेषु दानार्थम् उद्ग्रीवम् आसीत्। एतत् वचनं तेन नारदस्य समीपे प्रकाशितं कृतम्-

पूर्वपुण्यविभववायलब्धा सम्पदो विपद् एव विसृष्टाः। पात्रपाणिकमलार्पणमासां तासु शान्तिकविधिर्विधिदृष्टः॥

देवा: प्रभूतसम्पद: अधिष्ठातार:- एतस्य वचनस्य पुष्टि: देवशब्दस्य व्युत्पत्तिमध्ये अस्ति। आचार्य: यास्कः देवशब्दस्य निर्वचनप्रसङ्गे अवदत्- 'देवो दानाद्वा'। अर्थात् यो दानं करोति स देवः। एतेन प्रतिपाद्यते यत् देवान् निकषा सर्वप्रकारं धनमस्ति। येन कारणेन दानेषु समर्थाः भवन्ति। दानशब्दः ऐश्वर्यस्य वाचकः- 'दानाद्वा ददात्यसौ वैश्वर्याणि'। निरुक्तवृत्यनुसारं देवता जीवान् प्रति ऐश्वर्यं प्रदायित। ऐश्वर्यस्य अर्थः धनम्। पुनः धनस्य एका संज्ञा वसुरिष। तस्मात् अष्टवसवः धनानां धारकाः। बृहदारण्यकोपनिषदनुसारं अष्टवसवः यथा-अग्निः, पृथिवी, वायु, अन्तिरक्षम्, आदित्यः, द्यौः, चन्द्रमा नक्षत्रं च- 'अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तिरक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि च, एते वसवः। इमे अष्टवसवः संसारस्य सर्वं वस्तु धारयन्ति–वसवो यद् विवसते सर्वम्'। संसारं निवासयोग्यं कुर्वन्ति– 'इदं सर्वं जगत् वासयन्ते निवासात्मकं कुर्वन्ति'। ऐतेषु अष्टवसुषु संसारस्य सर्वं हितमस्ति, अतः ते वसवः- 'एतेषु हीदं सर्वं वसु हितमिति तस्मात् वसवः'। अतः प्रतिपाद्यते

^{1.} नैषधचरितम्, 14/24

^{2.} नैषधचरितम्, 3/21

^{3.} नैषधचरितम्, 5/13

^{4.} निरुक्तम्, 7/4/15

^{5.} वृहदारण्यकोपनिषद, 3/9/3

^{6.} निरुक्तम्, 12/4/41

^{7.} हरिस्वामी, श.ब्रा. 11/6/3/6

^{8.} बृ.उ. 3/9/3

यत् अष्टवसवः धनानां धारकाः। येन कारणेन तान् निकषा धनप्राप्त्यर्थं स्तोतुः प्रार्थना दृश्यते- 'अस्मे धत्त वसवो वसूनि'। श्रीमद्भागवतानुसारं धनकामी जनः वसूनां प्रार्थनां करोति- 'वसुकामो वसून्'। पुनः अष्टवसुषु अग्निः अन्यतमः। ऋग्वेदे अस्य अग्नेः स्तुतिः 'रत्नधातमम्' इत्यनेन प्राप्यते'। 'रत्नधातमम्' इत्यस्य अर्थः प्रभूतरत्नस्य धारकः। सायणाचार्येण तस्मात् अस्य भाष्ये कथितम्- 'रत्नधातमं यागस्वरूपाणां रत्नानामितशयेन धारियतारं पोषियतारं वा'। अग्निदेवतावत् अन्याः देवताः अपि सम्पदः धारकाः, यतः अग्निः सर्वेषां देवानां मूलस्वरूपम्- 'अग्निवें सर्वा देवताः'।

विश्वस्य सर्ववृत्तान्तम् अवगताः स्युः वैदिकदेवताः। तासु विश्वस्य सर्ववस्तोः ज्ञानं वर्तते। नैषधचरिते तस्मात् पठितम्-

तदिखलिमह भूतं भूतगत्या जगत्याः परिरभिलपित स्म स्वात्मदूत्वतत्त्वम्। त्रिभुवनजनमाद्भृतान्तसाक्षात् कृतिकृतिषु निरस्तानन्दिमद्रादिषु द्राक्॥

श्लोकेऽस्मिन् नलः आह इन्द्रादयः देवाः त्रिभुवनस्य सर्ववृत्तान्तमवधारणे समर्थाः, अर्थात् ते सर्वज्ञाः। नारायणेन तस्य टीकायां तस्मात् कथितम्- 'इन्द्रादिषु त्रिभुवे जनानां यावन्वृत्तौ निष्पन्नो वृत्तान्तः समाचारस्तस्य साक्षात्कृतौ प्रत्यक्षीकरणे कृतिषु कुशलेषु'। अन्येषु सर्गेषु अपि एतस्य वचनस्य पुनरावृत्तिः दृश्यते। सप्तदशसर्गे स्पष्टमुक्तम्- 'वेदश्चेदिस्त सर्वज्ञः'। नवमसर्गे दमयन्ती अब्रवीत् स्वप्नावस्थायामिप सा अन्यपुरुषस्य चिन्ता नाकरोत्, एतस्य एकमात्रं प्रमाणं देवः एव। दिवानां सर्वदर्शित्वं स्वीकृतम्। अस्मन्नेव सर्गे अन्यत्र उक्तं देवाः मनुष्यानां सर्वाः कामनाः ज्ञातुं समर्थाः, सर्वमेव वस्तु प्रत्यक्षे ते योग्याः। एकोनविंशतिसर्गे महेश्वरस्य सर्वविदित्वरूपं

2. श्रीमद्भागवत, 2/3/3

^{1.} यजु. 8/18

^{3.} ऋग्वेद, 1/1/1

नैषधचरितम्, 9/159

नैषधचरितम्, 17/77

नैषधचरितम्, 9/32

^{7.} नैषधचरितम्, 5/101

^{8.} नैषधचरितम्, 5/105

^{9.} नैषधचरितम्, 5/106

गुणम् उल्लिखितम्- 'त्वय्यशेषविदि जाग्रति सर्वविद् ब्रवतया शितिकण्ठः'। अस्य श्लोकस्य व्याख्यायां मिल्लिनाथेन जीवातुटीकायां प्रोक्तम्- 'ब्रह्मामहेशाभ्यामिप सकाशात्वमेव परमपुरुषः सर्वज्ञः इति भावः'। वेदेऽपि देवानां सर्वज्ञत्वं सिद्धम्। ऋग्वेदस्य अग्निसूक्ते अग्निदेवप्रसङ्गे 'किवक्रतुः' अर्थात् सर्वज्ञः इति विशेषणं प्रयुक्तम्-

अग्निहोंता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः देवो देवेभिरागमत॥²

अस्य मन्त्रस्य 'कविक्रतुः' इत्यस्य व्याख्यायां स्वामी दयानन्द सरस्वती अवदत्– 'सर्वज्ञः क्रान्तदर्शनो वा'। यास्काचार्येण उक्तम्– 'सर्वाणि प्रज्ञानानि प्रतिमुञ्चते। मेधावी कविः क्रान्तदर्शनो भवति'। अन्यत्रापि अग्नेः सर्वज्ञत्वस्य परिचयः प्राप्यते– 'विश्वं स वेद'। शतपथब्राह्मणे देवानां सर्वज्ञता प्रदर्शिता। 5

श्रीहर्षेण सप्तदशसर्गे कथितं यत् देवता सत्यवाक्- 'अबन्धवाक्। अस्य पदस्य मिल्लनाथकृते व्याख्या यथा- 'अबन्ध्यवाक् अमोघवचनः, वेदरूपसत्यवचने इत्यर्थः। अन्यत्र अर्थात् द्वितीयसर्गे सत्यवादिना बृहस्पितना सह नलस्य तुलना दृश्यते- 'इति तं स विसृज्य धैर्यवातृपितः सुनृतवाग् बृहस्पितः'। सत्यवाक् इत्येवं वैशिष्ट्यं वैदिकदेवानां क्षेत्रेपि प्रयुक्तम्। यथा शतपथब्राह्मणे उक्तम्- 'सत्यं वै देवाः, अनृतं मनुष्याः' अर्थात् देवताः सत्यरूपाः, मनुष्याः च असत्यरूपाः'। अस्मिन्नेव ब्राह्मणे अन्यत्रापि प्राप्तं यत् प्रथमं तावत् देवताः सत्यमयाः असत्यमयाश्च आसन्, पश्चात् असत्यं परित्यज्य केवलं सत्यमाश्रितवन्तः'। ऋग्वेदस्य प्रथममण्डले मधुच्छन्दा ऋषिः अग्निदेवाय 'सत्यम्' इति विशेषणं प्रयुक्तवान्-

अग्निहोता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः देवो देवेभिरागमत'॥

बृहद्देवताग्रन्थे उक्तं यत् ब्रह्म सत्यम् एव-ब्रह्म वाक् ब्रह्म सत्यं च ब्रह्म सर्वमिदं जगत्'। ¹⁰ अतः वैदिकदेवाः सत्यवादिनः।

^{1.} नैषधचरितम्, 21/90

^{2.} ऋग्वेद, 1/1/5

^{3.} निरुक्तम्, 12/13

^{5.} शतपथब्राह्मण, 3/4/2/6-7

^{6.} नैषधचरितम्, 2/63

^{7.} शतपथब्राह्मण, 1/1/1/4

^{8.} शतपथब्राह्मण, 6/4/1/12-16

^{9.} ऋग्वेद, 1/1/5

^{10.} वृहद्देवता, 2/40

देवा: अनिमेषदृष्टय:। देवानाम् अस्य वैशिष्ट्यस्य उल्लेख: नैषधकारेण कृत: स्वग्रन्थे-

अस्वेदगात्राचलश्चामरौधैरमीलनेत्राः प्रतिवस्तुचित्रैः। अम्लानमाला विपुलातपत्रैर्देवा नृदेवाश्च भिदां न भेजुः॥

श्लोकेस्मिन् 'अमीलनेत्राः' इत्यस्य अर्थः अनिमेषदृष्टयः। तस्मात् मिल्लनाथेन प्रोक्तम्- 'अमीलानि अनिमिषाणि, यद्वा न मीलन्तीत्यमीलानि पश्चाद्यश्च। तानि नेत्राणि येषां ते तथोक्ताः अनिमिषदृष्टयः इत्यर्थः'। अन्यत्र महाकाव्यकारेण इन्द्रदेवप्रसङ्गे भणितं तस्य अर्थात् देवराजस्य इन्द्रस्य सहस्राणि चक्ष्र्षेष अनिमिषाणि-

इत्युदीर्घ मघवा विनयर्धिं वर्धयन्नविहतत्वभरेण। चक्षुषां दशशतीमनिमेषां तस्तिवान् मुनिमुखे प्रणिधाय॥²

चतुर्दशसर्गे दृश्यते नलरूपधारिषु इन्द्रादिदेवेषु नलं चिह्नितं कृतवती दमयन्ती 'देवानां नेत्राणि अनिमिषाणि' इति वैशिष्ट्येन। यतः सा जानाति यत् देवानां नेत्राणि अनिमिषाणि नलस्य च नेत्रौ अनिमिषौ पलकयुक्तौ वा।³ एतत् वैशिष्ट्यं वैदिकदेवानां क्षेत्रेपि प्रयुक्तं स्यात्। शतपथब्राह्मणे तस्मात् प्राप्यते यत् देवताः कदापि शयनं न कुर्वन्ति- 'न वै देवाः स्वपन्ति'।⁴ अन्यत्र कथ्यते देवानां चक्षुषः कदापि अश्रुः न आयातः।⁵ एतेन अवगम्यते यत् निद्रा तथा अश्रुविमोचनं पलकविहीनस्य चक्षुषः क्षेत्रे एव प्रयोज्यम्। गोभिलगृह्मसूत्रे प्राप्यते देवाः पलकविहीनाः, ते सदा मनुष्याणां कर्मणः अनुशीलनं कुर्वन्ति।^६ मित्रदेवप्रसङ्गे वैदिकसाहित्ये उल्लेखः अस्ति यत् स अनिमिषदृष्ट्या मनुष्याणां कर्म पश्यित- 'मित्रः कृष्टीरिगिषाभिचष्टे'।⁷

वैदिकदेवा: अमृता: अमरा: वा। 'स्वाहा देवा अमृता मादयन्ताम्', 'देवाम् अमृतान् पिप्रियं च', 'यत्र देवा अमृतमानशाना:'। एवम् प्रकारेण वैदिकसाहित्ये देवानां अमरत्वं सिद्धम्। शतपथब्राह्मणे उल्लेखमस्ति यत् प्रथमं तावत् देवा: अमरा:

^{1.} नैषधचरितम्, 10/33

नैषधचरितम्, 5/19

नैषधचरितम्, 14/19

^{4.} शतपथब्राह्मण, 3/2/2/22

^{5.} मै.स. 2/1/10, ऐ.ब्रा. 5/1/2

^{6.} गोभिलगृह्यसूत्र, 4/6/16

^{7.} ऋक्. 3/53/1

^{8.} 港南. 3/4/11

^{9.} ऋक. 7/17/4

^{10.} यजु: 32/10

नास्ति, पश्चात् ते केनचित् यज्ञेन अमरतां प्राप्नोति। शतपथब्राह्मणस्य काहिनी एका प्राप्यते, यत्र उक्तं यत्– देवः असुरश्च उभयौ प्रजापतेः अपत्यौ। उभयौ सर्वदा युद्धं लिप्तौ स्यात्। तौ मरणशीलत्वात् मृत्युं लभेते। देवेषु केवलम् अग्निः अमर्त्यः आसीत्। अनन्तरं देवाः असुराणां पराजितं कर्तुम् अमृतस्वरूपां अग्न्याधेयं पश्यन्ति स्म। तदा ते इदम् अमृतम् अन्तरात्मिन धारियत्वा अमरा अभवन्। वैदिकसाहित्यस्य कुत्रापि आप्यते यत् सिवताग्न्यादिभ्यः देवेभ्यः अन्ये देवाः अमृतत्वं लभन्ते। यथा– 'त्वां विश्वे अमृतं जायमानं शिशुं न देवा अभिसंनवन्ते (अग्निः), देवेभ्यो हि प्रथमं यज्ञियेभ्योमृतत्वं सुविस भागमुत्तमम् (सिवता)। श्रीहर्षेणापि तस्य ग्रन्थे देवानाम् अमृतत्वं प्रतिष्ठितम्। षोडशसर्गे तेन प्रोक्तं यत् मनुष्याः न अमृतपानकारिणः–

यद्यप्यपीता वसुधालयैः सुधा तदप्यदः स्वादु ततोनुमीयते। अपि क्रतूषर्बुधदग्धगन्धिने स्पृहां यदस्मै दधते सुधान्धसः॥

पञ्चमसर्गेपि श्रीहर्षेण सममेव वचनं कथितम्- 'वीक्ष्य व: खलु तनूममृतादाम् दृङ्नमज्जनमुपैति सुधायाम्'।

देवतासु बहुरूपधारणस्य क्षमतास्ति। तस्मात् देवाः इच्छानुसारं विविधरूपं धारयन्ति। नैषधचरितस्य त्रयोदशसर्गे दृश्यते इन्द्रादिचतुष्टयदेवाः दमयन्तीं पत्नीरूपेण कामयन्तः नलरूपं धारयित्वा स्वयंवरसभायाम् उपस्थितवन्तः। एतेन दमयन्ती प्रकृतं नलं ज्ञातुम् असमर्था आसीत्। यद्यपि सा परवर्तीकाले इन्द्रादिदेवानां सन्तुष्टिविधानेन एव नलं ज्ञातुं समर्थाः शक्याः। दमयन्ती देवानां नलवत् इदं रूपधारणम् 'मायाजालम्' इत्यनेन विभूषितवती-

> मुग्धा दधामि कथिमध्थमथापशङ्कां संक्रन्दनादिकपटः स्फुटमीदृशोयम्। देव्यानयैव रचिता हि तथा तथैषां गाथा यथा दिगिधपानिप ताः स्पृशन्त॥

^{1.} शतपथब्राह्मणे, 11/1/2/12,11/2/3/6

^{2.} शतपथब्राह्मणे, 2/2/2/8-10

^{3.} 港南. 6/8/4

^{4.} ऋक्. 4/54/2

नैषधचरितम्, 16/7

नैषधचरितम्, 5/94

^{7.} नैषधचरितम्, 13/46

टीकाकारेण मिल्लिनाथेन अस्य श्लोकस्य व्याख्यायां निगदितम् 'संक्रन्द-नादीनाम् इन्द्रादीनां' कपटो माया, इति स्फुटं व्यवक्तम्। चतुर्दशसर्गे ते देवाः दमयन्तीमुद्दिश्य अकथयन् यत् त्वं कपटदेहम् अर्थात् नलदेहं परित्यक्तवताम् अस्माकं स्वविग्रहधारणं दृष्टा विस्मयाविष्टासि, अतः त्वं स्वेच्छानुसारं देहरूपान्तरिवद्या लभेत-

कुष्टकायमपहाय नो वपुबिभ्रतस्त्विस वीक्ष्य विस्मिता। आप्तुमाकृतिमतो मनीषितां विद्यया हृदि तवाप्युदीयताम्॥

नैषधकारस्य मते इयं विद्या भवित 'इन्द्रजालिवद्या'- 'वाधा वतेन्द्रादिभिरिन्द्र- जालिवद्याविदां वृत्तिवधाद् व्यधायि'।' अस्य श्लोकस्य व्याख्याप्रसङ्गे मिल्लिनाथेन प्रोक्तं- 'सेयं देवमायेति भावः'। अर्थात् टीकाकारस्य मते इन्द्रजालिवद्या भवित देवानां माया। एकविंशसर्गे श्रीहर्षेण एतदिप निगदितं यत् शिवः मायाशिक्तयुक्तः- 'कैयमर्धभवतोहे मायिना ननु भवः सकलस्त्वाम्'।³ वैदिकसाहित्यस्य विविधोपाख्यानेषु देवानां बहुरूलपधारणस्य क्षमता उल्लिखिता। केनोपनिषदि (तृतीयखण्डम्) दृश्यते देवासुरयोः युद्धे ब्रह्मा जयं प्राप्य तद्जयं देवेषु अर्पणं कृतवान्। परन्तु देवाः तद्जयं स्वेषामेव इति मत्वा आनन्दम् अकुर्वन्। अनन्तरं ब्रह्मा तेषां देवानां भ्रमं दूरीकृतवान् यक्षरूपं धारियत्वा।

देवानां वासस्थानं स्वर्गः। ते तत्र सर्वायासेन वसन्ति। शतपथब्राह्मणे उक्तं देवताः अमरतायाम् अर्थात् स्वर्गे निवासं कुर्वन्ति। ते यज्ञमाध्यमेन दिवम् अर्थात् स्वर्गं गतवन्तः- 'यज्ञेन वै देवाः। दिवमुपोदक्रामन्....'। तैत्तिरीयसंहितायामि (1/7/1/3) एवमेव वचनं प्राप्यते। अथर्ववेदे कथितं यत् देवताः पितृभ्यां सह स्वर्गलोके निवसन्ति (6/123/3)। नैषधचरिते श्रीहर्षेणापि तुल्यं वचनं प्रोक्तम्। तेन नलमाध्यमेन कथितम् इन्द्रादीनां स्वर्गवासिनां देवानाम् अभिलाषः कदापि न व्यर्थो भवति-

न व्यहन्यत कदापि मुदं यः स्वःसदामुपनयन्नभिलाषः। तत्पदे त्वदभिषेककृतां नः स त्यजत्वसमतामदमद्य॥⁵

^{1.} नैषधचरितम्, 14/9

^{2.} नैषधचरितम्, 14/70

^{3.} नैषधचरितम्, 21/102

^{4.} शतपथब्राह्मण, 1/7/3/1

नैषधचरितम्, 5/123

अत्र 'स्व:सदाम्' इत्यस्य अर्थः स्वर्गवासिनाम्। तस्मात् मिल्लिनाथेन प्रोक्तम्-'स्व:सदः स्वर्वासिनः'। षष्ठसर्गे नैषधकारः अवदत् देवाः परमेन सुखेन स्वर्गम् अधिवसन्ति- 'स्वर्गे सतां शर्म...'।

वैदिकदेवाः स्वप्रकाशाः अर्थात् ते यथा स्वप्रकाशेन स्वात्मानं प्रकाशयन्ति, तद्वद् सर्वान् पदार्थान् अपि प्रकाशयन्ति। तस्मात् यास्काचार्येण देवशब्दस्य व्युत्पत्तिप्रसङ्गे निगदितम्- 'दीपनाद्वा द्योतनाद्वा'।' अर्थात् निरुक्तकारस्य मते देवशब्दः दीपनार्थकात् द्योतनार्थकात् च दा- धातोः निष्पन्नो भवति। नैषधकारेणापि एवम् उक्तम्। तेन एकविंशसर्गे विष्णुदेवमुद्दिश्य 'स्वप्रकाशः' इति विशेषणं प्रयुक्तम्- 'स्वप्रकाशः। जड़ एष...'। नैषधचित्तमहाकाव्ये देवानां विविधं वैशिष्ट्यं दृश्यते। यथा-देवानां भाषा संस्कृतम् (10/34), ते निर्मलाः (13/147,14/20), घर्महीनाः (14/21), अम्लानाः (14/22), अवाङ्मनसगोचराः (21/54), ते सह विरोधे महाविपद् (14/41) इति। अधुना जिज्ञासा वैदिकदेवानां स्वरूपज्ञानस्य किं प्रयोजनम्? अस्य उत्तरे उक्तं वैदिककर्मेण लौकिककर्मेण च इष्टफलस्य सिद्धिः, यतः देवताः सुखदायिकाः। ते अनिष्टनिवारणं कृत्वा मनुष्यानां सुखं प्रदायन्ति। एतस्मात् कारणात् देवानां स्वरूपज्ञानं सर्वेषाम् अपरिहार्यम्। बृहद्देवताग्रन्थे तस्मात् कथितम् इष्टस्य सिद्ध्यर्थं देवतानां स्वरूपज्ञानं प्रयोजनम्। यावत् पर्यन्तं देवानां स्वरूपज्ञानं न भवित, तावत् पर्यन्तं वैदिककर्मस्य तथा लौकिककर्मस्य फलप्राप्तः न सम्भवित-

न हि कश्चिदविज्ञाय याथातथ्येन दैवतम्। लौक्यानां वैदिकानां वा कर्मणां फलमश्नुते॥

प्रत्येकं देवस्य द्वे रूपे स्त:- शान्तरूपम् उग्ररूपं च। शान्तरूपं सुखदा उग्ररूपं च दुःखदा। वायुदेवः शान्तः भवित यदा स शनैः शनैः वहित, परन्तु अतीव झञ्झया सह वाहितः वायुः उग्रः स्यात्। वस्तुतः अग्निवायुप्रभृितनां देवतानां सुखदुःखादिरूपं मनुष्यस्य नाधीनम्। तथापि यदि मनुष्याः तेषां यथार्थस्वरूपं जानन्ति, तिर्हे ते अनिष्टस्य निवारणम् इष्टस्य च लाभं कर्तुं सफलाः भविन्त। अधुनापि वैज्ञानिकाः प्राकृितकशक्तेः स्वरूपज्ञानाय सर्वदा अन्वेषणं कुर्वन्ति। येन ते प्राकृितकविपर्ययस्य नियन्त्रणं समयानुसारं करिष्यन्ति, एवञ्च सर्वेभ्यः इष्टप्राप्त्यर्थं सर्वदा प्रचेष्टां कुर्वन्ति। पुनः मनुष्याः देवताभ्यः सुखम्, समृद्धिम्, स्वर्गः, मोक्षम् इति प्राप्यन्ते। अतः वक्तुं शक्यते यत् देवतानां स्वरूपज्ञानं सर्वेषां प्रयोजनम्।

^{1.} नैषधचरितम्, 6/98

^{2.} निरुक्तम्, 7/4/15

^{3.} नैषधचरितम्, 21/53

^{4.} बृहद्देवता, 1/4

अनुशीलितग्रन्थपञ्जी-

- 1. दत्त, समीर कुमार (सम्पा.), नैषधचरितम् (प्रथम: सर्गः), कलकाताः संस्कृत बुक डिपो, 2002।
- 2. पत्न, मोहनदेव (सम्पा.), नैषधीयचरितम् (प्रथम: सर्ग:), दिल्ली: मोतीलाल बनारसी दास।
- 3. आचार्य, नारायण राम (सम्पा.), नैषधीयचरितम्, वाराणसी: चौखम्बा विद्याभवन, 2012।
- 4. विद्यारत्न, निवारणचन्द्र (सम्पा.), नैषधचरित, कलकाता: ववाटप्रेस, 1816।
- 5. तिवारी, 'यामलेश कुमार (सम्पा.), नैषधीयचरितम्, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 2017।
- 6. दत्त, शिव (सम्पा.), नैषधीयचरित, मुम्वाइ: नारायण सागर प्रेस, 1912।
- 7. शास्त्री, देवर्षि सनाढ्य (सम्पा.), नैषधीयचरितम्, चौखम्बा कृष्णदास एकाडेमी, 2013।
- 8. मिश्र, गुमान, नैषधकाव्य, श्रीवेङ्कटेश्वर यन्त्रालय, 1952।
- 9. शुक्ल, चण्डिकाप्रसाद, नैषधपरिशीलन, इलाहावाद: हिन्दुस्थानी एकाडेमी, 1992।
- 10. द्विवेदी, श्री महावीरप्रसाद, नैषधचरितचर्चा, लखनउ: गंगा ग्रन्थागार, 1933।
- झा, देवनारायण, नैषध समीक्षा, नाग पाविलशार्स, दिल्ली : द्विवेदी,
 इच्छाराम. नलचिरतम्, दिल्ली : नाग प्रकाशक, 1660।
- 12. दत्त जोशा, मथुरा, नैषध का काव्यशास्त्रीय अध्ययन, दिल्ली : परिमल पब्लिकाशन्स, 2015।
- मुखोपाध्याय, गोविन्दगोपाल, वैदिक साहित्य संकलन, वर्धमान विश्वविद्यालय:
 1365।
- 14. वन्ध्योपाध्याय, श्रीमित शान्ति, वैदिक साहित्येर रूपरेखा, कलकाता : संस्कृत पुस्तक भाण्डार. 2003।
- 15. वसु, डॉ. योगीराज, वेदेर परिचय, कलकाता:, फार्मा के एल एम प्राइभेट लिमिटेड, 2010।
- 16. शास्त्री, राजवीर, वैदिककोष, आर्ष साहित्य प्रचार द्रस्ट।
- 17. सूर्यकान्त, वैदिक कोश, वाराणसी : चौखम्बा कृष्णदास एकाडेमी, 2012।

18. मिश्र, आचार्य श्रीगंगाधर, वैदिक एवं वेदोत्तर भारतीय संस्कृति, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 2005।

- 19. शास्त्री, डॉ. सुखदा, वैदिक शब्दो का अर्थपरिशीलन।
- 20. पाठक, मनोदत्त, वैदिक ज्ञान विज्ञान कोश, राजपाल, 2011।
- 21. शर्मा, लीलाधर, भारतीय संस्कृति कोश, राजपाल, 2013।
- 22. त्रिपाठी, गयाचरण, वैदिक देवता: उद्भव और विकाश, वाराणसी, भारतीय विद्या प्रकाशन, 1981।
- 23. उनियाल, प्रो. घनश्याम, देवतातत्विवज्ञान, होशियारपुर, कात्यायन वैदिक साहित्य प्रकाशन, 2016।
- 24. रय, रामकुमार, वृहद्देवता, वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, 2019।
- 25. दत्त, रमेशचन्द्र, ऋग्वेदसंहिता (बंगाली), कलकत्ता, संस्कृत पुस्तक भाण्डार. 1976।
- 26. शर्मा, शिवदत्त, नैषधचरितम्, लखनऊ, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, 1998।
- 27. रय, रामकुमार, वैदिक माइथोलोजी, वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, 2014।

आयुर्वेदे योगतत्त्वम्

-डॉ. गोबिन्दः दासः*

ISSN: 0975-1769

महाकविना कालिदासेन कुमारसम्भवे उक्तम्- 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनमिति'।¹ धर्मस्तु कायेन वाचा बुद्ध्या धनादिना च बहुभिः साध्यते, तेषु च वपुरेव मुख्यं साधनम्। सित देहे धर्मार्थकाममोक्षलक्षणाश्चतुर्वर्गाः साध्यन्ते। बलहीनः जनः न किमिप कर्तु शक्नोति। मुण्डकोपनिषदः मते- 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'।² निर्बोजः पुरुषः शक्तिहीनो जनो वा आत्मानुसन्धाने सततमसमर्थं भवति। निरोगशरीरलाभाय तथा आत्मलाभाय शरीरचर्चा करणीया। परन्तु शरीरं व्याधिमन्दिरं भवति। अत्र सर्वे रोगाः निवसन्ति। ते अपशक्तयः यथा शरीररूपकं गृहं प्रविष्टुमसमर्थाः भवेयुः। अतः शरीरस्य यत्नं करणीयम्। तदर्थं सन्ति बहवः उपायाः। तेषु उपायेषु योगायुर्वेद अन्यतमः।

√अयुज् समाधौ, √अयुज् संगमने, √युजिर् योगे वेति धातोः 'घञ्' प्रत्यये योगे योगशब्दस्य निष्पत्तिर्भवति। 'भवतापेन तप्तानां योगो हि परमौषधिम ति वचनानुसारं संसारस्य मृगमरीचिकायां व्याकुलितान्तःकरणवतां जनानां कृते योग एव परमौषधस्य कार्यं करोति। तस्मात्महर्षिपतञ्जलिना परमौषधस्य कार्यं कुर्वन् योगः चित्तवृत्तिनिरोध³त्वेन परिभाषितः। चित्तस्य बाह्याभ्यन्तरिवषयाणां परित्यागपूर्वकं स्वकीयस्वरूपे अवस्थानमेव चित्तवृत्तिनिरोध उच्यते, स एव योगरूपेणाभिहितो महर्षिपतञ्जलिना। जनजीवनाय अपेक्षिताः आवश्यकताः पूरियतुं योगः कल्पवृक्षः सदृशः वर्तते। अयं योगः ऐहिकभोगैः सह लोकोत्तरान् भोगान् निखिला विभूतिश्च प्रयच्छित। योगेन साधकः कैवल्यं मोक्षं वा प्राप्नोति। अतो यदि योगशास्त्रं दैनन्दिनजीवनस्याङ्गभूतिमिति मत्वा तदनुसारिणीं योगचर्यां यदि कश्चिदाचरित तदा स सर्वदा जीवने स्वस्थ एव

^{*} सहायकाचार्यः, संस्कृतविभागः, डेबराथानाशहीदक्षुदिरामस्मृतिमहाविद्यालयः, पश्चिम-मेदिनीपुरः, पश्चिमवङ्गः।

^{1.} कुमारसम्भवम् 5/33

^{2.} मुक्तिकोपनिषद् 3.2.4

^{3.} योगसूत्रम् 1/2

तिष्ठति, दीर्घजीवनञ्च प्राप्नोति। रोगास्तस्य नश्यन्ति, तथा मनुष्यस्य आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिकेति त्रीणि दु:खानि नश्यन्ति।

को नाम आयुर्वेद इति जिज्ञासायामुच्यते यद्यत्रायुषः अहितकारकाणां व्याधीनां निदानं शमनञ्च विद्यन्ते सः ग्रन्थ आयुर्वेदः। देह-आत्मनोर्योगो जीवनम्, तेन अवच्छिन्नः काल आयुः। यस्मिन् शास्त्रे आयुर्बोधद्वारा आयुष्याणि अनायुष्याणि द्रव्यगुणकर्माणि च ज्ञात्वा तेषां सेवनेन त्यागेन चारोग्येण आयुविषयकं ज्ञानं भवति तदेव आयुर्वेदः। आयुर्वेदीयचिकित्सापद्धतिः न केवलं शुश्रुषाया एव पद्धतिरस्ति अपितु एका सम्पूर्णजीवनपद्धतिरस्ति यस्याः नीति-नियमादीनामनुपालनेन जनाः रोगेभ्यः स्वमेव रक्षित्वा 'जीवेम शरदः शतम्' इत्येवं महामन्त्रं सफलीकर्तु पारयन्ति।

आयुर्वेदाचार्याः योगादिदर्शनशास्त्राणि अनुसृत्य तेषां सिद्धान्तं स्वीकृतवन्तः। तदर्थं तयोः शास्त्रयोर्मध्ये बहुशः साम्यं वर्तते। योगदर्शने यथैव प्रमाणानि सन्ति आयुर्वेदेऽपि तथा। एवं योगे षट्कर्माणां ये प्रतिपाद्यविषयाः ते एव विषयाः आयुर्वेदस्य पञ्चकर्मणि प्रतिपादिताः सन्तीति मे मितः। योगलक्षणम्, चित्तप्रसादनस्योपायः, चतुर्विधं प्रमाणम्, सृष्टिक्रमः, योगिनां शक्तिः, मोक्षः, फललाभादिषु विषयेषु उभयशास्त्रयोर्मध्येऽपि समत्वमवलोक्यते।

योगस्य लक्षणम्

आयुर्वेदे योगेन सह मनसः मोक्षेण सहात्मनः सम्बन्धं विविच्य योगस्य लक्षणं कृतम्। तत्र चरकसंहितायां योगेन सह मनसः मोक्षेन सह आत्मनः सम्बन्धं विविच्य योगस्य लक्षणं प्रतिपादितम्। तद्यथोक्तम्-

> आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात्प्रवर्तते। सुखदुःखमनारम्भादात्मस्थे मनसि स्थिरे॥ निवर्तते तदुभयं विशत्वं चोपजायते। सशरीरस्य योगज्ञास्तं योगमृषयो विदुः॥³

अनेन लक्षणश्लोकेन चर्काचार्येण आत्मना सह मनसः वशीकरणं हि योग इत्युक्तम्। आत्मना सह इन्द्रियस्य, इन्द्रियेण सह मनसः, मनसा सह अर्थस्य (इन्द्रियग्राह्मविषयस्य) सन्निकर्षवशात् जीवः सुख-दुःखञ्चानुभूयते। यदा जीवस्य

^{1.} हिताहितं सुखं दु:खमायुस्तस्य हिताहितम्। मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते।। चरकसंहिता, सूत्रस्थानम्. 1/41

^{2.} वाचस्पत्यम् पृ. 778

^{3.} चरकसंहिता, शारीरस्थानम् 1/138-139

आत्मिन मनः स्थिरं भूत्वा निश्चलो भवति तदा सुख-दुःखस्य निवृत्तिर्भवति। अस्यामवस्थायां साधकस्य देहः, मनः, आत्मा सर्वमेव स्वनियन्त्रणाधीनो भवति। आत्मिन मनसि च नियन्त्रता हि 'योगः' इति विदुषामिभमतम्। अतः महर्षिणा चरकेणोक्तमात्मना सह मनसः नियन्त्रणं हि योगः इति। तस्यैव योगस्य लक्षणं कृत्वा महर्षिणा पतञ्जलिना चित्तस्य अन्तःकरणस्य वृत्तेः सर्वतो भावेन निरोध एव योगः इत्युक्तम्।

संसारेऽस्मिन् सुख-दुःखानुभूतीनां कारणं मन इति। चञ्चलता एव मनसः धर्मः। अहितविषये इन्द्रियैः मनसः प्रवृत्तिः दुःखस्य कारणं भवति। एवं हितविषये इन्द्रियैः मनसः प्रवृत्तिः सुखस्य कारणं भवति। आयुर्वेदयोगशास्त्रयोः सुखानु-भवानुकूलवेदनारूपेण दुःखानुभवः प्रतिकूलवेदनारूपेण च स्वीक्रियते। इन्द्रियार्थसम्बन्धेन मनसः चञ्चलता जायते। तेन च विविधविषयान् प्रति तस्य प्रवृत्तिर्भवति। प्रकारेणानेन कर्मणः सञ्चयो भवति, पुनः सञ्चितेन कर्मणात्मनः सुख-दुःखे प्रवृत्तिर्भवति। 'गायत्र्याः' 'प्रणवस्य' वा पुनः पुनः साधनया अभ्यासेन वा यदा मन आत्मिन स्थिरो भवति तदा तस्य सर्वाः प्रवृत्तयः स्तब्धाः भवन्ति। अतो मनस एकाग्रतया सुख-दुःखानुभवो न भवति। इयमवस्था मनसः 'विशित्विमि'ति नाम्ना प्रसिद्धा आयुर्वेदशास्त्रेषु। सुख-दुःखस्याभावयुक्ता इयमवस्था 'योगः' संज्ञायां संज्ञितो भवति। 'योगेन सशरीरस्य मनसो विशित्वं चोपजायते' इति महर्षेः चरकस्याशयः। अतः योगावस्थायां मनसः शरीरस्य च विशित्वं स्वीक्रियते।

आयुर्वेदशास्त्रे योगस्वरूपं प्रतिपादयन् आयुर्वेदाचार्यस्य विशेषावधानं वर्तते यत् योगः न मात्रं मनांसि शुद्धीकरोति अपितु कार्यस्य दोषानिप अपाकुरुते। पुनश्च चित्तस्यान्तः करणस्य वृत्तेः सर्वतो भावेन निरोध एव योग इति पतञ्जलिनः अभिप्रायमस्ति। अनेन प्रमाणितं भवति यद्योगलक्षणप्रतिपादने उभयोः शास्त्रकारयोर्मध्ये केवलं शब्दगतपार्थक्यं विद्यते न तु अर्थगतं वैसादृश्यिमिति।

चित्तप्रसादनस्योपायः

चरकसंहितायां वैद्यस्य चतस्रः वृत्तयः कथिताः

मैत्री कारुण्यमार्तेषु शक्ये प्रीतिरुपेक्षणम्। प्रकृतिस्थेषु भूतेषु वैद्यवृत्तिश्चतुर्विधा॥²

वैद्यस्य इमाः चतस्रः वृत्तयः योगसूत्रेऽपि मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षारूपं चतुर्विधं चित्तप्रसादानम्- 'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्त-

^{1.} योगसूत्रम् 1/2

^{2.} चरकसंहिता, सूत्रस्थानम् 9/26

प्रसादनम्'। व्यासभाष्ये आसां चतसृणां वृत्तीनां प्रतिपादनं एवंविधम् सुख-दुःख-पुण्याऽपुण्यविषयाणां मैत्री-करुणामुदितोपेक्षाणां चित्ते पुनः पुनः अवतारणं चित्तस्य नैमंल्यं भवतीति। अत्र यथाक्रमं सुखविषयेषु मैत्रीं कुर्यात्र तु ईर्ष्याम्। दुःखविषयेषु कथं नु नामेषां दुःखिनवृत्तिः स्यादिति करुणामेव भावयतः पुरुषस्य पराऽपकार-चिकीर्षाकालुष्यं निवर्तते चित्तस्य। पुण्यवत्प्राणिषु सर्वदा मुदितां तथा हर्षमेव कुर्यात्र तु किमेते पुण्यवन्त इति विद्वेषम्। अपुण्यशीलेषु प्राणिषु चोपेक्षामेव भावयेत्रानुमोदनं न वा द्वेषम्। इत्येवं राजसतामसधर्माणां निवृत्तौ सात्त्विकः धर्मः समुद्भवति। तेन चित्तं प्रसत्रं चैकाग्रं सत् स्थितिपदं लभते। एवं द्वेषरागादिप्रपक्षभूतमैत्र्यादिभावनया समुत्पादितप्रसादं चित्तं संप्रज्ञातादिसमाधियोग्यं संपद्यते। 'तत्र सर्वप्राणिषु सुखसम्भोगापत्रेषु मैत्रीं भावयेत्। दुःखितेषु करुणाम्। पुण्यात्मकेषु मुदिताम्। अपुण्यशीलेषु उपेक्षाम्। एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते। ततश्च चित्तं प्रसीदित। प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते।' आयुर्वेदशास्त्रे इमाः वृत्तयः एवंविधाः कथिताः–

मैत्री- 'मैत्री' शब्दस्यार्थ: सौहार्दम्, प्राणिमात्रेषु मित्रता कर्तव्या। योगसूत्रे मैत्र्यादिशब्देन बलसंयमञ्च प्राप्तौ साहाय्यं मिलति। अनेन प्रकारेण रुग्णस्य चरकसंहितायामप्यारोग्यलाभाय औषधिना सह सौहार्दं करणीयमिति कथितम्।

करुणा- 'करुणा' शब्दस्यार्थः कृपा दया वा, परदुःखप्रहाणेच्छा। चरकसंहिताया-मप्यस्याः व्याख्या 'आर्तेषु कारुण्यम्' वचनांशे समुपलभ्यते।

मुदिता- 'मुदिता' शब्दस्यार्थ: हर्ष:। चरकसंहितायामपि अस्या: व्याख्या 'शक्ये प्रीति' वचनांशे प्राप्यते।

उपेक्षा- 'उपेक्षा' शब्दस्यार्थः त्यागः उदासीनः वा। चिकित्साशास्त्रेऽपि असाध्यरोगस्य उपेक्षाकरणीया इति उक्तम्-

> मैत्री कारुण्यमार्तेषु शक्ये प्रतिरुपेक्षणम्। प्रकृतिस्थेषु भूतेषु वैद्यबुद्धिश्चतुर्विधेति॥ इति

अपि च बृद्धवाग्भटोऽपि कथितम्-

सर्वत्र मैत्री, करुणाऽऽतुरेषु निरामदेहेषु नृषु प्रमोदः। मनस्युपेक्षा प्रकृति व्रजत्सु वैद्यस्य सद्वृत्तमलङ्करोति॥

^{1.} योगसूत्रम् 1/33

^{2.} योगसूत्रम्, व्यासभाष्यम् 1/33

^{3.} चरकसंहिता, सूत्रस्थानम् 9/26

^{4.} अष्टाङ्गसंग्रह: उ., 50 अ.

उपर्युक्तवचनेन प्रतिपादितं यत्, योगदर्शने वर्णितः चतस्रः वृत्तयः साधकमात्रमिप निरूपणं करणीयम्, तद्वदेव आयुर्वेदशास्त्रेऽपि चत्वारवैद्यस्य प्रतिपादनमस्ति। अत्र स्पष्टं भवति यत्, आयुर्वेदशास्त्रे चिकित्सायाः विनियोगं दृष्ट्वा योगस्योपादेयप्रक्रियायाः निरूपणं प्राप्यते।

चतुर्विधं प्रमाणम्

भारतीयसंस्कृतेः प्राणस्वरूपमस्ति भारतीयदर्शनशास्त्रम्। प्रमाणेन प्रमेयस्य सिद्धिरिति दार्शनिकानां विचारः। अतः ते कारणं प्रमाणेरात्मा-प्रकृति-परमात्मा-स्वर्ग-मोक्ष-सृष्टि-प्रलय-पुनर्जन्मादीनि सूक्ष्मातिसूक्ष्मतत्त्वानि यथार्थरूपेण ज्ञातवन्तः। प्रमाणैर्वस्तोः यथार्थस्वरूपं ज्ञातुं शक्नोति जिज्ञासु। एभिः पारलौकिकजागतिकसत्यासत्यं च निर्णितुं शक्यते। प्रमाणाभावेन वस्तूनां यथार्थज्ञानं न भवति।

आयुर्वेदशास्त्रेऽपि आध्यात्मिक-दार्शनिकविषयानां विवेचनकाले प्रमाणानां आलोचनास्ति। शास्त्रेऽस्मिन् प्रमाणाय 'परीक्षा' इति शब्दस्य प्रयोगः दृश्यते। चरकसंहितायाः टीकाकारेण चक्रपाणिदत्तेन स्वस्य टीकायां 'परीक्षा' इति शब्दविषये कथितम्- 'परीक्ष्यते व्यवस्थाप्यते वस्तुस्वरूपमनयेति परीक्षा' इति। अर्थात् यया पाञ्चभौतिकविषयस्वरूपं व्यवस्थितरूपेण निरूपितो भवति सा परीक्षा। प्रमाणं हि पदार्थानां वास्तविकस्वरूपस्य बोधं कारयति। अतः वक्तुं शक्ये यत् प्रमाणं परीक्षा वेति शब्दयोः पृथगर्थः नास्ति, तौ अभिन्नार्थकौ। विषयेऽस्मिन् महर्षिणा चरकेणोक्तम्- 'द्विविधमेव खलु सर्वं सच्चासच्च, तस्य चतुर्विधा परीक्षा- आप्तोपदेशः प्रत्यक्षमनुमानं युक्तिश्चति'। पाञ्चभौतिकसंसारेऽस्मिन् 'सदसदे'ति द्विविधो विषयः। तत्र विधिविषयप्रमाणगम्यं भावरूपमिति सत्पदस्यार्थः। एवमसत् निषेधविषयप्रमाणगम्यम-भावरूपस्यार्थं प्रकटयति। द्विविधविषयस्य परीक्षा चतुर्विधो भवति। तद्यथा- 1. आप्तोपदेशः, 2. प्रत्यक्षः, 3. अनुमानम्, 4. युक्तिश्चेति। परन्तु प्रत्यक्ष-अनुमानागमानि त्रीणि प्रमाणानि। तत्र युक्तिपरीक्षामनुमाने स्वीकरोतीति। अत एव तयोः शास्त्रयोः आधारेण वक्तुं पार्यते यत् प्रमाणानां स्वरूपतः नास्ति भेदः।

आयुर्वेदानुसारं सृष्टिक्रमः

सृष्टितत्त्वविषये योगायुर्वेदयोर्मध्ये प्रायशः साम्यं परिलक्ष्यते। आयुर्वेदाचार्याः चतुर्विंशतिः तत्त्वानि स्वीकुर्वन्ति। एतेषां मध्ये यथा पृथिव्यप्तेजवाय्वाकाशबुद्ध्य-व्यक्ताहंकाराः इमानि अष्ट तत्त्वानि प्रकृतिरिति, अपि च षोडशतत्त्वानि यथा पञ्च ज्ञानेन्द्रियाः (चक्षुकर्णनासिकाजिह्वात्वचश्चेति) पञ्च कर्मेन्द्रियाः (वाक्पाणीपाद-

^{1.} चरकसंहिता, सूत्रस्थानम् 11/17 चक्रपाणिदत्तः

^{2.} चरकसंहिता, सूत्रस्थानम् 11/17

पायूपस्थश्चेति) पञ्च अर्था: (शब्दस्पर्शरूपरसगन्धार्थश्चेति) मनश्च विकृति: तत्त्वानि भवन्ति। एभि: तत्वै: अस्य जगत: सृष्टिरिति तेषां विचार:। एषां नामान्युल्लिख्य चरकेण कथितम्-

खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहंकारस्तथाष्टमः। भूतप्रकृतिरुदिष्टा विकारश्चैव षोडशः॥ बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च। समनस्काश्च पञ्चार्था विकारा इति संज्ञिताः॥

तथा च-

पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः। मनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी॥²

कस्मात् परं कस्योत्पत्ति इति विषयं स्पष्टीकृत्वा चरकाचार्यः सृष्टेः क्रमविषये कथितम् –

> जायते बुद्धिरव्यक्ताद् बुद्ध्याऽहमिति मन्यते। परं खादीन्यहङ्गारदुत्पद्यन्ते यथाक्रमम्॥ ततः सम्पूर्ण सर्वाङ्गो जातोऽभ्युदित उच्यते॥

अर्थात् अव्यक्तात् बुद्धेः, बुद्धितत्त्वादहंकारस्य, अहंकारात् यथाक्रमं सूक्ष्मपञ्चमहाभूतस्योत्पत्तिर्भवति। ततः सम्पूर्णाङ्गस्य उत्पत्तिकारणात् 'जातः' इति नाम्नाभिधीयते।

अतः योगाचार्याः यदा षड्-विंशतिः तत्त्वानि स्वीकुर्वन्ति तदा आयुर्वेदाचार्याणां मते तत्त्वानि चतुर्विंशतिः इति। एभिः तत्वैः अस्य जगतः सृष्टिरिति तेषां विचारो वर्तते। आयुर्वेदे सृष्टेरुत्पत्तेः प्रक्रियायां प्रकृति-पुरुषयोः संयुक्तरूपेण सहावस्थानं स्वीकृतवान्। अत्राव्यक्तेति पदेन प्रकृति-पुरुषयोग्रीहणं करणीयम्। योगाचार्येणाव्यक्तेति पदेन केवलं मूलप्रकृतेर्ग्रहणं कृतम्। परन्त्वायुर्वेदाचार्याः पुरुषोपहितायाः प्रकृतेर्ग्रहणं कृतवृन्तः। आयुर्वेदे चतुर्विंशतिः तत्त्वेषु भौतिकाः भवन्तीन्द्रियाणि। योगमते तु भौतिकाः इन्द्रियाणि अहंकारिकाः न भवन्ति।

योगिनां शक्तिः

आयुर्वेदे यत्र योगं मुक्ते: साधनमार्गरूपेण योगस्योल्लेख: तत्रैव मुक्ते: प्राक् योगीनां प्राप्तानां सिद्धीनामुल्लेखो वर्तते। यदा साधका अष्टाङ्गयोगै: साधनां कृत्वा

^{1.} चरकसंहिता, शारीरस्थानम् 1/63-64

^{2.} चरकसंहिता, शारीरस्थानम् 1/17

^{3.} चरकसंहिता, शारीरस्थानम् 1/66-67

अन्तिमावस्थायां गच्छन्ति तदा तेषां योगसिद्धिर्भवित। तदानीं योगिषु लक्षणिविशिष्ट-स्याविर्भावो भवित। इदं लक्षणिविशिष्टं साधारणानां मानवानां मध्ये न जायते। एतत् खलु योगिनां स्वाभाविको सिद्धिः या 'योगबलिम'ति नाम्ना प्रसिद्धम्। आयुर्वेदेऽष्टौ योगबलानि स्वीकृतानि सन्ति। तद्यथा– आवेश अर्थात् परकायप्रवेशः, चेतस अर्थात् परिचत्तज्ञानम्, अर्थानां छन्दसः क्रिया अर्थात् शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धार्थानां यथानुकूलं ज्ञानम्, दृष्टि अर्थादतीन्द्रियस्य दर्शनम्, श्रोत्रमर्थादतीन्द्रियस्य श्रवणम्, स्मृति अर्थात् सर्वभावतत्त्वस्मरणम्, कान्तिः इष्टतश्चाप्यदर्शनञ्चेति। तदुक्तं महर्षिणा चरकेण शारीरस्थाने–

आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दतः क्रिया। दृष्टिः श्रोतं स्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम्॥ इत्यष्टविधमाख्यातं योगिनां बलमैश्वरम्। शुद्धसत्वसमाधानात्तत्सर्वमुपजायते॥ इति

एभि: अष्टेशवर्यै: योगीनां दिव्यबलमुपजायते। शुद्धः सत्व-रज-तमशून्यः मनसः साधनेन संयमेन वा आत्मिन स्थिररूपेण यदा स्थापियतुं समर्थो योगिः भवति तदा तस्मिन् साधके एषां बलानामुत्पत्तिर्जायते।

मोक्षस्य परिभाषा

योगो मोक्षश्च पृथक् पृथक् द्वे अवस्थे। योगावस्थायां मानवानां शरीरं विद्यते। देहमाधारं मत्वा मनः, इन्द्रियाणि, आत्मा च तत्र विद्यन्ते। शरीरमनसी आत्माधीनौ। परन्तु मोक्षे न शरीरं वर्तते। न मनः न वा इन्द्रियाणि विद्यन्ते। आत्मैतेभ्यो सदा मुक्तरूपेण वर्तते। आयुर्वेदे मोक्षस्य स्वरूपविषये उक्तम्-

मोक्षो रजस्तमोऽभावात् बलवत्कर्मसंक्षयात्। वियोगः सर्वसंयोगैरपुनर्भव उच्यते॥²

एवं योगस्य समाध्यवस्थायां यदा मनसो रजस्तमसो: गुणाभावो भवति तदा मनसि केवलं सत्त्वगुणो हि विराजते। तदात्मिन नवकर्मण: संयोगोऽपि न भवति। समाधिना पूर्वार्जितस्य कर्मणो विनाशे जाते आत्मा संसाराद्विमुच्यते। इयमवस्था मोक्ष: इति कथ्यते।

मोक्षसाधनानि

योगशास्त्रे यमनियमादि-अष्टाङ्गाः मोक्षस्य प्रारम्भिकसाधनानि भवन्तीति निर्दिष्टानि सन्ति। एषां पालनेन मानवानामाचरणे मनसि च शुद्धतायाति, मनसि

^{1.} चरकसंहिता, शारीरस्थानम् 1/140-141

^{2.} चरकसंहिता, शारीरस्थानम् 1/142

सात्त्विकभावस्योदयो भवति। आत्मा निर्मलतां प्राप्य शनै: शनै: मोक्षमार्गं प्रति तल्लीनं भिवतुं वा गच्छति। आयुर्वेदेऽपि मोक्षसाधनस्य प्राथिमकोपायरूपेण यम-नियमयोरुल्लेख: अस्ति। तद्यथोक्तम् -

> सतामुपासनं सम्यगसतां परिवर्जनम्। व्रतचर्योपवासश्च नियमाश्च पृथग्विधाः॥ धारणं धर्मशास्त्राणां विज्ञानं विजने रतिः। विषयेष्वरतिर्मोक्षे व्यवसायः परा धृतिः॥ कर्मणामसमारम्भः कृतानां चा परिक्षयः। नैष्क्रम्यमनहङ्कारः संयोगे भयदर्शनम्॥ मनोबुद्धिसमाधानमर्थतत्त्वपरीक्षणम्। तत्त्वस्मृतेरूपस्थानात् सर्वमेतत्प्रवर्तते॥

अर्थात् सज्जनानां सङ्गतिः, खलानां दुष्टानां वा सङ्गपरित्यागः, चान्द्रायणादि-व्रतपालनम्, आत्मनिर्मलार्थमुपवासं करणम्, नियमानां पालनम्, धर्मशास्त्राणामभ्यासः, प्रमाणेन यथार्थज्ञानोपलब्धिः, एकान्तवासः, काम-क्रोधादिनां नित्यः परित्यागः, मोक्षसाधककर्मणि प्रवृत्तिः, उत्तमकर्मणः साधनम्, नित्य-नैमित्तिककार्याणां समारम्भः, अहंकारस्य सदैव परित्यागः, ममेदमहमस्मीत्यादिबुद्धिवर्जनम्, तत्त्वार्थस्य परीक्षापूर्वकं ग्रहणादिकं पालयित्वा साधकः यथार्थज्ञानं लभते। तदनन्तरं मोक्षपथि प्रवृत्तिर्भवति।

महर्षे: चरकस्य वचनाज्ज्ञायते यन्मोक्षस्य पूर्वावस्था हि योगोऽतो योगः खलु मोक्षस्य साधनिमिति। अत्र योगो न खलु मोक्षः परन्तु योगस्यान्तिमावस्था हि मोक्षः। योगे केवलं शरीरावस्थायां सर्वासां चित्तवृत्तीनामथवा सर्वासां वेदनानां नाशो भवति। मोक्षावस्थायां तु भौतिकशरीरस्य नाशो भवति। मुक्तः पुरुषः जन्म-मरणचक्रेऽस्मिन् संसारे पुनः पुनः नागच्छति। अयं ह्यात्मनो मोक्षस्य चरमो लक्ष्यः। आयुर्वेदानुसारं योगो हि मोक्षस्य सहायकः। अतो योगेन मोक्षेण च सर्वासां वेदनानां विनाशो भवतीति।

फलप्राप्तिः

योगशास्त्रे ऐहिकपारलौकिकफललाभाय महत्त्वपूर्णादिशा निर्दिष्टा चास्ति। तत्र प्रसङ्गे योगिनः कथं मुक्तिं प्राप्यते, केन साधनेन ऐहिकफलं झटिति लभ्यते तस्य विचारः शास्त्रेऽस्मिन् कृतः। उक्तञ्च योगसूत्रे- 'तद्वैराग्यादिप दोषबीजक्षये कैवल्यम्', 'सत्त्वपुरुषषोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमि' ति। एवं प्रकारेण मोक्षात्मकं

^{1.} चरकसंहिता, शारीरस्थानम् 1/143-146

^{2.} योगसूत्रम् 3/50

^{3.} योगसूत्रम् 3/55

सिद्धिविशेषं फलं दर्शयित। ततश्च संसारोच्छित्तः परमानन्दप्राप्तिश्च करतले तिष्ठित। साधकः दिव्यमिवनश्वरममृतपदं प्राप्नोति। ते च विषयाः आयुर्वेदशास्त्रेऽपि समानतया स्वीकृताः सिन्त। तत्रायुर्वेदस्य पिरभाषायामेव सर्वजीवकल्याणविषयो निहितः अस्तीति निरूपितम्। आयुर्वेदानुसारं तत्त्वानुभूतिमात्यिन्तिकज्ञानस्य कारणमिस्त। एवमेव बुद्ध्यहंकारशरीरादिभ्यो नश्वरभावपदार्थेभ्यो मुक्तो भूत्वा आत्यन्तिकज्ञानस्याधिकारी भवित। तज्ज्ञानमेव सत्याबुद्धिरिति कथ्यते। जीवस्य अस्यामवस्थायां रागद्वेषादीनां जागितकविकाराणां विनाशो भवित। तदनन्तरं साधकः पूर्णतः सत्त्वगुणयुक्तो भूत्वा निवृत्तिमार्गमवलम्ब्य अपवर्गं प्राप्नोतीति आयुर्वेदाचार्यस्याभिमतम्। फलप्राप्तिविषये योगायुर्वेदयोर्मध्ये किञ्चित् स्वरूपतः नास्ति भेदः। अपितु तयोः शास्त्रयोः तुलनात्मकदृष्ट्या वक्तुं पार्यते यत् केवलं शाब्दिकभेदः वर्तते न तु तात्त्विकभेदः।

आकरग्रन्थाः

मूलग्रन्थाः

- 1. चरकसंहिता. महर्षिचरक:, (पूर्वार्द्ध: उत्तरर्द्धश्च) सम्पा... प्रो. रामहर्ष सिंह, श्रीचक्रपाणिदत्तविरचितया चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, संस्करणम्– 2019।
- 2. पातञ्जलयोगदर्शनम्. महर्षिपतञ्जलि:, वाचस्पतिमिश्र विरचित तत्त्ववैशारदी, विज्ञानिभक्षु कृत योगवार्तिक व्यासभाष्य श्रीनारायणिमश्र, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण, 1998 सन्।
- 3. पातञ्जलयोगप्रदीप. श्रीस्वामी ओमानन्दतीर्थ:, गीताप्रेस, गोरखपुर, अष्टविंश पुनर्मुद्रण वि.सं.- 2064।
- 4. योगभाष्यम्. व्यासः, सं...नारायणिमश्रः, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1971 सन्।
- सुश्रुतसंहिता. महर्षिसुश्रुत:, हिन्दी व्याख्या...कविराज, अम्बिकादत्त शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, षष्ठ संस्करणम् 1987।

आधुनिकग्रन्थाः

- 1. अभेदानन्द, स्वामी, योगशिक्षा (बङ्गभाषया विरचितम्), रामकृष्ण वेदान्त मठ, कलकाता-06, एकादश संस्करणम्, मार्च- 2009।
- 2. उपाध्याय, श्रीबलदेव. संस्कृतवाङ्मय का बृहत् इतिहास, सप्तदश-खण्ड, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, वि.सं. – 2063।

3. गुप्त, डॉ. भागवतराम. आयुर्वेद का प्रामानिक इतिहास, चौखम्बा कृष्णदास, अकादमी, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, वि.सं. – 2059, सन् 2003।

- 4. जैन, आचार्यराजकुमार. योग और आयुर्वेद, चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2019।
- 5. ढुङ्गेल:, डाँ. धरणी. योगदर्शने स्वास्थ्यविज्ञानम्, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथमसंस्करणम्- 2014।
- 6. Frawley, David. Yoga & Ayurveda, Motilal Banarsidass Publishers Private Limited, Delhi, 2000.



स्वास्थ्यमौषधम्

-डॉ. चक्रधरमेहेर:*

ISSN: 0975-1769

शोधसारांश:

आरोग्यं प्रकृतेर्दानं निजाधीनन्तु रक्षणम्। विपरीतो सदा दुःखी सुखिनः स्वास्थमौषधम्॥

आरोग्यं प्रकृतेर्वरदानं वर्तते। अत एवारोग्यस्य रक्षणम् अस्माकं प्रमुखं दायित्वम्। भारतीयायुर्वेदग्रन्थेष्वपि तदाधारीकृत्य स्वस्थवृत्तादिविषये विस्तृततया वर्णितमस्ति। तत्रोपदिष्टानां नियमानां पालनेनैव उत्तमस्वास्थ्यस्य प्राप्तिर्भविति, व्याधिनाञ्च निराकरणं भवित। यतः आरोग्ययुक्तः पुरुष एव शारीरिक-मानिसक-सामाजिक-धार्मिक-आध्यात्मिक-बौद्धिकदृष्ट्या सर्विवधोत्तरदायित्वानां सम्पादने समर्थो भवित। संस्कृतकाव्यग्रन्थे कुमारसम्भवेऽपि इदं समर्थयता महाकविकालिदासेनोक्तम्- 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'। अत्र तु शरीरेण स्वस्थ एव जनः मानिसकरूपेण स्वस्थस्सन् धर्मीदिकार्याणि सम्पादयतीत्यर्थः। अतः शोधलेखेऽस्मिन् उत्तमस्वास्थ्यमाधारीकृत्य वैदिकसंस्कृतवाङ्मये किमुल्लिखतं भारतीयमनीषिभिरिति दिङ्मात्रं परिशीलयािम।

प्रास्ताविकम् -

सहस्रवर्षेभ्यः अस्मदृषिभिरङ्गीकृतिमदं यत् मानवजन्म नैकजन्मार्जित-पुण्यकर्मणः किश्चन्माङ्गिलकः परिणाम इति। यतः मनुष्य एवान्येभ्यः दुर्बलबुद्धिशरीरेभ्यः जन्तुभ्यः प्रज्ञाचरणपुरस्सरं सर्वविधकर्मप्रवृत्तौ सक्षमो भवति। स्वशक्तेः सदुपयोगेन धरायां विद्यमानानां प्राकृतिकसंसाधनानां संरक्षणं बलहीनानाञ्च रक्षणं करोति। सामाजिककर्तव्यानां पालनपुरस्सरं जीविहतिविरुद्धानां नियमानां कुरीतिनाञ्च निराकरणं करोति। लौकिकदृष्ट्या आध्यात्मिकदृष्ट्या वा भवतु मानवः अहर्निशं निजसूक्ष्मबुद्ध्या वपुषा च स्विचत्तोत्पन्नाभिलाषपूर्तये प्रयत्नं कुरुते। एतदर्थम् आरोग्यं भवति मानवस्यामोघम् अस्त्रम्। अनेनैवारोग्यास्त्रेण मनुष्यः मनिस आत्मिन च प्रसन्नताम् अवाप्नोति। यतः अलौकिकानन्दावाप्तिनिमित्तमपि धर्मार्थकाममोक्षाणां चतुर्णां पुरुषार्थानां प्राप्तावारोग्यं भवति मूलहेतुः। यथोक्तं चरकसंहितायाम्-

^{*} सहायकाचार्य:, केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालय:, नवदेहली।

^{1.} कुमारसम्भवम्

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यमूलमुत्तमम्। रोगास्तस्यापहर्तारः श्रेयसो जीवितस्य च॥

अत एव वैदिकमहर्षयोऽपि सर्वविधारोग्यं कामयन्तः दीर्घायुनिमित्तं प्रार्थयन्ति। तद्यथा –

तच्चक्षुर्देविहतं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्।²

एवञ्च-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा:। एवं त्विय ना न्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

अर्थात् संसारेऽस्मिन् धर्मयुक्तनिष्कामकर्माचरन् शतं वर्षाणि जीवितुं वाञ्छेत्। तदर्थं पूर्णायुः पर्यन्तं मदीया वाणी वाक्शक्त्या समर्था भवतु। नासिकयोः प्राणवायुः, चक्षुषो दृष्टिशक्तिः, श्रोत्रयोः श्रुतिसामर्थ्यं भवतु। केशाः मे अश्वेताः, दन्ताश्च रक्तरिहताः सन्तु। बाहू मे बलवन्तौ तिष्ठताम्। ऊरूश्च गतिशीलौ भवताम्। आत्मा उत्साही भवतु। हृदये स्थिरता वर्तताम्। एवमेव शरीरस्य सर्वाण्यपि अङ्गानि रोगमुक्तानि भवन्तु येन पूर्णायुः यावत् सारोग्यं पर्याप्तं सुखप्राप्तिः स्यात् इति प्रार्थना अथवंवेदे दृश्यते। तद्यथा –

वाङ्म आसन्नसो प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः प्रियं सर्वस्व पश्यत उत शूद्र उतार्ये।⁴

किं नाम स्वास्थ्यम्?

शरीरेन्द्रियात्ममनसां पूर्णस्वस्थता एव स्वास्थ्यमिति। तर्हि किमिदं स्वास्थ्यम् इति चेत् 'स्व'अर्थात् आत्मिन स्वस्मिन् वा 'स्थ'अर्थात् 'स्थित' तस्य च भावः स्वास्थ्यम्। एवमेव शारीरिक-मानसिक-आत्मिकरूपेण स्वात्मिन सनियन्त्रणं

^{1.} चरकसंहिता.सू. 01

^{2.} यजु. 36.24

^{3.} यजुर्वेद 40/2 (ईषोपनिषद्)

^{4.} वाङ्मय आसन्नसो प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोतकर्णयोः अपलिता केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम्। ऊवेर्वरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः प्रतिष्ठा। अरिष्टानि मे सर्वाऽऽसमाऽनिभृष्टः। तनूस्तन्वा मे सहेदतः सर्वमायुश्शीय। स्योनं मे सीदः पुरुः पृणस्व पवमानः स्वर्गे। प्रियं मा कृणु देवेषु प्रिय राससु मा कृणु। प्रियं सर्वस्व पश्यत उत शूद्र उतार्ये। (अथर्ववेद 19.60.63)

स्वास्थ्यमौषधम् 69

सुखपूर्वकञ्च विचरणं स्वास्थ्यमिति। नाम यदा कश्चिज्जन: व्याधिना ग्रस्तो भवति तदा शरीराङ्गेषु, मनिस आत्मिन वा पीडोत्पद्यते इत्यतः स जन: व्याधिग्रस्तः रोगग्रस्तो वा कथ्यते। तदानीं तस्य व्यवहारेष्विप न्यूनताः परिलक्ष्यन्ते। परं यदि तिद्वपरीतः कश्चिद्वर्तते अर्थात् रोगरिहतस्सन् सर्वोत्कृष्टतया व्यवहारं कुरुते तदा सः नीरोगी स्वस्थः इत्यभिधीयते।आयुः परिभाषयन् चरकसंहितायाम् उक्तं यत् –

शरीरेन्द्रियसत्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्।

अर्थात् शरीरेन्द्रियात्ममनसां संयोगः आयुरिति। एतेषां संयोगात् जीवस्य सुखकरस्थिति आरोग्यमिति।

वस्तुत: स्वास्थ्यस्य सम्बन्ध: शारीरिक-मानिसक-बौद्धिक-सामाजिक-आध्यात्मिकक्रियाभि: सह वर्तते। स एव जन: स्वस्थ इत्युच्यते य: शरीरेण व्याधिरिहत:, मनसा द्वन्द्वरिहत:, बुद्ध्या चतुर:, सामाजिकोत्तरदायित्वानां निर्वहणे क्षम:, आध्यात्मिकाचरणेषु भिक्तमान् वर्तते।तत्र भारतीयायुर्वेदग्रन्थेषु स्वास्थ्यसम्बद्धाः बहव: उल्लेखा: दृश्यन्ते। तद्यथा -

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः। प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥²

अत्र स्पष्टतया शारीरिकस्वास्थ्यमिभलक्ष्य निर्दिश्यते यत् यस्य त्रिष्विप दोषेषु (वात-पित-कफेष्विति) समानता वर्तते अर्थात् अनावश्यकवृद्धिः न्यूनता वा न कस्यिचत् दोषस्य परिलक्ष्यते यतः, एते एव त्रयः दोषाः प्राकृतिककर्मद्वारा शारीरस्य नियन्त्रणं कुर्वन्ति इत्यतः कस्याप्येकस्य दोषस्य वृद्धिर्भविति चेत् अवस्थितान्यद्वयस्य न्यूनता दृश्यते। तेन शारीरेषु नानाविधरोगाणाम् उत्पत्तिर्जायते। तथैव एकस्यापि दोषस्य दूषितेन शारीरे विद्यमानानां सप्तधातूनां वैषम्यता दृश्यते। एवमेव त्रयोदशाग्नीनाम् (पञ्चभूताग्नः, सुप्तधात्वग्नः, एकः जठराग्नः) अपि साम्यता अपेक्ष्यते। पुनश्च स्वेद-मूत्र-पुरीषरूपीमलत्रयाणां शारीरात्रिष्कासनप्रक्रिया समयेन स्यात्। अर्थात् अत्यधिकमलत्यागः अल्पत्यागो वा वैषम्यतायाःकारणं भवित येन जनः रोगग्रस्तः जायते। एवमेव मनसः इन्द्रियाणाञ्च नियन्त्रणपूर्वकं प्रसन्नात्मा यः जनः तिष्ठित स एव स्वस्थ इति। तदेवानुसरन् वर्तमानसमये विश्वस्वास्थ्यसङ्घटनेन (World Health Organization) अपि स्वास्थ्यविषये उक्तम् –

स्वास्थ्यं नाम सम्पूर्णतया शारीरिक-मानसिक-आध्यात्मिक-सामाजिकभावेन सुस्थता न तु केवलं रोगाणां दौर्बलतायाः वा अभावः।

^{1.} चरकसंहिता.सू. 1.42

^{2.} सुश्रूतसंहिता.सू. 15.41

Health is a state of complete physical, mental, spiritual and social wellbeing and not merely the absence of disease or infirmity.¹

विषयेऽस्मिन् महर्षिचरक: कथयति -

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्। मानञ्च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेद स उच्यते॥

अत्र सुखायुः दुःखायुः इत्यनयोः तात्पर्यं मानवस्य व्यक्तिगतजीवने जायमानेषु सुखदुःखेषु वर्तते। तथा च हितायुः अहितायुः इत्यनयोः सम्बन्धः तस्य सामाजिक-पक्षैस्साकं वर्तते। अर्थात् यः मनुष्यः सामाजिकदृष्ट्या नाम सामाजिकोत्तरदायित्वानां निर्वहणे सक्षमः, स जनः स्वस्थः वर्तत इति। एवमेव सुखायुः (शरीरेण मनसा च स्वस्थः) हितायुः (सामाजिकक्रियाभिः आध्यात्मिकक्रियाभिश्च स्वस्थः) आयुर्वेदानुसारं स्वस्थव्यक्तिं परिभाषयतः।

स्वस्थवृत्तस्य लक्षणम् -

भारतीयायुर्वेदशास्त्रेषु स्वस्थवृत्तस्य देश-काल-ऋतु-प्रकृत्यनुसारम् आहार-विहारादिनां निर्देशः कृतोऽस्ति। यद्यपि इहलोकेऽस्मिन् न कश्चिज्जनः नित्यं तिष्ठिति, तथापि स्वथवृत्तस्य पालनेन उत्कृष्टजीवनशैल्या व्याधिनां निराकरणपूर्वकम् आरोग्यपूर्णं जीवनयापनं कर्तुं शक्यते। तत्र सुश्रुतसंहितायां स्वस्थवृत्तस्य लक्षणिवषये उपदिष्टं यत् -

उत्थायोत्थाय सततं स्वस्थेनारोग्यमिच्छता। धीमता यदनुष्ठेयं तदस्मिन् सम्प्रवक्ष्यते॥

अर्थात् स्वास्थ्यस्य परिरक्षणाय आरोग्याभिलाषी पुरुषः नित्यं शयनादुत्थाय स्वस्थवृत्तस्याचरणं कुर्यादिति।

काश्यपसंहितानुसारम् -

अन्नाभिलाषो भुक्तस्य परिपाकः सुखेन च। सृष्टविण्मूत्रवातत्वं शरीरस्य तु लाघवम्।। सुप्रसन्नेन्द्रियत्वञ्च सुखस्वप्नप्रबोधकम्। बलवर्णायुषी लाभ सौमनस्य समाग्निता॥

^{1.} WHO 1948

^{2.} चरकसंहिता. सू. 1.41

^{3.} सुश्रुतसंहिता. सू. 24.3

स्वास्थ्यमौषधम् 71

विद्यात् आरोग्यलिंङ्गानि विपरीते विपर्ययम्।

उपर्युक्तपरिभाषानुसारं स्वस्थपुरुषस्य समयेन भोक्तुमिच्छा स्यात्। पाचनक्षमता स्वस्था स्यात्। स्वेदमलमूत्राणां समयेनोचितमात्रया निष्कासनं भवेत्। शरीरं आलस्यादिभाररहितं गत्यात्मकञ्च स्यात्। इन्द्रियाणां मनसश्च स्थिति: नियन्त्रिता प्रसन्नयुक्ता च स्यात्। रात्रौ सुखनिद्रा ब्रह्ममुहूर्ते च सुखजागृतिर्स्यात्। पाचकाग्नि समाना स्यात्।

स्वस्थवृत्तस्योद्देश्यम् -

एतावता स्वास्थ्यस्य स्वस्थवृत्तस्य च परिभाषा-लक्षणादि विज्ञाय स्वस्थ-वृत्तस्योद्देश्यविषये ज्ञास्यामः। तत्र महर्षिः चरकः स्वविरचितायुर्वेदग्रन्थे स्वस्थवृत्तस्य द्विविधमुद्देश्यम् अब्रवीत्।

1. स्वस्थजनस्य स्वास्थ्यरक्षणम्। 2. व्याधिना पीडितस्य रोगनिवारणम्। यदुक्तं हि –

प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यसंरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनञ्च॥² अपि च

व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः स्वस्थस्य रक्षणं च॥³

स्वस्थवृत्तस्योद्देश्यं मुख्यतः स्वास्थ्यस्य रक्षणं कथं स्यात् येन जनः नीरोगी एव तिष्ठेत्। एतदर्थम् आहारविहारादिनां समुचितव्यवस्थापनार्थं दिनचर्या-रात्रिचर्या-ऋतुचर्याणां व्यवस्था कृता वर्तते। यदुक्तम् -

दिनचर्यां निशाचर्यामृतुचर्यां यथोदिताम्। आचरन् पुरुषः स्वस्थः सदा तिष्ठति नान्यथा॥

वस्तुतः देश-काल-प्रकृत्यनुसारं नियमानां पालनेन त्रयाणामिप दोषाणाम् (वात-पित-कफानाम्) अवस्था समाना भवति। त्रयोदशाग्नयः अपि समभावेन तिष्ठिन्ति। मलक्रियाश्च समानाः भवन्ति। अनेन शरीराङ्गेषु विषमस्थितेरभावः भवति। पुनश्च मनसः आत्मनश्च प्रसन्नेन नीरोगिणः जनस्य सर्वाः क्रियाः प्राकृतरीत्या गच्छति। विकाराणामभावात् स जनः स्वस्थो भूत्वा स्वकार्याण साधयति। अत एवोक्तम् -

^{1.} काश्यपसंहिता, खिलस्थान, पञ्चमोध्याय:

^{2.} चरकसंहिता. सू. 1.12

^{3.} सुश्रुतसंहिता. सू. 1.14

सर्वमन्यत्परित्यज्य शरीरमनुपालयेत्। तदभावे हि भावानां सर्वाभावः शरीरीणाम्॥

अर्थादन्यकार्यं परित्यज्य सर्वादौ शरीरस्य यत्न: विधेय:। अपि च -

नगरी नगरस्येव रथस्येव रथी यथा। स्वशरीरस्य मेधावी कृत्येष्ववहितो भवेत्॥²

अर्थात् यथा नगरी (राजा) सम्पूर्णनगरस्य सुरक्षायां जागरुक् भविति, सारथी च रथस्य सुरक्षायां, तथैव बुद्धिमान् पुरुषः स्वशरीरस्य रक्षणे जागरुक् भविति।

एवं रूपेण आरोग्यमिभवाञ्छन् पुरुषः स्वस्थवृत्तस्य नियमानां प्रत्यहं स्वजीवने पालनेन शारीरिक-मानिसक-सामाजिक-आध्यत्मिक-बौद्धिकदृष्ट्या स्वस्थो भूत्वा दीर्घायुरिप प्राप्नोतीत्यत्र न संशयः। यतः अस्माकं वैदिकमहर्षिणामयमाशय आसीत् यत् सर्वेऽिप जीवाः स्वस्थाः, सुखिनः, भद्रदर्शिणः भवन्त्वित। यदुक्तं हि -

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

।।इति शम्।।

समाश्रितग्रन्थावली -

- 1. गोरक्षनाथ, चरकसंहिता, चौखम्बा प्रतिष्ठान, दिल्ली।
- 2. शास्त्री अम्बिकादत्त, सुश्रुत संहिता, चौखम्बा प्रतिष्ठान, दिल्ली।
- 3. सिंह रामहर्ष, स्वस्थवृत्त विज्ञान, चौखम्बा प्रतिष्ठान, दिल्ली।
- 4. बालकृष्ण आचार्य, आयुर्वेद सिद्धान्त रहस्य, दिव्य प्रकाशन, हरिद्वार।
- 5. नौटियाल विनोद, योग और वैकल्पिक चिकित्सा, किताब महल, इलाहाबाद।
- 6. डॉ. कपिल द्विवेदी, संस्कृतनिबन्धशतकम्, विश्वविद्यालयप्रकाशन, वाराणसी।



^{1.} चरकसंहिता. सू. 6.7

^{2.} चरकसंहिता. सू. 5.13

जयरामन्यायपञ्चाननकृता काव्यप्रकाशटीका-एकः विमर्शः

-डॉ. अनसूया महारणा*

ISSN: 0975-1769

शोधसारः- अलङ्कारशास्त्रेतिहासे काव्यप्रकाशः तथा तस्य रचियता कश्मीर-प्रदेशस्य मम्मटः विश्वविश्रुतः। काव्यप्रकाशस्य अध्ययनमध्यापनञ्च तदुद्भव-कालादारभ्य अद्याविध यथावत् रूपेण प्रचलितमस्ति। वेदान्तदर्शने शारीरकभाष्यवत् तथा व्याकरणशास्त्रे महाभाष्यिमव साहित्यशास्त्रे काव्यप्रकाशस्य अनुपमं स्थानं वर्तते। विविध शास्त्रिक्लष्टत्वाच्च ग्रन्थस्यास्य बहवः टीकाग्रन्थाः दृश्यन्ते। ग्रन्थस्यास्य शताधिकाष्टीकाग्रन्थाः सन्ति। कथ्यते हि प्रतिदशकं काव्यप्रकाशस्य नवीना टीका प्रणीयते इति। यद्यपि काव्यप्रकाशस्य बहवः टीकाग्रन्थाः सम्पादिता प्रकाशिताश्च सन्ति, अस्य ग्रन्थस्य अनेके टीकाग्रन्थाः अद्याविध मातृकारूपेण विद्यन्ते। तेषु अप्रकाशितेषु टीकाग्रन्थेषु जयरामन्यायपञ्चाननप्रणीता 'तिलकटीका' अन्यतमाः। प्रकृते शोधपत्रे तिलकटीकायाः परिचयः, ग्रन्थकर्तुः परिचयः, तस्य कृतयः, तिलकटीकायाः वैशिष्ट्यम् इत्यनेन विषये पर्यालोचनमस्ति।

प्रमुखशब्दाः- अलङ्कारशास्त्रम्, काव्यप्रकाशः, मम्मटाचार्यः, तिलकटीका, जयरामन्यायपञ्चाननः।

उपोद्घातः-

"अलङ्कृतिरलङ्कारः" अनया व्युत्पत्त्या अलङ्कारशब्दः सौन्दर्यस्य वाचको भवित। भावव्युत्पन्नो दोषापगमगुणालङ्कारसम्बलनकृतसौन्दर्यपरः तत्प्रतिपादकत्वादेव अस्य अलङ्कारनाम्ना व्यपदेशः इत्युद्धावयामः। अस्यानुसारेण गुणालङ्काराभ्यां संस्कृतशब्दार्थयोरेव काव्यशब्दस्य मुख्यव्यवहारो भवित। अलङ्कारा अपि शैल्या उत्कृष्टतायां सहायकाः भवित्त। लौिकककटककुण्डलादयोऽलङ्कारा यथा शरीरादिकं भूषयन्ति तथा काव्यगतानुप्रासादयः शब्दार्थरूपं बाह्यं काव्यशरीरमेवालङ्कुर्वन्तीति न भ्रमितव्यम्, ते खलु काव्यात्मभूतरसमप्युपकुर्वन्तीति अवश्यमेवास्ति तेन सम्बन्धः।

^{*} अनुसन्धान प्रशिक्षु:, संस्कृत अध्ययन विभाग:, हैदराबाद विश्वविद्यालय:।

^{1.} P.V. Kane-History of Sanskrit poetics.

^{2.} भावे घञ्, पाणिनीय सूत्र- 3.3.10

काव्यशास्त्रपरम्पराप्रारम्भस्यान्वेषणं तु दुष्करमेव। किन्तु उपलब्धेषु ग्रन्थेषु भरतमुनेः नाट्यशास्त्रानन्तरं भामहाचार्यस्य काव्यालङ्कारस्य निर्देशो विद्यते। अलङ्कारशब्दस्य प्राचीनकालादेव प्रचलनप्रयोगश्च परिदृश्यते। अलङ्कारसम्प्रदायस्य प्रवर्त्तकालङ्कारिकेषु ऐतिहासिकदृष्ट्या भामहाचार्यः एव प्रथमाचार्यो वर्त्तते। तदनन्तरं काव्यशास्त्रस्य परम्परा इदानीं यावतु प्रवर्तते।

काव्यसौन्दर्यस्याधायकानि यानि गुणरीतिध्वन्यलङ्कारादितत्त्वानि अलङ्कारशास्त्रं विविनक्ति तानि सर्वाण्यपि तत्त्वानि मूलतो वेदेषु प्राप्तानि भवन्ति, तस्मादलङ्कारशास्त्रमपि स्वोत्पत्यर्थमुपादानानि सामग्रीं वा वेदेभ्य एव लेभे। अलङ्कारशब्दस्य प्राचीनकालादेव प्रचलनप्रयोगश्च परिदृश्यते। अलङ्कृतिशब्द: ऋग्वेदे 'अरङ्कृति:' रूपेण प्राप्यते।

का ते अस्त्यरङ्कृतिः सूक्तैः कदा नूनं ते मद्यवं दाशिम।

किञ्च, वेदवेदाङ्गादिषु केवलमलङ्कारशास्त्रस्य तत्त्वानि समुपलभ्यन्ते न च, तानि शास्त्राणि प्रत्यक्षतयाऽप्रत्यक्षतया वा तस्य शास्त्रीयं निरूपणं कुर्वाणानि दृश्यन्ते। तदीयं शास्त्रीयं निरूपणं तु भरतमुनिसमयात् प्रारब्धं भवति। नाट्यशास्त्रे भरतमुनि: अपि दृश्यकाव्यस्योत्पत्तिस्थलं वेदं मन्यते। तदुक्तम्-

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च। यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥²

भरतानन्तरं मेधाविरुद्रप्रभृतयः कितपये विद्वांसोऽजायन्त। परन्तु न तेषां ग्रन्थास्समुपलभ्यन्ते। अतः भामह एव साहित्यशास्त्रस्य प्रमुखाचार्यः इति मन्यते। अलङ्कारसम्प्रदायो भामहेन प्रवर्त्तितोऽपि तद् ग्रन्थव्याख्यातृभिः रुद्रटोद्धटादिभिरेव स्थिरतां प्रापितः। काव्येऽलङ्कारस्य प्राधान्यमिप येन केनापि रूपेण दण्डिनोऽपि स्वीकृतमासीदेव। एतत्सम्प्रदायानुसारिणां मते अलङ्कारा एव काव्यजीवातवः। अलङ्कारहीनं काव्यस्वीकरणं तथैवोपहासास्पदं यथा उष्णतारिहतमिनस्वीकरणम्। एतदेवोक्तं पीयूषवर्षजयदेवेन-

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती। असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलङ्कृती॥³

अलङ्कारशास्त्रे काव्यप्रकाशस्य स्थानम्-

एकादशशताब्द्यां काश्मीरे लब्धजन्मा आचार्यो मम्मटः अतिप्रसिद्धः काव्यशास्त्रज्ञः आसीत्। सः "काव्यप्रकाशः" नाम ग्रन्थं व्यरचयत्। अस्य पितुर्नाम जैयटः आसीत्।

^{1.} ऋग्वेद. 7.29.3.

नाट्यशास्त्र:- 1.17

^{3.} चन्द्रालोक:- 1.8

मम्मटस्य पाण्डित्येन प्रायः सर्वे एव टीकाकाराः मुग्धाः आसन्। तेष्वनेके तं 'वाग्देवतावतारः' इति उपाधिना अमण्डयन्। झलकीकरनाम्ना भट्टवामनाचार्येण स्वस्य काव्यप्रकाशस्य व्याख्यायाम् अस्य काव्यप्रकाशस्य षट्चत्वारिंशृट्टीकानां नामोल्लेखनं लेखनमकरोत् येन ग्रन्थस्य अस्य महत्वं ज्ञायते।

आचार्यो मम्मटः काव्यप्रकाशं प्रणीय आलङ्कारिकाणां समक्षे स्वस्मात् प्राग्वर्तिनां सहस्राब्देषु सञ्जातानामाचार्याणां कृतीः सम्यगवग्राह्य तासां सारभारं निहितवान्। रसगुणालङ्कारादीनां सर्वेषां महत्त्वमुपादेयत्वं वैशिष्ट्यञ्च यद्यदस्ति तत्तत् सकलं साधुतया अपि दर्शितवान्।

संस्कृतकाव्यजगतः शास्त्रीयपरम्परायां काव्यप्रकाशस्य मूर्धन्यं स्थानं निर्विवादमेव। काव्यप्रकाशः 'काव्यं प्रकाशतेऽनेन अस्मिन् वेति' विग्रहे करणाधिकरणयोश्च पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण इति 'घ'प्रत्ययेन निष्पन्नः शब्दः। अत्र काव्यं किमिति प्रश्ने किश्चदाह मन्मनो मनुते यदेव कवयं तदेव काव्यम्। काव्यप्रकाशः भारतीयालङ्कार-शास्त्रस्य अद्वितीयः ग्रन्थः। अलङ्कारशास्त्रे काव्यप्रकाशस्य विशिष्टं स्थानं वर्तते। दशषु उल्लासेषु काव्यशास्त्रस्य निरूपणमभवत्। "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि" इति काव्यलक्षणं काव्यप्रकाशस्य अनुक्रमसूचिः। काव्यप्रकाशो हि काव्यालङ्कारग्रन्थः। असौ हि तावत्पर्यन्तानुभूतकाव्यसम्बद्धसिद्धान्तानां सारसङ्गहः। अत्र हि अनेके काव्यशास्त्रसम्बन्धसिद्धान्ताः निरूपिताः। समये समये एतादृशानां मनीषिणां आचार्याणाम् आविर्भावः अभवत् यत् तैः काव्यभेदविषये नूतनमार्गः प्रशस्तः कृतः। काव्यशास्त्रे तादृशः प्रतिभासम्पन्नः व्यक्तित्वोदयः अभवत् सः मम्मटाचार्यः नाम्ना परिचितः।

आचार्यमम्पट:-

संस्कृतसाहित्ये मम्मटाचार्यस्य स्थानमतीवमहत्त्वपूर्णम्। ख्रीष्टब्दीयस्य एकादशशतकस्य उत्तरार्धभागे आचार्योऽयं काश्मीरभुवमलञ्चकार इति विद्वद्भिः निश्चितम्। मम्मटात्पूर्वं काव्यशास्त्रस्य क्षेत्रे ये सिद्धान्ताः निर्धारिता अभूवन् तेषां सर्वेषां सिद्धान्तानां विवेचनं कुर्वन् काव्यस्वरूपस्य तस्याङ्गानाञ्च विशदं विवेचनमकरोत्। काव्यशास्त्रे बहवः आचार्याः अभवन्। ते सर्वेऽिप काव्यशास्त्रस्य कमिप विशेषं सिद्धान्तं स्वीकृत्य स्वस्य ग्रन्थे साहित्यशास्त्रस्य विवेचनं कृतवन्तः। काव्यस्य प्राणभूततत्त्वं किम्? इति चिन्तयन्तः एते आचार्याः नानाविधसिद्धान्तानां स्थापनां कृतवन्तः। अतः आचार्यभरतात् आरभ्य जगन्नाथपर्यन्तं साहित्यस्य विविधाः विचारपरम्पराः आगताः। महामुनिभरतात् प्रवर्त्ततायाः काव्यशास्त्रधारायाः प्रवाहे मम्मटात् प्राग् रसालङ्कारः-रीतिः-वक्रोक्तिः-ध्वन्यादयो विविधा वादाः प्रचलिता लक्ष्यन्ते। रसध्वनिपरम्परा आचार्येण आनन्दवर्धनेन समर्थिता। एषा परम्परा मम्मटाचार्येण

सम्मार्जिता। आनन्दवर्धनाचार्यकृतायाः ध्वनेरुद्भावनाया अनन्तरं आचार्यभट्टनायको मिहमभट्टश्च ध्वनिसिद्धान्तध्वंसाय याः याः युक्तीः समुपस्थापयामासुः तासां सर्वासां युक्तीनां खण्डनं कृत्वा मम्मटाचार्यः ध्वनिसिद्धान्तं प्रतिष्ठापितमकार्षीत्। यथा यथा ध्वनेः खण्डनं अभवत् तथा तथा ध्वनेः मण्डनिप अभवत्। यस्मिन् काले ध्वनेः विरोधः भवति स्म तस्मिन्नेव काले मम्मटाचार्यरूपि जाज्वल्यमाननक्षत्रोदयः अभवत्। तेन काव्यप्रकाशप्रहरणेन ध्वनिविरोधिनां खण्डनं कृत्वा ध्वनेः पुनः स्थापना कृता। काव्यप्रकाशोऽयमलङ्कारशास्त्रग्रन्थेष्वेकतमो निबन्धः। यस्मिन् खल्ववगते काव्यस्य निर्माणे स्वरूपदोषगुणालङ्कारशीनामवधारणे च शक्तिरुन्मिषति तदलङ्कारशास्त्रम्। काव्यप्रकाशः भारतीयालङ्कारशास्त्रस्य अद्वितीयः ग्रन्थः। अलङ्कारशास्त्रे काव्यप्रकाशस्य विशिष्टं स्थानं च वर्तते। काव्यशास्त्रमूर्धन्यभृतस्य गभीरस्य, अनपेक्षितोक्तिमधुरस्य नवशताब्दीनामनन्तरं साम्प्रतं विशशताब्द्धामिप पूर्ववदेवोपयोगितया प्रामाणिकतया च विराजते काव्यसंसारप्रकाशकस्य मम्मटिवरचितस्य काव्यप्रकाशस्य।

काव्यप्रकाशे दशोल्लासाः सन्ति यत्र नाट्यविषयं परित्यज्य काव्यशास्त्रीय समस्तविषयाणां विवेचनं दृश्यते। अस्मिन् ग्रन्थे 143 कारिकाः, 212 सूत्राणि एवं 605 सङ्ख्यकाः श्लोकाः विद्यन्ते। अत्र कारिकाः सूत्राणि च स्वयं मम्मटेन विरचिताः एवं उदाहरणानि तु अन्यत्र सङ्कलिताः।

काव्यप्रकाशस्य टीकाः व्याख्याश्च-

काव्यप्रकाशस्य नैकाः टीकाः अनेकाः व्याख्याश्च समुपलभ्यन्त इति विदित पूर्वमेव। अधस्तात् तासु कासाञ्चन नामानि तासां कर्तृनामानि च निर्दिश्यन्ते।जिज्ञासुभिः परिश्रमेणोपयोक्तुं शक्या एवात्र संक्षेपेणोल्लिख्यन्ते।

तत्र प्रथमा टीका आचार्यमाणिक्यचन्द्रसूरिकृता 'काव्यप्रकाशसङ्केतः'', द्वितीया रुय्यकापराभिधरूचककृता 'काव्यप्रकाशसङ्केतः', तृतीया सोमेश्वरभट्टेन विरचिता 'काव्यादर्शसङ्केतः'', चतुर्थी (नरहरि) सरस्वतीतीर्थकृता 'बालचित्तानुरञ्जनीटीका⁴', पञ्चमी गुर्जरदेशपुरोहितजयन्तभट्टकृता 'काव्यप्रकाशदीपिका' (1294ख्री.) एवं 'काव्यप्रकाशविवेकः' इत्याख्या टीका श्रीधरठक्कुरतर्काचार्येण विरचिता (1225 ख्री.)। 'काव्यप्रकाश-दीपिकाटीका⁵' महामहोपाध्यायश्रीचण्डीदासेन रचिता, 'काव्यप्रकाशदर्पणः' इत्याख्या टीका विश्वनाथकविराजेन विरचिता (1300–1380

^{1.} आनन्दाश्रमग्रन्थमाला मैसुरे च प्रकाशितम्- 1159-60 ख्री.

^{2.} Calcutta Oriental Journal, Vol II, P-1-75

^{3.} राजस्थान पुरातनग्रन्थमालायाम्, जोधपुर।

^{4.} वाराणस्या कृता (टीकाकृज्जन्म 1298)।

^{5.} वाराणस्या सरस्वतीभवनग्रन्थमालाया मुद्रिता।

ख्री.), काव्यप्रकाशस्य 'बालबोधिनीटीका¹' वामनाचार्यझलकोकरेन रिचता (1882 ख्री.)। एवं श्रीविद्याचक्रवर्तीकृता 'सम्प्रदायप्रकाशिनी', त्रिवेन्द्रनगरे साहित्यचूडामणिना सह मुद्रिता। परमानन्दचक्रवर्तीभृटाचार्यकृता 'विस्तारिकाटीका' वारणासीसंस्कृत-विश्वविद्यालयेन मुद्रिता। काव्यप्रकाशस्य 'सारबोधिनीटीका' श्रीवत्सलाञ्छनभृटाचार्यैः कृता। काव्यप्रकाशस्य अपरा टीका 'मधुमितव्याख्या' रिव (पाणि) ठक्कुरेन विरिचता। कमलाकरभृट्टकृता 'कमलाकरी' टीका वाराणस्यां मुद्रिता। 'निदर्शना (सारसमुच्चयः)' राजानकेन आनन्देन रिचता। 'काव्यप्रकाशादर्शः' इत्याख्या टीकामहेश्वरभृटाचार्येन विरिचता। भीमसेनदीवक्तकृता 'सुधासागरः' इत्याख्याटीका चौखम्बासंस्कृतग्रन्थमालायां मुद्रिता।

प्रकृतशोधस्य उद्देश्यम्-

यद्यपि काव्यप्रकाशस्य बहवः टीकाग्रन्थाः सम्पादिता प्रकाशिताश्च सन्ति अस्य ग्रन्थस्य अनेके टीकाग्रन्थाः अद्याविध मातृकारूपेण विद्यन्ते। तेषु अप्रकाशितेषु टीकाग्रन्थेषु जयरामन्यायपञ्चाननप्रणीतं 'तिलकटीका' अन्यतमा। शोधप्रबन्धस्य स्वातन्त्र्यं विचिन्त्य अस्य पूर्वशोधकार्य परिशीलनं कृतम् परन्तु कुत्रापि तिलकटीकायाः सम्पादनं प्रकाशनञ्च एतावत् पर्यन्तं न जातम्। अत्र जयरामप्रणीतिलकटीकायाः पाठसमीक्षात्मकं सम्पादनम् इति शोधप्रबन्धे मम प्रयासः स्वतन्त्रः एव। एषा टीकायाः सम्पादनार्थं पूर्वशोधकार्यपरिशीलनं निरीक्षणं च मया कृतम्। अतः अस्याः टीकायाः प्रकाशनेन विद्वांसः पाठकाश्च लाभान्विताः भवेयुः अपि च तिलकव्याख्याकारः जयरामो महानैयायिकः तादृशस्य प्रसिद्धनैयायिकस्य अप्रकाशितायाः व्याख्यायाः प्रकाशोन्मुखं कार्यं येन गवेषकाः निश्चप्रचं सन्तुष्टान्तरङ्गा बभूवुः इतिशोधप्रबन्ध-वनमाशणरूपप्रयतः मया विधीयते।

आचार्यः जयरामन्यायपञ्चाननः तस्य कृतयश्च-

षोडशशताब्दीकेन जयरामन्यायपञ्चाननाख्येन पण्डितेन तिलकनाम्ना काचित् टीका विरचिता। पाण्डुलिप्यागारेषु विद्यमानासु सूचिकासु एतस्याः अपरं नाम 'जयरामी टीका' इति, 'रहस्यदीपिका' इति च निर्दिष्टं वर्तते। एतेषाम् आचार्याणां कृतिमाध्यमेन ज्ञायते यद् अयं कश्चन महान् नैयायिकः आसीदिति। आचार्यः जयरामपण्डितस्य रामचन्द्र (रामभद्र) भृट्टाचार्यसार्वभौमस्य शिष्यः, तथा जनार्दनव्यासस्य²

^{1.} पुना नगरे प्रकाशितम्।

^{2.} न्यायसिद्धान्तमञ्जरी- (ep.MS.No.231, Nyaya, Govt. Sanskrit Library, Banaras) Begins.... नत्वा जनार्दनव्यासो जयरामं जगद् गुरुम्। Ends- नरीनर्ति च जिह्वाग्रे यस्य वाग्देवता परा। गुरुं तं परमं नौमि जयरामाभिधं सदा।।1।। न्यायपञ्चानन- श्रीमज्जयराममुखाम्बुजात्। श्रुत्वा न्यायमशेषं तु कृतिरेषा मया कृता।।2।।

लौगाक्षीभास्करस्य¹ च गुरुः आसीत्। काव्यप्रकाशस्य व्याख्यातृषु आचार्यः श्रीवत्सलाञ्छनः स्वस्य 'सारबोधिनो' व्याख्यायां तथा आचार्यः भीमसेनः स्वस्य 'सुधासागर' टीकायाञ्च आचार्यस्य जयरामस्य नामोल्लेखं कृतवन्तौ यस्मात् इदं ज्ञायते यद् अयम् आचार्यः जयरामः तेषां पूर्ववर्त्ती टीकाकारः इति। एवमेव पण्डितः विश्वेश्वरः स्वस्य 'अलङ्कारकौस्तुभः' इति ग्रन्थे सर्वप्रथमम् अस्य आचार्यस्य नाम 'जयरामन्यायपञ्चानन' इति निर्दिशति। आचार्यः जयरामः "तत्त्वचिन्तामणिदीधितः" इत्यस्य ग्रन्थस्य प्रणेतुः रघुनाथशिरोमणेः परवर्त्ती नैयायिकः, यतोहि सः तत्त्वचिन्तामणिदीधितग्रन्थस्योपरि टीकां विरचितवान्। अस्य जयरामाचार्यस्य कृतिषु "न्यायसिद्धान्तमाला" इति ग्रन्थे अस्य कालः 1750 सम्वत् (1694ख्री) इति निर्दिष्टः। अयं वङ्गदेशीयः। कृष्णानगरस्य वङ्गप्रदेशस्य राजा रामकृष्णः तस्य आश्रयिता आसीत्। जयरामन्यायपञ्चाननभट्टाचार्यः न्यायशास्त्रे महानैपुण्यं प्राप्तवानासीत्। अतः न्यायशास्त्रे बहून् ग्रन्थान् व्यरचयत्। यथा–

- न्यायसिद्धान्तमाला² (न्यायसूत्रव्याख्या)
- पदार्थमाला³
- न्यायकुसुमाञ्जलीकारिकाव्याख्या
- तत्वचिन्तामणीदीधितिटीकाग्रन्थ:- "गृढार्थविद्योतनी" इत्याख्य:।
- तत्त्वचिन्तामण्यालोकविवेक: (रहस्यम्) जयदेवस्य आलोकस्य उपिर उपटीका/उपव्याख्या।
- गुणिकरणाविलप्रकाशदीधितिविवृति:- दीधिते: उपटीका, 'किरणाविल'
 ग्रन्थस्योपिर वर्द्धमानस्य टीकाया: उपव्याख्या।

एतदितरिच्य पाण्डुलिप्यागारसूचिकासु एतस्य अन्येषां ग्रन्थानां नामानि प्राप्यन्ते। परं कदाचित् ते ग्रन्थाः पूर्वोक्तानां ग्रन्थानामेव कश्चन भागः स्यात् इति विद्वद्भिः

^{1.} **पदार्थमालाप्रकाश** – Fol. 4 (MS.No. 921. Nyaya. Govt. Sanskrit Library] Banaras) – श्रीमता सकलशास्त्रपारंगमत्वजनित तेजोविशेषवता तत्तद्वादिनिरासप्रसूतजयो रमतेऽस्मिन्नित्यन्वर्थ जयरामसंज्ञावृता पदार्थानां द्रव्यगुणादीनां माला तत्प्रतिपादकशब्द – विशेषाणां विलक्षणविन्यासरूपा तन्नामको ग्रन्थिवशेष इति यावत्।स्वग्रन्थे निवेशिताया: पदार्थमालासंज्ञाया:।

^{2.} गोपिनाथ कविराज: अनेन आचार्येण इदं पुस्तकं सम्पादितं प्रकाशितञ्च।

^{3.} In his न्यायसिद्धान्तमाला he refers three times (pp 4, 7, 9) to his पदार्थमाला।

^{4. (}In MS. No 466, Nyaya section, Govt. Sanskrit library, Banaras) – श्रीविश्वेशमशेषमङ्गलभुवं भूयोऽभिवाद्यादरान्। मूर्ध्न्याधाय च रामभद्रचरणद्वन्वारविन्दद्वयम्। गूढाज्ञानघनावृता न विषयपोद्बोधिनी दीधितिम्। तस्माच्छ्रीजयराम एष तनुते गूढार्थविद्योतनम्।।

चिन्त्यते। तानि च नामानि-

अन्यथाख्यातितत्त्वम्, शब्दालोकरहस्यम्, शब्दालोकिववेकः, आकांक्षावादः, सिन्नकर्षतत्त्वविवेकः, आख्यातवादिप्पणी आख्यातवादव्याख्यासुधा, समासवादः, उद्देश्यविधेयबोधस्थलीविचारः, सामग्रीवादः, कारकव्याख्या 'कारकवादः', सामान्य-लक्षणदीधीतिटिप्पणी, जातिपक्षवादः, जयरामीन्यायः, विशिष्टवैशिष्ट्यवादः, सिन्नकर्षवादः, विषयतावादः, लघुसिन्नकर्षवादः, व्याप्तिवादटीका, नञर्थविवृतितत्त्व-विवरणम्, उपाधिवादः, गुणशिरोमणिटीका, पक्षतावादः, पदार्थखण्डनम्, प्रतियोगितावादः, अनुमानजयरामी, व्युत्पत्तिवादटिप्पणी, समासतत्त्वम्, स्वत्विनिरूपणम्, स्वत्ववादः।

आचार्यस्य जयरामस्य काव्यप्रकाशटीकाः-

महान् नैयायिकस्सन् अपि एते आचार्याः अलङ्कारशास्त्रेऽपि निपुणतां प्राप्तवन्तः इति एतेन विरचितया तिलकनाम्न्या टीकया ज्ञायते। पाण्डुलिप्यागारसूचिकाभ्यः एतत् टीकामिधकृत्य केचन सङ्कोताः समुपलभ्यन्ते। तत्र प्रधानतया चेन्नेनगरे अडयार् इति दीयमाने स्थले विद्यमाने पाण्डुलिप्यागारे अस्याः टीकायाः पुरातनीया प्रतिकृतिः काचित् उपलभ्यते। यद्यपि इयं प्रतिकृतिः अपूर्णा तथापि भागः समुपलभ्यते। तन्नाम आदितः तृतीयोल्लासपर्यन्तस्य ग्रन्थस्य टीका, तथा षष्ठोल्लासादारभ्य अष्टमोल्लासपर्यन्तस्य ग्रन्थस्य टीका इति षण्णां उल्लासानां टीकाभागाः समुपलभ्यन्ते।

तथा मैसूरुनगरस्य पौरस्त्यानुसन्धानकेन्द्रे अस्या टीकायाः द्वे मातृके समुपलभ्येते। तयोः एकस्यां मातृकायां प्रथमोल्लासादारभ्य नवमोल्लासपर्यन्तस्य ग्रन्थभागस्य टीका समुपलभ्यते। अन्यस्याञ्च प्रतिकृतौ दशमोल्लासभागः समुपलभ्यते। तस्मात् एका एव मातृका कदाचित् द्विधा विभक्ता स्यात् इति ऊहितुं शक्नुमः। एवं भण्डारकरपौरस्त्यानुसन्धानकेन्द्रे अस्याः टीकायाः काचित् कर्गजपत्रप्रतिकृतिः उल्लासत्रयात्मिका समुपलभ्यते।

एतदितिरिच्य श्रीकृष्णशर्मणः रसप्रकाशटीकया सह प्रकाशितस्य काव्यप्रकाशस्य पुस्तके एतस्याः टीकायाः सम्पूर्णा एका कर्गजपत्रप्रतिकृतिः वाराणसीनगरस्य सरस्वतीभवनस्य ग्रन्थागारे समुपलभ्यते इति निर्दिष्टं वर्त्तते। राजस्थानमध्येऽपि च मिथिलायामपि अस्याः टीकायाः प्रतिकृतयः सन्ति इति काटालोगमध्ये सूचितमस्ति। इत्थञ्च अस्याः टीकायाः प्रतिकृतयः सप्त इति एभ्यः सङ्कोतेभ्यः ज्ञायते।

तिलकटीकायाः वैशिष्ट्यम्-

ख्रीष्टीयषोडशशताब्दीतः एव एतैः प्रौढनैयायिकैः पण्डितप्रवरैः श्रीजयरामन्याय-पञ्चाननभृद्राचार्यैः काव्यप्रकाशतिलकनाम्ना टीका व्यरचि। तत्र भृद्राचार्यशब्दो वङ्गप्रान्तेषु

प्राचीनादेव कालात् न्यायशास्त्रप्रवीणेषु रूढ इति सुप्रज्ञातमेव विदुषाम्। नैयायिकस्य जयरामन्यायपञ्चाननस्य तिलकटीका इति विषये किञ्चिदिह प्रतिपाद्यते–

प्राय: प्रसिद्धै: प्राचीनै: पण्डितैर्विशेषतो नैयायिकै: काव्यप्रकाशे टीका विरचयद्भिर्बहु पराक्रान्तम्, तत्र हेतुः काव्यप्रकाशस्य पठनपाठनादौ विपुलप्रचारशालित्वं. बह्वर्थगर्भपरिमिताक्षरवत्वं, मान्यतमत्वं चेति मन्यामहे। तत्र काव्यप्रकाशस्य वहवीष् टीकास् जयरामकृतितलकटीका एव सर्वा: अतिशेते, यतोऽस्यां विस्तृतायां टीकायां कारिकावृत्त्युदाहरणानां पृथक् पृथक् व्याख्यानानि सोपपत्तिकानि विस्तृतानि च सन्ति। प्राचीनानां टीकाकाराणां मतानि च क्वचित्साधकतया निर्दिष्टानि। प्राचीनेष् टीकाकारेषु प्रथमोल्लासे "इति मिश्राः" इत्यादिपदेन सुबुद्धिमिश्रः, "प्रदीपकारः" इत्यनेन गोविन्दठक्कुरपकृत: काव्यप्रदीपस्य, "दर्पणकार:" इत्यादिना च काव्यप्रकाश-दर्पणकृतो विश्वनाथस्य च नामानि अस्यां टीकायां समुल्लिखितानि। काव्यप्रकाशस्य टीकाकार: परमानन्दचक्रवर्त्याचार्यं बहुवारं निर्दिशति, अपि च "महामहोपाध्याय-चण्डीदासस्य" मतं समुल्लिखितम्। एवमेव अन्यत्र "मण्डनाचार्यस्य" मतञ्च दुषयति। वाक्यपदीयकारस्य "भर्तृहरे:" मतमपि स्वटीकायाम् उल्लिखति। एवमेव काव्यप्रकाशस्य अप्रकाशितटीकायाः टीकाकारः म्रारीमिश्रस्य मतञ्च उल्लिखति। अपि च ध्वन्यालोककार: 'आनन्दवर्धनाचार्य:', 'अलङ्कारसर्वस्वकार:', 'दशरूपककार:', 'कालिदासः', 'भामहः' एतेषामाचार्याणां श्लोकानां विवरणं अस्यां टीकायां प्राप्यते। टीकायां मध्ये पाणिनीयसूत्राणां, न्यायवाक्यानां प्रयोगः दृश्यन्ते। एवमेव पञ्चमोल्लासे वेदमन्त्राणां बहुप्रयोगः टीकाकारैः क्रियते।

काव्यप्रकाशस्य त्रय अंशाः कारिकावृत्युदाहरणञ्च। कारिकाभागः सूत्र इति नाम्ना ज्ञायते। एतत् सूत्राणां व्याख्याभागः वृत्तिः नाम्ना व्यवह्रियते। अस्मिन् ग्रन्थे उदाहरणानि अन्यग्रन्थात् नीयन्ते मात्र कारिका एवं वृत्तिभागस्य रचयिता सम्बन्धे मतभेदः दृश्यते। परन्तु काव्यप्रकाशस्य कारिकाभागः वृत्तिभागस्यच कर्ता मम्मटः एव अस्य नास्ति सन्देहः।

भरतमुनिप्रणीता या कारिका सा अलङ्कारसूत्रनाम्ना व्यविह्रयते मम्मटप्रणीता तु वृत्तिः सैव काव्यप्रकाशनामभाक् इति वङ्गीयानां प्रवादः। किन्तु टीकाकारः जयरामः कारिकाकर्ता वृत्तिकर्ताश्च अभिन्नः एव स्वटीकायाम् उल्लिखति।

प्रकृतशोधस्य फलानि-

अप्रकाशिताया एतस्या मातृकायास्सम्पादनस्य फलम् एतद्भवति यत्-

 न्यायदर्शनिवचक्षणस्य जयरामभट्टाचार्यस्य काव्यप्रकाशमिधकृत्य प्रमाणभूतमाशयं वयं ज्ञातं प्रभवामः।

- > काव्यप्रकाशग्रन्थस्य नृतना एका टीका प्रकाशियष्यते।
- 🕨 अलङ्कारशास्त्रवाङ्गमये नूतनव्याख्याग्रन्थस्य परिचय: सम्पादनञ्च।
- मम्मटाचार्याणां काव्यप्रकाशग्रन्थस्य सुलभावगमाय एकस्य उपकरणस्य आविष्कारः।
- भारतीयज्ञानपरम्परायां (Indian knowledge System) पाण्डुलिपिविज्ञानस्य महत्त्वप्रतिपादनम्।
- अनेन प्रकारेण काव्यप्रकाशस्य महत्त्वमिप समेधत इति मम विश्वास:।

उपसंहार:-

संस्कृतसाहित्यस्य महान् लक्षणग्रन्थः मम्मटाचार्यस्य काव्यप्रकाशः काव्य-स्वरुपस्यावगमनार्थं संस्कृतकाव्यशास्त्रीणां निमित्तं अद्याविध प्रामाणिकग्रन्थः वर्तते। काव्यशास्त्रस्य सर्वोत्तमसाररूपतत्त्वानां सङ्कलनं कृत्वा काव्यप्रकाशे तेषां तत्त्वानां सम्यग् उपस्थापनं कृतम्। पूर्वाचार्याणां विषयप्रतिपादने याः न्यूनताः आसन् ताः विषयदृष्ट्या परिपूर्णाः भवेयुः तदर्थं प्रयत्नः कृतः एवमेव साहित्यशास्त्रस्य रसध्विनगुणदोषालङ्कारादितत्त्वानां यथार्थं मूल्याङ्कनं कृत्वा काव्यप्रकाशे तेषां संस्थापनमिप कृतम्। सङ्क्षेपेण सूत्रशैल्या परिमितशब्दैः विशेषविषयाणां प्रतिपादनं मम्मटाचार्यैः स्वीयकाव्यप्रकाशे क्रियते। काव्यप्रकाशस्य बहवः टीकाग्रन्थाः सन्ति परन्तु तिलक-टीकातुल्यं विस्तरेण विषयाणां प्रतिपादनं नान्यत्र दृश्यते इति टीकायाः किञ्चित् माहात्म्यम्। प्रस्तुतं शोधप्रपत्रम् मम पिएच्. डि. शोधप्रबन्धस्योपरि आधारितः भवति। शोधप्रबन्धार्थं मया काव्यप्रकाशस्य तिलकटीकायाः तिस्त्रः मातृकाः स्वीकृत्य तेषां सम्पादनमध्ययनञ्च कृतम्।

सन्दर्भाः-

- डॉ. जगदीश चन्द्र मिश्र:, 2017, अलङ्कारशास्यस्येतिहास:, चौखम्बा सुरभारती
 प्रकाशन, के. 37/ 117, गोपालमन्दिर लेन, वाराणसी- 221001।
- > झलकीकरभट्टवामनाचार्य, 1933, काव्यप्रकाश:- बालबोधिनी टीका, Bhandarkar Institute Press, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona- 4.
- आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तिशरोमणि, काव्यप्रकाशः, ज्ञानमण्डल लिमिटेड,
 "आज" भवन, सन्त किबर मार्ग, वाराणसी- 221001.
- 🗲 डॉ. सत्यव्रत सिंह , काव्यप्रकाश:, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी- 221001।

Dr. S.N. Ghosal Sastri, 1973, Kāvyaprakāśa-commentary Rasaprakāśa, Chaukhamba Sanskrit Series Office, Varanasi.

- P.V. Kane, 1972, History of Sanskrit poetics, Motilal Banarasi Das publishers, Delhi.
- S.K.De, 1925, History of Sanskrit poetics-Vol-II, Calcutta Oriental press, 107, Calcutta-1925.
- Gopinatha Kaviraja, 1928, Nyāya Siddhānta Mālā, Jayakrishna Dasgupta vidya vihara press, Gopala Mandir Lane, Banaras City.
- > Theodor Aufrecht, Leipzig, 1891, Catalogues Catalogorum.
- S. Kuppuswami Sastri, Prof, P.P. Subhramanya Sastri, C. Kunhan raja, 1937, New Catalogues Catalogorum, University of Madras.



शिशुपालवधस्य सर्वङ्कषाटीकायाः कोशोद्धतीनां प्रामाणिकताविचारः

-डॉ. मृत्युञ्जयगराँइ*

ISSN: 0975-1769

प्रबन्धसार:

महाकविमाघकृतं शिशुपालवधिमिति महाकाव्यं पण्डितसमाजे विशेषादृतम्। महाकाव्यस्यास्य सम्यगर्थबोधे बहवष्टीकाः विरचिताः सन्ति। तासु मिल्लिनाथकृता 'सर्वङ्कषा'नाम्नी टीकाऽतीवोत्कृष्टा। अन्वयमुखेन टीकायामस्यां सर्वेषां श्लोकानां हृदयग्राही व्याख्या प्रदत्ता। श्लोकिस्थितानां शब्दानां पदानां वा सम्यगर्थं प्रतिपादियतुं टीकायामस्याम् अमर-विश्वप्रकाश-मेदिनी-हलायुध-वैजयन्ती-अनेकार्थसंग्रह-त्रिकाण्ड-शाश्वतकोशादीनामुद्भृतिः बहुत्र प्रतिपादिता। परन्तु एतासामुद्भृतीनां प्रामाणिकताऽस्ति न वेति शङ्का सततमुपजायते विद्वद्भिः। एवं शङ्कानिवारणे प्रबन्धेऽस्मिन् प्रयत्नः कियते।

सङ्क्षेतशब्दाः

कोशः, शिशुपालवधम्, सर्वद्भषाटीका, अमरकोषः, विश्वप्रकाशः, हलायुधकोशः, वैजयन्तीकोषः. मेदिनीकोशः. शाश्वतकोशः।

प्रस्तावना

संस्कृतमहाकाव्यधारायां शिशुपालवधस्य प्रशस्तं स्थानमस्ति। विंशतिसर्गेषु महाभारतीयां कथामाश्रित्य महाकविमाघेन प्रणीतिमदं काव्यम्। संस्कृतसाहित्ये पाण्डित्यमयीशैल्याः चरमोत्कर्षो दृश्यते शिशुपालवधे। शब्दवैचित्र्यं खलु महाकाव्यस्यास्य महत् वैशिष्ट्यम्। महाकविमाघस्य नवीन-नूतन-शब्दानां सङ्गीतात्मकझंकारोऽर्थबोधस्य प्रतीक्षारिहतेऽपि समाकर्षति सर्वान् हृदयान्। अतः सहृदयानां समीपे माघकाव्यं तावदतीव जनप्रियकाव्यम्। अत्यधिकजनप्रियत्वात् महाकाव्यस्यास्य काले काले विद्वद्भिः बहवष्टीकाः विरचिताः सन्ति। तासु 'सर्वङ्कषा' नाम्नी टीका अतीवोत्कृष्टा। दिक्षणभारतीय-महोपाध्याय-कोलाचल-मिल्लनाथसूरी अस्याः टीकायाः स्रष्टा।

^{*} सहायकाचार्य: (अंशकालिक:), रामकृष्णमहाविद्यालय:, मधुबनी, बिहार:।

अन्वयमुखेन शिशुपालवधस्य सर्वश्लोकानां हृदयग्राही व्याख्या प्रदत्ता सर्वङ्कषायाम्। व्याख्यानकाले प्रसङ्गानुसारेणात्रालंकार-व्याकरण-दर्शन-काम-कोश-धर्म-सङ्गीत-ज्योतिष-नीतिशास्त्रादीनामालोचनमपि परिलक्ष्यते। एवमालोचनं न तु अमूलकमपितु युक्तिनिष्ठम्। यथोक्तं श्रीमता मल्लिनाथेन-

इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया। नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते॥

वस्तुतस्तु एषु आलोचनेषु कोशात्मिकालोचनाऽतीव मनोग्राही। शिशुपालवधस्य बहूनां ख्याताख्यात-दुरूहशब्दानां पदानां वार्थसमर्थने मिल्लनाथेन बहुविधाः कोशोद्धृतयः प्रदत्ताः। शिशुपालवधस्यार्थबोधे रसबोधे च यासां महान् उपयोगोऽस्ति। श्लोकानां सम्यगर्थं प्रतिपादियतुं टीकायामस्यां बहुत्रामर-विश्वप्रकाश-मेदिनी-हलायुध-वैजयन्ती-अनेकार्थसंग्रह-त्रिकाण्डशेष-शाश्वतकोशादीनामुद्धृतिः प्रतिपादिता। एवमुद्धृतीनां प्रामाणिकताऽस्ति न वेति शङ्का जायते विद्वद्भिः। एवं शङ्कानिवारणेऽत्र प्रयत्नः कृतः। विंशतिसर्गेषु एवं बहुविधा उद्धृतयःसर्वङ्कषाटीकायां परिदृश्यन्ते। परन्तु विस्तृतिभयात् कतिपयानामुद्धृतीनां प्रामाणिकताविश्लेषणमत्र सम्यकतया प्रतिपाद्यते।

अमरकोष:

संस्कृतवाङ्मये कोशशास्त्रपरम्परायां प्रख्यातः कोशग्रन्थस्तावत् अमरकोषः। अमरिसंहोऽस्य प्रणेता। 'नामलिङ्गानुशासनम्' इत्येतदस्यापरं नाम। स्वर्गादिकाण्डं, भूवर्गादिकाण्डं, सामान्यादिकाण्डं चेत्यत्र त्रीणि काण्डानि सन्ति। काण्डत्रयेऽत्रानेके वर्गाः सन्ति। टीकाकारमिल्लनाथेनार्थव्याख्यायाः समर्थनेऽमरकोशस्य बहुविधा उद्धृतिः प्रदत्ता सर्वङ्कषाटीकायाम्। तासां कितपयानां विश्लेषणमत्र प्रदर्शितम्।

1. पतत्पतङ्गप्रतिमस्तपोनिधिः। (शिशु.1/12)

शिशुपालवधस्य पद्येऽस्मिन् 'पतङ्गः' इत्यस्य पदस्यार्थविश्लेषणे सर्वङ्कषाटीकायां मिल्लिनाथेनोक्तम्-

"पतन् यः पतङ्गः सूर्यः स प्रतिमोपमानं यस्य सः। 'पतङ्गौ पक्षिसूर्यौ च' इत्यमरः।"

'पतङ्ग' शब्दस्तावत् पुंलिङ्गशब्दः। कोशशास्त्रे पिक्ष तथा सूर्यार्थे शब्दोऽयं प्रयुज्यते। मिल्लिनाथेनात्र सूर्यार्थे एव शब्दोऽयं व्याख्यातः। एवमर्थव्याख्यानस्य समर्थने तेन अमरकोशस्योद्धृतिः प्रदत्ता। अमरकोषग्रन्थस्य तृतीय-काण्डस्य तृतीये वर्गे एवमुद्धृतिः परिदृष्टा। तत्र प्राप्ता उद्धृतिः एवमेवास्ति-

^{1.} सर्वङ्कषा, भूमिकाश्लोक: 8

पतङ्गौ पक्षिसूर्यौ च पूगः क्रमूकवृन्दयोः। पशवोऽपि मृगाः वेगः प्रवाहजवयोरपि॥ (अमर. 3/3/20)

2. तपेन वर्षाः शरदा हिमागमो। (शिशु.1/66) 'वर्षाः'

सर्व. "वर्षा प्रावृट् तपेन ग्रीष्मेण। 'स्त्रियां प्रावृट् स्त्रियां भूम्नि वर्षा अथ शरित्स्त्रियाम्' इति चामरः।"

संस्कृतभाषायां 'वर्षा' खलु स्त्रीलिङ्गान्तः तथा नित्यबहुवचनान्तशब्दः। आषाढः श्रावणः इति मासद्वयं तावत् वर्षाकालः। प्रावृट् इति वर्षा-शब्दस्य नामान्तरम्। टीकाकारेण मिल्लिनाथेनात्र प्रावृट्-अर्थे हि शब्दोऽयं व्याख्यातः। व्याख्यानस्यास्य समर्थने तेन अमरकोशस्य उद्धृतिः प्रदत्ता। अमरकोषग्रन्थस्य प्रथम-काण्डस्य चतुर्थे वर्गे एवमुद्धृतिः परिलक्षिता। तत्र प्राप्ता सम्पूर्णा उद्धृतिः एवमेवास्ति-

निदाघ उष्णोपगम उष्ण ऊष्मागमस्तपः। स्त्रियां प्रावृट् स्त्रियां भूम्नि वर्षा अथ शरित्त्रियाम्॥

3. उदितं प्रियां प्रति सहार्दमिति। (शिशु. 9/69)

'हार्दम्'

सर्व. "प्रियां प्रति प्रियामुद्दिश्य हृदयस्येदं हार्दं प्रेम। 'प्रेमा ना प्रियता हार्दं प्रेम स्नेहः' इत्यमर:।"

कोशग्रन्थे 'प्रेमन्' इति शब्दस्य प्रेमन् (पुं-प्रेमा), प्रियता, हार्द, प्रेमन् (क्ली०-प्रेम), स्नेह चेति नामान्तराणि सन्ति। टीकाकारेण मिल्लिनाथेनापि 'हार्द' इति शब्दोऽत्र प्रेमार्थे स्नेहार्थे वा प्रयुक्तः। एवमर्थसमर्थने तेन अमरकोशस्य उद्धृतिः प्रतिपद्यते। अमरकोषग्रन्थस्य प्रथम-काण्डस्य सप्तमवर्गे एवमुद्धृतिः परिदृष्टा। तत्र प्राप्ता सम्पूर्णा उद्धृतिः-

प्रेमा ना प्रियता हार्वं प्रेम स्नेहोऽथ दोहदम्। इच्छाकाङ्खा स्पृहेहा तृङ्वाञ्छा लिप्सा मनोरथः॥

(अमरकोष:, 1/7/27)

विश्वप्रकाशः

श्रीमहेश्वरसूरिणा प्रणीतः प्रख्यातः कोशग्रन्थस्तावत् विश्वप्रकाशः। ग्रन्थेऽस्मिन् मुख्यतया प्रकरणद्वयं वर्तते– वर्णप्रकरणम्, अव्ययप्रकरणं चेति। कोशस्यास्य सर्वङ्कषायां बहुविधा उद्भृतिः परिदृष्टा। तासां कतिपयानि निदर्शनानि–

^{1.} अमरकोष: 1/4/19

4. अनन्यगुर्वास्तव केन केवल:। (शिशु. 1/35)

शिशुपालवधस्य पद्येऽस्मिन् 'केवलः' इत्यस्य पदस्यार्थविश्लेषणे सर्वङ्कषाटीकायां मिल्लिनाथेनोक्तम्-

"केवल: कृत्स्न:। 'केवल: कृत्स्न एक: स्यात्केवलश्चावधारणे' इति विश्व:।"

'केवल' इत्येवं शब्द: त्रीषु लिङ्गेष्वेव प्रयुक्त:। कोशशास्त्रेऽस्य निश्चित:, एक:, कृत्स्न: (समग्र:), निर्णय:, ज्ञानम्, कुहनादयो बहुविधा अर्था: परिदृश्यन्ते मिल्लिनाथेनात्र 'केवल' शब्द: पुंलिङ्गे कृत्स्नार्थे समग्रार्थे वा व्याख्यात:। एवमर्थव्याख्यानस्य समर्थने तेन विश्वप्रकाशस्योद्धृति: प्रदत्ता। विश्वप्रकाशग्रन्थस्य लान्तवर्गे एवमुद्धृति ईषदन्यरूपेण परिदृष्टा। तत्र प्राप्ता उद्धृति: एवमेवास्ति-

केवलो ज्ञानभेदे स्यात् केवलश्चौककृत्स्नयोः। निर्णीते केवलश्चोक्तं केवलः कृहने क्वचित्॥

अन्यैव लक्ष्मीरिति युक्तमेतत्। (शिशु. 3/12) 'लक्ष्मीः'

सर्व. "लक्ष्मी शोभा पद्मा च। 'शोभा सम्पत्तिपद्मासु लक्ष्मी: श्रीरिप गद्यते' इति विश्वः।"

'लक्ष्मी' इत्यस्य स्त्रीलिङ्ग-शब्दस्य कोशशास्त्रे विष्णुपत्नी-शोभा-सम्पत्ति-पद्म-श्री-मुक्तादयोऽर्थाः परिदृश्यन्ते। टीकाकारेण मिल्लिनाथेनात्र शोभार्थे तथा पद्मार्थे शब्दोऽयं व्याख्यातः। एवमर्थस्य समर्थने तेन विश्वप्रकाशस्य उद्धृतिः प्रदत्ता। विश्वप्रकाशस्य अनेकार्थशब्दपरिच्छेदे मान्तवर्गे मिल्लिनाथेनोक्ता उद्धृतिरियमन्यरूपेण प्राप्ता। तत्रोक्ता सम्पूर्णा उद्धृतिः एवमेवास्ति-

लक्ष्मीः श्रीशिवसम्पत्तिपद्मशोभाप्रियङ्गेषु। किर्मी पलाशे शालायां हेमपुत्र्यामुदीरिता॥²

6. स्तोकेन नाक्रमत वल्लभपालमच्चौ:। (शिशु. 5/56) 'वल्लभ:'

सर्व. "वल्लभपालमुत्तमाश्वपालम्। 'वल्लभो दयितेऽध्यक्षे कुलीनेऽश्वेऽपि वल्लभः' इति विश्वः।"

^{1.} विश्वप्रकाश:, अनेकार्थशब्दपरिच्छेद:/ लान्तवर्ग:/ लित्रकम्, 134।

^{2.} विश्वप्रकाश:, अनेकार्थशब्दपरिच्छेद:/ मान्तवर्ग:/ मद्विकम्, 30।

'वल्लभ' इत्यस्य पुंलिङ्ग-शब्दस्य कोशशास्त्रे प्रिय-अध्यक्ष-उत्तमाश्वादयोऽर्थाः लक्ष्यन्ते। मिल्लिनाथेनात्र उत्तमाश्वार्थे एव शब्दोऽयं व्याख्यातः। अस्यार्थस्य समर्थने विश्वप्रकाशस्य उद्धृतिः तेन प्रदत्ता। विश्वप्रकाशस्य प्रथमे परिच्छेदे भान्तवर्गे मिल्लिनाथेनोक्ता उद्धृतिः परिदृष्टा। तत्र प्राप्ता सम्पूर्णा उद्धृतिः एवमेवास्ति-

वल्लभो दियतेऽध्यक्षे कुलीनाश्वे च वल्लभः। दुर्लभः कर्चूरे न्याये दुष्प्राप्ये वल्लभेऽपि च॥

हलायुधकोशः अभिधानरत्नमाला वा

भट्ट हलायुधप्रणीत: 'अभिधानरत्नमाला' नाम कश्चन् प्राचीनकोश:। ग्रन्थकारस्य नामानुसारेण यस्य कोशस्य ख्याति: सर्वत्र परिव्याप्ता। कोशेऽस्मिन् स्वर्ग-भूमि-पाताल-सामान्य-अनेकार्थकाण्डानि सन्ति कोशस्यास्योद्धति: निम्ने विश्लेषिता-

7. कुलैर्न भेजे फणिनां भुजङ्गता। (शिशु. 1/63)

'भुजङ्गता'

सर्व. "फणिनां सर्पाणां कुलैवेर्गेर्भुजङ्गता सर्पता, विटत्वं च। 'भुजङ्गो विटसर्पयो:' इति हलायुध:।"

कोशग्रन्थे 'सर्प' इत्यस्य विषधर-पृदाकु-भुजग-भुजङ्ग-अहि-आशीविष-चक्रिन्-व्याल-सरीसृप-कुण्डलिन्-गूढ़्पाद-फिणन्-दर्वीकर-दीर्घपृष्ठ-दन्दशूक-विलेशय-उरग-पन्नग-भोगीन्-जिह्मग-पवनाशन-गोकर्ण-कञ्चुिकन्-कुम्भीनस्-फणधर-भोगधर-व्याड-द्विजिह्व-व्याल-सर्पादीनि बहूनि नामान्तराणि परिलक्षितानि। टीकाकारेण मिल्लनाथेनापि 'भुजङ्गता' इत्येवं शब्दोऽत्र सर्पस्यैव पर्यायरूपेण व्याख्यात:। व्याख्यानस्यास्य समर्थने तेन हलायुधकृतस्य हलायुधकोशस्य अभिधानरत्नमालायाः वा उद्धृतिः प्रदत्ता। हलायुधकोशस्य 'पातालकाण्डम्' नाम तृतीये काण्डे एवमुद्धृति ईषदन्यरूपेण परिलक्षिता। तत्र प्राप्ता सम्पूर्णा उद्धृतिः एवमेवास्ति-

> विषधरदन्दशूकपवनाशनसर्पसरीसृपोरगव्याल-भुजगभुजङ्गकुम्भीनसपन्नगनागभोगिनः। अहिफणभृत्पृदाकुकाकोदरकञ्चुिकचक्रिगूढपाद् द्विरसनकाद्दवेयदर्वीकरदृक्श्रुतयो भुजङ्गमाः॥²

.

^{1.} विश्वप्रकाश:, अनेकार्थशब्दपरिच्छेद:/ भान्तवर्ग:/ भित्रकम्, 26

^{2.} हलायुधकोश:, 3/18

8. गण्डूषमुज्झितवता पयसः सरोषम्। (शिशु. 5/36)

'गण्डूषम्'

सर्व. "गण्डूषं मुखपूरणम्। मुखान्तर्गतं पय इत्यर्थः। 'गण्डूषो मुखपूरणः' इति हलायुधः।"

'गण्डूष' इत्यस्य पुंलिङ्ग-शब्दस्य कोशशास्त्रे मुखपूरण-प्रसृतिपरिमित-हस्तिशुण्डाग्रभागादयोऽर्थाः परिदृश्यन्ते। मिल्लिनाथेनात्र मुखपूरणार्थे हि'गण्डूष'-शब्दस्योल्लेखः कृतः। अस्य समर्थने तेन हलायुधकोशस्योद्धृतिः प्रदत्ता। हलायुधकोशस्य 'सामान्यकाण्डम्' नाम चतुर्थकाण्डे एवमुद्धृतिः परिदृष्टा। तत्र प्राप्ता सम्पूर्णा उद्धृतिः-

सिंहनादो भवेत् क्ष्वेडा गण्डूषो मुखपूरणम्। प्रभावतां वदन्त्यार्याः प्रभुतां प्रभविष्णुताम्॥

वैजयन्तीकोष:

कोशशास्त्रपरम्परायां सुबृहत् कोशस्तावत् वैजयन्तीकोषः। यादवप्रकाशाचार्येण विरचितोऽयं कोशः। अत्राष्ट काण्डाः परिदृश्यन्ते। तद्यथा- स्वर्गकाण्डः, अन्तरिक्ष-काण्डः, भूमिकाण्डः, पातालकाण्डः, सामान्यकाण्डः, द्व्यक्षरकाण्डः, त्र्यक्षरकाण्डः, शेषकाण्डश्चेति। सर्वङ्कषायामस्य कोशस्य बहुविधा उद्धितरिस्त। तद्यथा-

9. स मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरै:। (शिशु. 1/47)

शिशुपालवधस्य पद्येऽस्मिन् 'मुग्धौ' इत्यस्य पदस्यार्थविश्लेषणे सर्वङ्कषाटीकायां मिल्लिनाथेनोक्तम्-

मुग्धौ नवौ 'मुग्धः सौम्ये नवे मृढे' इति वैजयन्ती।

कोशग्रन्थे सौम्य-नव-मूढ-मोहिनि-कोमलादिष्वर्थेषु 'मुग्ध' इति शब्दस्य प्रयोगोऽस्ति। मिल्लनाथेनात्र नवार्थे 'मुग्ध' इति शब्दो व्याख्यातः। एवमर्थव्याख्यानस्य समर्थने तेन वैजयन्तीकोशस्योद्धृतिः प्रदत्ता। वैजयन्तीकोशग्रन्थस्य 'द्व्यक्षरकाण्डम्' नाम षष्ठकाण्डस्य 'अर्थविल्लङ्गाध्यायः' नाम चतुर्थेऽध्याये एवमुद्धृतिः परिदृष्टा। तत्र प्राप्ता उद्भृतिः एवमेवास्ति-

मुग्धं सौम्ये नवे मूढे मूढो मोहिनि तन्द्रिते। मृद्धतीक्षे कोमले च बद्धोपरतयोर्यतः॥ (वैजयन्ती० 6/4/12)

_

^{1.} हलायुधकोश:, 4/100

10. तमःस्वभावेस्तेऽप्यनं प्रदोषमनुयायिनः। (शिशु. 1/47) 'प्रदोषम्'

सर्व. "प्रदोषं प्रकृष्टदोषम्। 'प्रदोषो दुष्टरात्र्यंशौ' इति वैजयन्ती।"

'प्रदोष' इति शब्दस्तावत् कोशशास्त्रे रात्रिप्रारम्भार्थे दुष्टरात्रिरित्यर्थे वा प्रयुज्यते। मिल्लनाथेनापि 'प्रदोष' इति शब्दोऽत्र 'दुष्टरात्रिः'-इत्यर्थे व्याख्यातः। एवमर्थव्याख्यानस्य समर्थने तेन वैजयन्तीकोशस्योद्धृतिः प्रदत्ता। वैजयन्तीकोशग्रन्थस्य 'त्र्यक्षरकाण्डः' नाम सप्तमकाण्डस्य 'पुंल्लिङ्गाध्यायः' नाम प्रथमेऽध्याये एवमुद्धृतिरन्यरूपेण परिलक्षिता। तत्र प्राप्ता उद्धृतिः एवमेवास्ति-

प्रसादो स्वाच्छत्र्यानुरोधौ पर्यायोऽवसरे क्रमे। प्रदोषौ दोषरात्र्यंशौ प्रणिधिः प्रार्थने चरे॥ (वैजय॰ 7/1/55)

अनेकार्थसंग्रहः

हेमचन्द्राचार्यप्रणीतः प्रख्यातः कोशग्रन्थः। कोशस्यास्य उद्धृतीनां विश्लेषणं निम्ने प्रतिपादितम्-

11. पतत्यधो धाम विसारि सर्वतः। (शिशु. 1/2) **'धाम'**

सर्व. "इदं तु सर्वतो विसारि धामाधः पतित। 'धाम रश्मौ गृहे देहे स्थाने जन्मप्रभावयोः' इति हेमचन्द्रः।"

'धामन्' इत्येवं क्लीबलिंगशब्दस्य हि कोशशास्त्रे रिष्म-गृह-देह-स्थान-जन्म-प्रभावादयोऽर्थाः परिदृश्यन्ते। मिल्लिनाथेनात्र 'रिष्म'-इत्यर्थे एव 'धामन्'-शब्दो व्याख्यातः। एवमर्थव्याख्यानस्य समर्थने तेन हेमचन्द्रकृतस्यानेकार्थसंग्रहस्योद्धृतिः प्रदत्ता। 'अनेकार्थसंग्रहः' इति ग्रन्थस्य 'द्विस्वरकाण्डम्' नाम द्वितीयकाण्डे 'द्विस्वरनान्ता' नामांशे एवमुद्धृतिः परिदृष्टा। तत्र प्राप्ता सम्पूर्णा उद्धृतिः एवमेवास्ति-

> धनुःशब्दः पियालद्रौ राशिभेदे धनुष्यपि। धाम रश्मौ गृहे देहे स्थाने जन्मप्रभावयोः॥

12. यस्यमजिह्या महतीमपङ्काः। (शिशु. 3/57) 'अपङ्काः'

सर्व. "अपङ्काः कर्दमरहिताः, निष्पापाश्च। 'पङ्कोऽघे कर्दमे' इति हैमः।"

^{1.} अनेकार्थसंग्रहः, द्विस्वरकाण्डम्/ द्विस्वरनान्ता/ 273।

संस्कृतभाषायां 'पङ्क् ' शब्दस्तावत् पुंल्लिङ्गे तथा क्लीबलिङ्गे प्रयुक्तः। कोशशास्त्रेऽस्य पापं कर्दमः इत्यर्थद्वयं लक्ष्यते। मिल्लिनाथेनात्र कर्दमार्थे एव 'पङ्क'-शब्दो व्याख्यातः। अर्थव्याख्यानस्यास्य समर्थने तेन हेमचन्द्रकृतस्यानेकार्थसंग्रहस्योद्धृतिः प्रदत्ता। 'अनेकार्थसंग्रहः' इति ग्रन्थस्य 'द्विस्वरकाण्डम्' नाम द्वितीयकाण्डे 'द्विस्वरकान्ता' नाम अंशे एवमुद्धृतिः परिदृष्टा। तत्र प्राप्ता सम्पूर्णा उद्धृतिः-

पङ्कोऽघे कर्दमे पाकः वचने शिशुदैत्ययोः। वको रक्षोभिदि श्रीदे शिवमल्लीवकोटयोः॥

(द्विस्वरकाण्डम्/ द्विस्वरकान्ता/12)

मेदिनीकोशः नानार्थशब्दकोशः वा

मेदिनिकारनिर्मितोऽयं कोशः पण्डितमहले विशेषादृतः। 'नानार्थशब्दकोशः' इत्यस्यापरं नाम। अत्र वर्गद्वयं विद्यते- शब्दवर्गोऽव्ययवर्गश्चेति। सर्वद्कषायामस्योद्धृतिः स्वल्पमात्रेणोपस्थापिता। यथा-

13. यजतां पाण्डवः स्वर्गमवत्विन्द्रस्तपत्विनः। (शिश्. 2/65)

शिशुपालवधस्य पद्येऽस्मिन् 'इनः' इति पदस्यार्थविश्लेषणे सर्वद्भषाटीकायां मिल्लनाथेनोक्तम्-

इनोऽर्कः। 'इनः पत्यो नृपार्कयोः' इति मेदिनी।

'इन' इत्येवं पुंलिंगशब्दस्य खलु कोशशास्त्रे पितः, सूर्यः, राजा चार्थाः सिन्ति। मिल्लिनाथेनात्र अर्कार्थे सूर्यार्थे वा 'इन'-शब्दोऽयं प्रयुक्तः। एवमर्थस्य समर्थने तेन मेदिनीकारस्य मेदिनीकोशस्योद्धृतिः प्रदत्ता। 'मेदिनीकोशः' इति ग्रन्थस्य 'शब्दवर्गः' नाम प्रथमे वर्गे विंशतितमे नान्तवर्गे एवमुद्धृतिः परिलक्षिता। तत्र प्राप्ता सम्पूर्णा उद्धृतिः एवमेवास्ति-

अन्नं भक्ते च भुक्ते स्यादिनः पत्यौ नृपार्कयोः। उन्नं क्लिन्ने च स सुरते कृत्स्नं सर्वाम्बुकुक्षिषु॥

त्रिकाण्डशेष:

अमरकोषस्य परिशिष्टरूपेण कोशोऽयं विद्वत्समाजे सुप्रंशसित:। श्रीपुरुषोत्तम-देवनृपतिवरेण निर्मितोऽयं कोश:। अत्र काण्डत्रयं वर्तते। काण्डत्रये षष्ठविंशतिवर्गा अपि सन्ति। मिल्लिनाथेन बहुत्र कोशस्यास्योद्धृति: प्रदत्ता। तासां प्रामाणिकता निम्ने प्रतिपादिता।

^{1.} मेदिनीकोश:, शब्दवर्ग:/ नान्तवर्ग:/ नद्विकम्/2

14. लिसिद्विच्छेदिसताङ्गसङ्गिना। (शिशु. 1/8)'च्छेदः'

सर्व. "विसच्छेदो मृणालखण्डः। 'छेदः खण्डोऽस्त्रियाम्' इति त्रिकाण्डशेषः।" 'छेदः' इत्येवं पुंलिंगशब्दस्तावत् कोशशास्त्रे खण्डार्थे प्रयुज्यते। टीकाकारेण मिल्लिनाथेनापि एवमर्थे हि 'छेद'-शब्दोऽयं व्याख्यातः। एवमर्थव्याख्यानस्य समर्थने तेन पुरुषोत्तमदेवस्य त्रिकाण्डशेषस्योद्धतिः प्रदत्ता। 'त्रिकाण्डशेषः' इति ग्रन्थस्य

तृतीये काण्डे'संकीर्णवर्गः' नामद्वितीये वर्गे एवमुद्धृतिः परिदृष्टा। तत्र प्राप्ता सम्पूर्णा उद्धृतिः एवमेवास्ति–

लेशस्तूपपदं गन्धोऽनुबन्धेषत्कराविष। छेदः खण्डोऽस्त्रियां गिलः शपनं शमनं शमः॥

(त्रिकाण्डशेष:, 3/2/9)

15. फलभाजि समीक्ष्योक्ते बुद्धेर्भोग इवात्मिन। (शिशु. 2/59) 'समीक्ष्योक्तेः'

सर्व. "समीक्ष्योक्ते सांख्योक्ते:। 'सांख्यं समीक्षम्' इति त्रिकाण्ड:।"

'समीक्ष' इत्येवं क्लीबलिंगशब्दस्य हि कोशशास्त्रे 'सांख्यम्' इत्यर्थोऽस्ति। टीकाकारेण मिल्लिनाथेनापि सांख्यार्थे एव 'समीक्ष'-शब्दोऽयं व्याख्यात:। एवमर्थव्याख्यानस्य समर्थने तेन पुरुषोत्तमदेवस्य त्रिकाण्डशेषस्य उद्धृति: प्रदत्ता। 'त्रिकाण्डशेष:' इति ग्रन्थस्य तृतीये काण्डे 'संकीर्णवर्गः' नाम द्वितीये वर्गे एवमुद्धृति: परिदृष्टा। तत्र प्राप्ता सम्पूर्णा उद्धृति:-

> ऋषिः शास्त्रकृदाचार्यः शास्त्रं तु स्मृतिरागमः। सांख्यं समीक्षं स्याद्दिव्यदोहदं तृपयाचितम्॥

शाश्वतकोशः अनेकार्थसमुच्चयः वा

शाश्वतप्रणीतोऽयं प्रख्यात: कोश:। 'अनेकार्थसमुच्चय:' इत्यस्य मूलं नाम। समग्रे ग्रन्थे 807 श्लोका: विद्यन्ते। सर्वङ्कषायामस्योद्धृतिरिप परिदृष्टा। तासां प्रामाणिकता प्रदर्शिता-

16. प्रफुल्लतापिच्छनिभैरभीषुभि:। (शिशु. 1/22)

शिशुपालवधस्य पद्येऽस्मिन् 'अभीषुभिः' इत्यस्य पदस्यार्थविश्लेषणे सर्वङ्कषा-टीकायां मल्लिनाथेनोक्तम्-

^{1.} त्रिकाण्डशेष:, द्वितीयकाण्ड:/ सङ्कीर्णवर्ग:/ 13

"शुभ्रैरभीषुभिरन्योन्यरश्मिभः 'अभीषु प्रगहे रश्मौ' इति शाश्वतः"

'अभीषु' इत्येवं पुंलिंगशब्दस्य खलु कोशशास्त्रे किरण-प्रगह-कामानुरागादयोऽर्थाः पिरदृश्यन्ते। मिल्लिनाथेनात्र रश्म्यर्थे किरणार्थे वा 'अभीषु'-शब्दोऽयं प्रयुक्तः। एवमर्थस्य समर्थने तेन शाश्वतप्रणीतस्य शाश्वतकोशस्यानेकार्थसमुच्चयस्य वा उद्धृतिः प्रदत्ता। 'शाश्वतकोशः' इति ग्रन्थस्य 699तमे श्लोके एवमुद्धृतिः परिलक्षिता। तत्र प्राप्ता सम्पूर्णा उद्धृतिः एवमेवास्ति-

अभीषु प्रगहे भासि बर्हिर्दर्भहुताशयो:। अर्य: स्वामिनि वैश्ये च निकृति: शठशाठ्ययो:।

17. स्वपनवारितुषारभृतः स्तनाः। (शिशु. 6/24)

'तुषारः'

सर्व. "वारितुषारभृत:, जलशीकरधारिण इत्यर्थ:। 'तुषारौ हिमशीकरौ' इति शाश्वत:।"

संस्कृतभाषायां 'तुषार' इति शब्दस्तावत् पुंलिंगशब्दः। कोशशास्त्रेऽस्य हिम-शीकर-देशभेद-कर्पूरभेदिवशेषादयः अर्थाः परिदृश्यन्ते। मिल्लिनाथेनात्र शीकरार्थे शितलार्थे वा 'तुषार' इति शब्दो व्याख्यातः।एवमर्थव्याख्यानस्य समर्थने तेन शाश्वत-प्रणीतस्य शाश्वतकोशस्य अनेकार्थसमुच्चयस्य वा उद्धृतिः प्रदत्ता। 'शाश्वतकोशः' इति ग्रन्थस्य 611तमे श्लोके एवमुद्धृतिः परिदृष्टा तत्र प्राप्ता सम्पूर्णा उद्धृतिः एवमेवास्ति-

सपिण्डपुत्रौ दायादौ मातङ्गौ श्वपचद्विपौ। श्वशुर्यो देवरश्यालौ तुषारौ हिमशीकरौ॥

निष्कर्षः

शिशुपालवधं शब्दवैचित्र्येण सुशोभितमनवद्यं महाकाव्यम्। ख्याताख्यात-दुरूह-शब्दानां तथा पदानां समारोहः महाकाव्यस्यास्य महानाकर्षनीयविषयः। तथोक्तं समालोचकेन- 'नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते'। एषां शब्दानां तथा पदानामर्थविश्लेषणे टीकाकारेण मिल्लनाथेन बहुत्र बहुनां कोशग्रन्थानामुद्धृतिः प्रदत्ता सर्वद्भषाटीकायाम्। अत्र श्लोके श्लोके विकीर्णा अस्ति अमरकोशस्य तथा विश्वप्रकाशस्योद्धृतिः। तथाच मेदिनी-हलायुध-अनेकार्थसंग्रह-वैजयन्ती-त्रिकाण्ड-शाश्वतकोशादीनामुद्धृतिरिप सम्यकतया प्रसङ्गानुसारेण प्रतिपादिता। एतासामुद्धृतीनाम् उत्सः प्रायः शुद्धः तथा प्रामाणिकः। कासांचित् उद्धृतीनां केवलम् ईषत् परिवर्तनं दृश्यते। अन्यथा उद्धृतिविषये

नास्ति कश्चन सन्देह:। कोशशास्त्रं प्रति असामान्यं वैदग्ध्यं विना एवमुद्धृतिरसम्भवा एव। अतएव कोशशास्त्रे खलु मिल्लिनाथ: आसीत् सचेतन: सुदक्षपण्डित:- इत्यत्र नास्ति संशय:।

सन्दर्भग्रन्थाः

- 1. कुलकर्णी, नारायण नाथजी सम्पादक:(1929)। शाश्वतकोश:। पुना : अरियेन्टल बुक एजेन्सी।
- जोशी, जयशङ्कर सम्पादकः(1879 शकाब्दाः)। हलायुधकोशः। वाराणसी ः सरस्वती भवन।
- 3. दास, श्रीकृष्ण सम्पादक: (1916)। त्रिकाण्डशेष:। बोम्बे: भेद्धटेश्वर प्रेस।
- 4. द्विवेदी, बालमुकुन्द (1976)। संस्कृत कोष उद्भव और विकास। इलाहावाद : स्मृति प्रकाशन।
- 5. दूर्गाप्रसाद सम्पादक: (1905)। शिवदत्तेन वासुदेवेन च संशोधितम्। शिशुपालवधम् (सर्वङ्कषाटीका-समेतम्)। बोम्बे : निर्णयसागरप्रेस।
- 6. शर्मा, हरदत्त, एन.जि. सरदेशाइ च सम्पादकौ (1941)। नामलिङ्गानुशासनम् (अमरकोशोद्घाटन-टीका-सहितम्)। पुना : ओरियेण्टाल बुक एजेन्सी।
- 7. शास्त्री, हरगोविन्द सम्पादक: (2008)। वैजयन्तीकोष:। वाराणसी: चौखम्भा भारती अकादमी।
- 8. स्थवीर, शीलस्कन्ध सम्पादक: (1911)। रत्नगोपाल भट्ट संशोधक:। विश्वप्रकाश:। वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस।
- 9. होशिङ्ग, जगन्नाथ शास्त्री सम्पादक: (1968)। मेदिनीकोश:। वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस।
- 10. होशिङ्ग, जगन्नाथशास्त्री, घनानन्दपाण्डेय, जनार्दन तारादत्ति च सम्पादकाः (1969)। अनेकार्थसंग्रहः। वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस।



नाऽभिधालक्षणाभ्यां व्यञ्जनायाः गतार्थत्वम्

-राजकुमार-मण्डल: *

ISSN: 0975-1769

शोधसारः

शब्दस्य कार्यं हि अर्थप्रतिपादनम्। तत्र शब्दिनिष्ठशक्त्या अर्थस्य प्रतिपादनं भवित। एवं, शब्दिनिष्ठार्थप्रतिपादनशक्तेः वृत्तिशब्देन व्यवहारः शास्त्रे क्रियते। तत्र त्रयोऽर्थाः भवित्त। वाच्यः, लक्ष्यः, व्यङ्ग्यश्चेति। त्रयाणाम् अर्थानां प्रतिपादनाय तिस्रः वृत्तयः स्वीक्रियन्ते आलङ्कारिकैः। तत्र वाचकः शब्दः अभिधावृत्त्या वाच्यम् अर्थं प्रतिपादयित। लाक्षणिकः शब्दः लक्षणावृत्त्या लक्ष्यार्थं प्रतिपादयित। व्यञ्जकः शब्दः व्यञ्जनावृत्त्या व्यङ्ग्यार्थं प्रतिपादयित। तत्र व्यङ्ग्यार्थस्य प्रतिपादनम् अभिधावृत्त्या लक्षणावृत्त्या वा शक्यं वेति विचारः आलङ्कारिकैः निरूपितः। शास्त्रान्तरेषु व्यञ्जनावृत्तेरङ्गीकारोऽपि नास्ति। परन्तु, अभिधावृत्त्या लक्षणावृत्त्या वा व्यङ्ग्यार्थस्य प्रतिपादनमशक्यमिति अलङ्कारशास्त्रस्य ग्रन्थेषु प्रतिपादितम्। अयमेव विषयः "नाऽभिधालक्षणाभ्यां व्यञ्जनायाः गतार्थत्वम्" इति शीर्षकात्मके शोधप्रबन्धेऽस्मिन् प्रतिपादते।

प्रमुखशब्दा:- वृत्ति:, अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना, ध्वनि:।

आमुखम्

शब्दस्य कार्यं हि अर्थप्रतिपादनम्। तत्र शब्दिनिष्ठशक्त्या अर्थस्य प्रतिपादनं भवति। एवं, शब्दिनिष्ठार्थप्रतिपादनशक्तेः वृत्तिशब्देन व्यवहारः शास्त्रे क्रियते। तत्र त्रयोऽर्थाः भवन्ति। वाच्यः, लक्ष्यः, व्यङ्ग्यश्चेति। त्रयाणाम् अर्थानां प्रतिपादनाय तिस्रः वृत्तयः स्वीक्रियन्ते आलङ्कारिकैः। तत्र वाचकः शब्दः अभिधावृत्त्या वाच्यम् अर्थं प्रतिपादयति। लाक्षणिकः शब्दः लक्षणावृत्त्या लक्ष्यार्थं प्रतिपादयति। व्यञ्जकः शब्दः व्यञ्जनावृत्त्या व्यङ्ग्यार्थं प्रतिपादयति। तत्र व्यङ्ग्यार्थस्य प्रतिपादनम् अभिधावृत्त्या लक्षणावृत्त्या वा शक्यं वेति विचारः आलङ्कारिकैः निरूपितः। शास्त्रान्तरेषु व्यञ्जनावृत्तेरङ्गीकारोऽपि नास्ति। परन्तु, अभिधावृत्त्या लक्षणावृत्त्या वा व्यङ्ग्यार्थस्य

शोधच्छात्रः, संस्कृतदर्शनविभागः, रामकृष्णिमशन्-विवेकानन्द-शैक्षणिक-शोध-संस्थानम्, वेलुडमठम्, हाओडा, ७११२०२, पश्चिमबङ्गः

प्रतिपादनमशक्यिमिति अलङ्कारशास्त्रस्य ग्रन्थेषु प्रतिपादितम्। अयमेव विषय: "नाऽभिधालक्षणाभ्यां व्यञ्जनाया: गतार्थत्वम्" इति शीर्षकात्मके शोधप्रबन्धेऽस्मिन् प्रतिपाद्यते।

शोधपद्धतिः

शोधप्रबन्धेऽस्मिन् व्यञ्जनावृत्तेः अङ्गीकारस्य अपेक्षणीयता प्रतिपादिता। तत्र इतरवृत्तिद्वयेन व्यङ्ग्यार्थस्य प्रकाशनमशक्यिमिति युक्त्या प्रतिपादितम्। वस्तुतः, अत्र विश्लेषणात्मिका पद्धतिरेव आश्रिता वर्तते।

नाऽभिधया व्यङ्ग्यार्थप्रतिपादनम्

अभिधाव्यापार: सङ्क्षेतितार्थं प्रतिपादयति। तद्क्तं दर्पणकृता-

तत्र सङ्केतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा¹। इति।

एवं, सङ्क्षेतितमर्थं प्रतिपाद्य अभिधावृत्तिः विरता भवति। 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावात्' इति नयेन सङ्क्षेतितार्थं प्रतिपादियतुः अभिधावृत्तेः निवृत्तिः अङ्गीकार्येव भवति। ततः, व्यङ्ग्यार्थस्य प्रतिपादनाय व्यञ्जनाख्यव्यापारान्तरं स्वीकार्यं भवति। यतो हि, व्यङ्ग्यार्थः न शब्दस्य सङ्क्षेतितार्थः, तस्मात् न अभिधया व्यङ्ग्यार्थस्य प्रतिपादनं शक्यम्। तदुक्तं दर्पणकृता– "अभिधायाः संकेतितार्थमात्र– बोधनविरताया न वस्त्वलङ्काररसादिव्यङ्ग्यबोधने क्षमत्वम्" इति।

वाच्यार्थव्यङ्ग्यार्थयोः भेदः

साहित्यदर्पणकारै: वाच्यार्थव्यङ्ग्यार्थयो: भेद: निरूपित:-

बोद्धस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम्। आश्रयविषयादीनां भेदाद्भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्यः॥ इति।

वाच्यार्थबोधाय केवलं शब्दार्थसम्बन्धज्ञानम् अपेक्षते। तस्मात्, शब्दार्थ-सम्बन्धज्ञानवता वाच्यार्थ: सुतरामवबुध्यते। व्यङ्ग्यार्थस्य बोधाय शब्दार्थसम्बन्धज्ञानं पर्याप्तं नास्ति। व्यङ्ग्यार्थस्य बोध: सहृदयस्यैव भवति। एवं, वाच्यार्थस्य व्यङ्ग्यार्थस्य च बोद्धा पृथगेव भवति।

स्वरूपं नाम प्रकृति:। वाच्यार्थस्य व्यङ्ग्यार्थस्य च प्रकृति: भिन्ना भवति। अयं विषय: उदाहरणेषु अत्यन्तं स्पष्टं भवति। ध्वनिकारै: आनन्दवर्धनै: वाच्यार्थस्य

^{1.} साहित्यदर्पण:, लक्ष्मीटीकोपेत:, पृष्ठम्- 31

^{2.} साहित्यदर्पण:, लक्ष्मीटीकोपेत:, पृष्ठम्- 294

^{3.} साहित्यदर्पण:, लक्ष्मीटीकोपेत:, पृष्ठम्-300

व्यङ्ग्यार्थस्य च स्वरूपभेदः नैकेषु उदाहरणेषु प्रदर्शितः। अत्र तानि उदाहरणानि उपस्थाप्यन्ते। यथा,

भ्रम धार्मिकविस्त्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन। गोदावरीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन॥

अत्र भ्रम इति लोटा भ्रमणस्य विधि: वाच्यार्थतया बोध्यते। परन्तु, प्रकरणपर्यालोचनेन भ्रमणस्य प्रतिषेध एव तात्पर्यार्थतया प्रतीयते। भ्रमणस्य निषेधोऽत्र व्यङ्ग्यार्थः। एवं, वाच्यार्थोऽत्र विधिरूपः, व्यङ्ग्यार्थश्च निषेधरूप इति वाच्यार्थस्य व्यङ्ग्यार्थस्य च स्वरूपभेदः उदाहरणेऽस्मिन् स्पष्टं दृश्यते।

अत्था अत्र निमञ्जति अत्राहं दिवसकं प्रलोकय। मा पथिक रात्र्यन्थक शय्यायां मम निमङ्क्ष्यसि॥

अत्र मा इत्यव्ययेन निषेधः वाच्यार्थतया बोध्यते। परन्तु, प्रकरणपर्यालोचनया विधिरेव तात्पर्यार्थतया प्रतीयते। एवं, वाच्यार्थोऽत्र निषेधरूपः, व्यङ्ग्यार्थश्च विधिरूप इति विशेषः वाच्यव्यङ्ग्यार्थयोः।

व्रज ममैवैकस्या भवन्तु निःश्वासरोदितव्यानि। मा तवापि तया विना दाक्षिण्यहतस्य जनिषत॥

अत्र व्रज इति लोटा गमनस्य विधिः वाच्यार्थरूपेण बोध्यते। परन्तु, तात्पर्यार्थरूपेण गाढमन्युरूपो नायिकाया अभिप्रायोऽत्र व्यङ्ग्यार्थतया प्रतीयते। एवमत्र वाच्यार्थस्य व्यङ्ग्यार्थस्य च भेदः स्पष्टं प्रतीयते।

प्रार्थये तावत्प्रसीद निवर्तस्व मुखशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमो निवहे। अभिसारिकाणां विघ्नं करोष्यन्यासामपि हताशे॥

अत्र प्रसीद, निवर्तस्वेति क्रियापदाभ्यां विधि: निषेधो वा वाच्यार्थतया बोध्यते। परन्तु, चाटुरूपो वल्लभाभिप्रायोऽत्र व्यङ्ग्योऽर्थः। एवम्, एतेषु उदाहरणेषु वाच्यार्थस्य व्यङ्ग्यार्थस्य च स्वरूपभेदः स्पष्टं प्रतीयते।

वाच्यार्थस्य व्यङ्ग्यार्थस्य च संख्यायां भेदो भवति। यथा, गतोऽस्तमर्कः इत्यत्र सूर्यास्तगमनरूप एक एव वाच्यार्थः। परन्तु, बोद्धादिभेदात् अस्मादेव वाक्यात् नैका व्यङ्ग्यार्थाः प्रतीयन्ते। यथा, काञ्चिदभिसारिकां प्रति वाक्यमिदमुच्यते चेत् कान्ताभिसरणरूपो व्यङ्ग्यार्थः प्रतीयते। क्रीडन्तं बालं प्रति उच्यमाने सित गृहगमनरूपो व्यङ्ग्यार्थः प्रतीयते। काञ्चित् वियोगिनीं प्रत्युच्यमाने सित नायकस्य आगमनकालरूपो व्यङ्ग्यार्थः प्रतीयते। एवं, बोद्धादिभेदे अस्माद्वाक्यात् नैके व्यङ्ग्यार्थः प्रतीयन्ते, वाच्यार्थस्तु सर्वथा एक एव।

वाच्यार्थस्य व्यङ्ग्यार्थस्य च निमित्तभेदो वर्तते। निमित्तं नाम कारणम्। वाच्यार्थस्य प्रतीतौ शब्दोच्चारणमात्रं कारणम्। यस्य शब्दस्य उच्चारणं जातं, तस्य शब्दस्य ज्ञानं, शब्देन अभिधेयस्य अर्थस्य च ज्ञानं बोद्धरपेक्षितं भवित वाच्यार्थस्य प्रतीतौ। व्यङ्ग्यार्थस्य प्रतीतौ पूर्वोक्तं न पर्याप्तं भवित। व्यङ्ग्यार्थस्य बोद्धा प्रतिभानैर्मल्यादिगुणान्वित: भवेदेव।

वाच्यार्थस्य व्यङ्ग्यार्थस्य च कार्यभेदो वर्तते। अत्र कार्यं नाम फलमुद्देश्यं वेति। वाच्यार्थेन प्रतीतिमात्रं जायते। व्यङ्ग्यार्थेन च चमत्कारो जन्यत इति विशेष:।

वाच्यार्थस्य व्यङ्ग्यार्थस्य च प्रतीतौ भेदो वर्तते। वाच्यार्थस्य प्रतीतिः शाब्दबोधस्वभावभूता वर्तते। अत्र प्रतीतौ चमत्कारस्य सुखस्य चाऽभावात् केवलरूपेयं प्रतीतिः। व्यङ्ग्यार्थस्य प्रतीतिः सुखचमत्कारसहिता शाब्दबोधस्वभावरूपा चेति विशेषः।

वाच्यार्थस्य व्यङ्ग्यार्थस्य च प्रतीतौ कालभेदो वर्तते। शब्दोच्चारणानन्तरमेव वाच्यार्थस्य प्रतीतिः भवति। ततः व्यङ्ग्यार्थस्य प्रतीतिः परं भवति। एवं, वाच्यार्थः पूर्वभावी, व्यङ्ग्यार्थश्च पश्चाद्भावीति विशेषः।

वाच्यार्थस्य व्यङ्ग्यार्थस्य च आश्रयभेदो वर्तते। आश्रयो नाम आधारः। वाच्यार्थस्य आश्रयभूतं शब्दमात्रं वर्तते। व्यङ्ग्यार्थस्य तु आश्रयः शब्दः, शब्दैकदेशः, वर्णः, प्रकृतिप्रत्ययादिः, वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यभूतः त्रिविधोऽर्थश्चेत्यादिः।

वाच्यार्थस्य व्यङ्ग्यार्थस्य च विषयभेदो वर्तते। अत्र विषयो नाम उद्देश्यम्। अर्थात्, वाच्यार्थस्य उद्देश्यं भिन्नं, व्यङ्ग्यार्थस्य चोद्देश्यं भिन्नं भवति। भेदोऽयम् उदाहरणेन स्पष्टो भवति। यथा,

कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सत्रणमधरम्। सभ्रमपद्माग्रायिणि वारितवामे सहस्वेदानीम्॥

अत्र वाच्यार्थस्य उद्देश्यभूता सम्बोध्या सखी नायिका, व्यङ्ग्यार्थस्य च उद्देश्यभूतो नायक: इति विशेष:।

एवं, वाच्यार्थस्य व्यङ्ग्यार्थस्य च महान् भेदो वर्तते। ततः, सङ्क्षेतितं वाच्यार्थं प्रतिपादयता अभिधाव्यापारेण असङ्कोतितः व्यङ्ग्यार्थः नैव प्रतिपाद्यते।

विशेष:

वस्तुध्विनः, अलङ्कारध्विनः, रसध्विनश्चेति ध्वनेः त्रैविध्यमालङ्कारिकैः अङ्गीकृतम्। तत्र वस्तुध्वनेः अलङ्कारध्वनेश्च यथा कथञ्चित् अभिधया लक्षणया वा बोधाङ्गीकारे सत्यिप रसध्वनेः बोधस्तु अभिधया लक्षणया वा कथमिप न सम्भवित।

अत्र हेतुं प्रतिपादयन् वक्ति दर्पणकारो विश्वनाथ:-

प्रागसत्त्वाद्रसादेनों बोधिके लक्षणाभिधे। किञ्च मुख्यार्थबाधस्य विरहादिष लक्षणा॥ इति।

अभिधा लक्षणा वा स्वव्यापारात् पूर्वतः विद्यमानं वस्तु एव बोधयित। यथा, घटशब्दः अभिधया शब्दव्यापारात् पूर्वतः विद्यमानं घटं बोधयित। गङ्गाशब्दोऽपि लक्षणया पूर्वतः शब्दव्यापारात् प्राक् विद्यमानं तीरं बोधयित। रसादिस्तु शब्दव्यापारात् पूर्वं विद्यमानो न भवित। अपि तु शाब्दबोधानन्तरमेव रसादीनामुत्पित्तः भवित। तस्मात्, अभिधाव्यापारात् लक्षणाव्यापारात् वा प्राक् रसादेः विद्यमानत्वाऽभावात् अभिधया लक्षणया वा रसादीनां बोधोऽशक्यः।

लक्षणया न ध्वनेः गतार्थत्वम्

तत्र लक्षणया सह व्यञ्जनायाः महान् भेदो वर्तते। लक्षणाप्रवृत्तेः निमित्तत्रय-मालङ्कारिकसम्प्रदाये प्रसिद्धम्। तदुक्तं दर्पणकृता-

मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययान्योऽर्थः प्रतीयते। रूढेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणा शक्तिरर्पिता॥² इति।

अर्थात्, लक्षणायाः प्रवृत्तौ अभिधावृत्त्या प्रतिपादितस्य अर्थस्य बाधोऽपेक्षते। ततः, मुख्यार्थेन सह सम्बद्धोऽर्थविशेषः लक्षणया बोध्यते। तत्र पुनः, रूढिवशात् प्रयोजनवशाद्वा लक्षणायाः प्रवृत्तिः स्वीकार्या भवति। एवञ्च, लक्षणायाः प्रवृत्तौ हेतुत्रयं – मुख्यार्थबाधः, मुख्यार्थसम्बन्धः, रूढिः प्रयोजनं वेति।

यथा, गङ्गायां घोषः इत्यत्र गङ्गाशब्दस्य मुख्यार्थः जलप्रवाहः, घोषशब्दस्य मुख्यार्थः आभीरपल्ली। तत्र जलप्रवाहे आभीरपल्ल्या असम्भवात् मुख्यार्थबाधः। तस्मात् गङ्गाशब्दस्य जलप्रवाहरूपमुख्यार्थेन सम्बद्धः गङ्गातीरः लक्ष्यते। अत्र पुनः, आभीरपल्ल्याः पावनत्वातिशयबोधनं प्रयोजनं वर्तते। एवं, हेतुत्रयस्य सद्भावात् अत्र लक्षणया गङ्गाशब्दस्य तीररूपार्थः निश्चीयते। ध्वन्यालोकग्रन्थे काव्यप्रकाशग्रन्थे च लक्षणायाः व्यङ्ग्यप्रतिपादनाशक्यता निरूपिता। तस्मात्, अनयोः ग्रन्थयोः दिशा लक्षणया ध्वनेः गतार्थत्वाऽभावः प्रतिपाद्यते।

ध्वनिकारनय:

आनन्दवर्धनविरचिते ध्वन्यालोकग्रन्थे ध्वनिविरोधिनः त्रयो वादाः निरूपिताः-ध्वनेरन्तर्भावः सेत्स्यिति। भाक्तवादस्य पुनः त्रयो विकल्पाः प्रस्तुताः- ध्वनिः भक्तिश्चेति

^{1.} साहित्यदर्पण:, लक्ष्मीटीकोपेत:, पृष्ठम्- 302

^{2.} साहित्यदर्पण:, लक्ष्मीटीकोपेत:, पृष्ठम्- 35

घटकलशाविव पर्यायशब्दाविति प्रथमविकल्पः। भक्तिः ध्वनेः लक्षणिमिति द्वितीयविकल्पः। भक्तिः ध्वनेः उपलक्षणिमिति तृतीयविकल्पः। ध्वनिकारैः स्वग्रन्थे सर्वेषामेषां विकल्पानां दूषणं विहितम्।

भक्तिः ध्वनिश्च न पर्यायशब्दौ

तत्र भिन्नरूपत्वात् भक्तेः ध्वनेश्च पर्यायत्वं भिवतुं नार्हति। तदुक्तं ध्वनिकृता-भक्त्या बिभित्तं नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः॥ इति।

अर्थात्, अत्र भिक्तर्नाम लक्षणावृत्तिः। ध्विनपदेन व्यञ्जकशब्दः, व्यञ्जकार्थः, व्यञ्जनाव्यापारः, व्यङ्ग्योऽर्थः, ध्विनकाव्यमिति पञ्च अर्थाः ग्राह्या भवित्। वाच्यभित्रस्य अर्थस्य यत्र वाच्यवाचकाभ्यां तात्पर्येण प्रकाशनं भवित, व्यङ्ग्यं च प्रधानं भवित तत्र ध्विनिरिति व्यवहारः। यत्र उपचारमात्रं भवित तत्र भिक्तिरित व्यवहारः। पुनः, प्रयोजनवत्यां लक्षणायां चत्वारः व्यापाराः प्रवर्तन्ते– अभिधा, तात्पर्यवृत्तः, लक्षणा, व्यञ्जना चेति। यथा, गङ्गायां घोषः इत्यत्र आदौ अभिधावृत्त्या वाच्यार्थोपस्थितः, ततः तात्पर्यवृत्त्या उपस्थितपदार्थानामन्वयप्रतिपादनेन वाक्यार्थोपस्थितः, ततः मुख्यार्थबाधस्य बोधः, ततः लक्षणावृत्त्या लक्ष्यार्थोपस्थितः, ततः पुनः तात्पर्यवृत्त्या पदार्थान्वयमूलको वाक्यार्थोपस्थितः, ततः प्रयोजनार्थस्य पदार्थान्वयमूलको वाक्यार्थोपस्थितः, ततः प्रयोजनार्थस्य व्यञ्जनावृत्त्या बोध इति चत्वारः व्यापाराः प्रवर्तन्ते। परन्तु, यदा ध्वनेरभावः स्वीक्रियते, तदा प्रयोजनार्थस्य प्रतिपादनाय व्यञ्जनाव्यापारस्य प्रवृत्तः नास्ति। परन्तु, तत्रापि लक्षणा तु प्रवृत्तेत्यतः ध्वनेः भक्तेश्च पर्यायत्वं भवितुं नार्हति। तदुक्तं लोचनकृता– "यत्र लक्षणाव्यापारातृतीया– दन्यश्चतुर्थः प्रयोजनद्योतनातमा व्यापारो वस्तुस्थित्या सम्भवत्रप्यनुपयुज्यमानत्वेना– नाद्रियमाणत्वादसत्कल्पः। 'यमर्थमधिकृत्य' इति हि प्रयोजनलक्षणम्। तत्रापि लक्षणास्तीति कथं ध्वननं लक्षणा चेत्येकं तत्त्वं स्यात्"।

भक्तिः न ध्वनेः लक्षणम्

भक्तिः लक्षणम्, ध्विनः लक्ष्यिमिति अस्य द्वितीयपक्षस्य आशयः। असाधारणो धर्मो हि लक्षणं भवित। यो धर्मः सम्पूर्णं लक्ष्यं व्याप्य तिष्ठिति, लक्ष्याितिरिक्ते कुत्रािप न तिष्ठिति, स एव धर्मो लक्षणं भवित। एवञ्च, यो धर्मः सम्पूर्णे लक्ष्ये तिष्ठिति, लक्ष्याितिरिक्ते च तिष्ठिति, स धर्मः लक्षणं भवित। एतादृशो धर्मो लक्षणपदवाच्यो भवित चेत्तल्लक्षणम् अतिव्यािप्तदोषयुतिमिति उच्यते। यो धर्मः लक्ष्यस्य एकदेशे तिष्ठिति, लक्ष्यस्य अन्यदेशे न तिष्ठिति, लक्ष्याितिरिक्ते च न तिष्ठिति, स धर्मो लक्षणपदवाच्यो भवित चेत्तल्लक्षणम् अव्यािप्तदोषयुक्तिमिति उच्यते। यो धर्मो लक्ष्ये

^{1.} ध्वन्यालोक:, पृष्ठम्- 118

^{2.} ध्वन्यालोक:, लोचनम्, पृ- 118

एव न तिष्ठिति, लक्ष्यातिरिक्ते च तिष्ठिति, स धर्मो लक्षणपदवाच्यो भवित चेत्तल्लक्षणम् असम्भवदोषयुतिमत्युच्यते। एवञ्च, लक्षणं सर्वदा अतिव्याप्त्यादिदोषरिहतं स्यात्।

प्रकृते, भक्तिः लक्षणम्, लक्ष्यश्च ध्विनः। अर्थात्, यत्र यत्र भक्तिः, तत्र तत्र ध्विनः भवेदेव। परन्तु, यत्र ध्विनरिस्ति, तत्रापि भक्तिर्वर्तते इति अतिव्याप्तिः। किञ्च, यत्र ध्विनरिस्ति, तत्र भक्तिः न विद्यते इति अव्याप्तिः। एवम्, अतिव्याप्त्य-व्याप्तिदोषयुतत्वात् भक्तिः न ध्वनेः लक्षणं भवित। तदुक्तं ध्विनिकृता-

अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तथा।¹ इति।

अत्र लक्ष्यभूतो ध्विनः, लक्ष्यातिरिक्ते ध्विनिभिन्ने स्थले भक्तेः सत्त्वं कैश्चिदुदाहरणैः प्रदर्श्य ध्विनकृता आदौ भक्तेः ध्विनलक्षणत्वे अतिव्याप्तिः प्रदर्शिता। यथा.

परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयत-स्तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम्। इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः कृशाङ्खाः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम्॥

रत्नावल्याः श्लोकोऽयम्। सागरिकायाः मदनशय्यायाः वर्णनं करोति राजा विदूषकं प्रति श्लोकेऽस्मिन्। अत्र सागरिकायाः बिसिनीपत्रशयनं सागरिकायाः देहसन्तापं वदित इत्यर्थः। बिसिनीपत्रशयनस्य वचनकर्तृत्वं न सम्भवतीति मुख्यार्थबाधः। ततः लक्षणया वदित इत्यस्य प्रकटयित इत्यर्थः सम्पद्यते। प्रकटनिक्रयानिरूपितकर्तृत्वं तु बिसिनीपत्रशयनस्य युक्तमेव भवति। अत्र ध्वनेः विषयो नास्ति। तथापि भिक्तस्तु वर्तते। किवना प्रकटनिक्रयायाः कथनाय वदतीति क्रियापदस्य प्रयोगेन न किमिप चारुत्वं सम्भावितम्। एवं, किवना अत्र प्रकटनिक्रयायाः प्रतिपादनाय प्रकटयित इति क्रियापदं प्रयुक्तं स्याच्चेदिप न किञ्चच्चारुत्वहानिरत्र सम्भाव्येत। एवं, व्यङ्ग्यकृतं प्राधान्यमत्र नास्त्येव। तस्मान्नायं ध्वनेर्विषयः। ध्वनेर्विषयः ध्वनिकृताऽपि निरूपितः। तिद्धि-

उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत्तच्चारुत्वं प्रकाशयन्। शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत्॥² इति।

अत्र ध्वन्यतिरिक्तेन न केनचिच्चारुत्वं प्रकाश्यते इति ग्रन्थकृत: तात्पर्यम्। पूर्वोक्तश्लोके प्रकटनक्रियाया: प्रतिपादनाय वदतीति क्रियापदप्रयोगेन न किमपि

^{1.} ध्वन्यालोक:, पृष्ठम्- 118

^{2.} ध्वन्यालोक:, पृष्ठम्- 123

चारुत्वं सम्पादितं भवित। साक्षात्प्रकटयतीति क्रियापदप्रयोगेन न कापि चारुत्वहानिर्वा सम्पाद्येत। अतः न तत्र ध्वनेः विषयः। एवं, ध्वन्यतिरिक्ते भक्तेः सत्त्वात् भक्तेः ध्वनिलक्षणत्वे अतिव्याप्तिः।

रूढिलक्षणायामतिव्याप्तिः

लक्षणायाः त्रिषु निमित्तभूतेषु रूढिप्रयोजनयोः अन्यतरोऽन्यतमः। रूढिमाश्रित्य प्रवृत्तायाः लक्षणायाः रूढिलक्षणेत्याख्या। प्रयोजनमाश्रित्य प्रवृत्ता लक्षणा प्रयोजनवती लक्षणेति कथ्यते। तत्र प्रयोजनवत्यां लक्षणायां प्रयोजनार्थस्य प्रतिपादनाय व्यञ्जनाया अपेक्षा भवति। एवं, प्रयोजनवत्यां लक्षणायां ध्वनिरस्तीति निर्विवादं विद्वत्सु। परन्तु, रूढिलक्षणायां तु ध्वनिः नास्त्येव। तदुक्तं ध्वनिकृता-

रुढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादिष। लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः॥ इति।

लावण्यमिति शब्दोऽत्र उदाहृतः। आदिपदेनाऽत्र आनुलोम्यं, प्रातिलोम्य-मित्यादिशब्दाः स्वीकर्तुं शक्यन्ते। लवणस्य भावः लावण्यम्, अर्थात्, लवणयुक्तत्वमिति लावण्यशब्दस्य मुख्योऽर्थः। परन्तु, अधुना लावण्यशब्दस्य सौन्दर्यमित्यर्थे प्रसिद्धः वर्तते। सौन्दर्यमिति न लावण्यशब्दस्य मुख्योऽर्थः, लावण्यशब्दस्य सौन्दर्यथिं सङ्कताऽभावात्। तस्मात्, लक्षणावृत्त्या लावण्यशब्दस्य सौन्दर्यमित्यर्थः प्रतिपाद्यते। एवं, रुढिलक्षणायां भक्तिरस्ति, ध्वनिस्तु नास्तीति भक्तेः ध्वनिलक्षणत्वे अतिव्याप्तिः। कुत्रचित्, लावण्यादिशब्दसित्रधाने ध्वनिः सत्त्वेऽपि आतिव्याप्तिर्वार्यते इति वक्तुं न शक्यते। तत्र लावण्यादिशब्दसित्रधाने ध्वनिसत्त्वेऽपि लावण्यादिशब्दप्रयोगमूलक-ध्वनेरभावात् अतिव्याप्तः तदवस्थः तिष्ठति। तर्हि तत्र तत्र प्रदेशेषु ध्वनेः बीजभूतं किमिति चेत् व्यञ्जकत्वमेव ध्वनेः बीजभूतं, न तु लावण्यादिशब्दप्रयोगः। तदुक्तं ध्वनिकृता– "तथाविधे च विषये क्वचित्सम्भवन्नपि ध्वनिव्यवहारः प्रकारान्तरेण प्रवर्तते। न तथाविधशब्दमुखेन" इति।

प्रयोजनार्थप्रतिपादनं न लक्षणया

तुष्यतु दुर्जनन्यायेन भक्तिध्वन्योः साहचर्यनियमे स्वीक्रियमाणेऽपि लक्षणाव्यापारस्य व्यञ्जनाव्यापारस्य च विषयभेदः सर्वथा सोढव्य एव भवति। अर्थात्, लक्षणाव्यापारेण सकलध्वनिविषयः व्याप्तो नैव भवति। प्रयोजनवत्यां लक्षणायां प्रयोजनार्थस्य प्रतिपादनं कथमपि लक्षणाव्यापारेण न सम्भवति। तदुक्तं ध्वनिकृता–

^{1.} ध्वन्यालोक:, पृष्ठम्- 124

^{2.} ध्वन्यालोक:, पृष्ठम्- 124

मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्याऽर्थदर्शनम्। यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः॥

प्रयोजनमुद्दिश्य लक्षणाव्यापारस्य प्रवृत्तौ प्रयोजनवती लक्षणेति लक्षणाविशेष:। यथा, गङ्गायां घोष: इत्यत्र जलप्रवाहे घोषस्य आधेयत्वाऽसम्भवात् मुख्यार्थबाधे सति गङ्गापदस्य जलप्रवाहसम्बद्धः गङ्गातीररूपार्थः लक्ष्यते। अत्र शीतत्वपावनत्वातिशयबोधनं प्रयोजनम्। इदमेव प्रयोजनं प्रतिपादियतुं गङ्गातीरशब्दस्य साक्षात्प्रयोगो न कृत: प्रयोक्ता। एवञ्च, लक्षणाया: फलिमदं शीतत्वपावनत्वातिशयस्य बोधनम्। अस्य प्रयोजनरूपार्थस्य प्रतिपादनम् अभिधाव्यापारेण न शक्यते, गङ्गापदस्य शीतत्वाद्यर्थे सङ्केताऽभावात्। लक्षणाव्यापारेणाऽपि अस्य प्रयोजनरूपार्थस्य प्रतिपादनम् अशक्यम्। लक्षणाप्रवृत्तौ मुख्यार्थबाधः, मुख्यार्थसम्बन्धः, रुढिप्रयोजनयोरन्यतर इति त्रयो निमित्तभूताः। अत्र लक्षणाव्यापारेण शीतत्वादिप्रयोजनरूपार्थस्य प्रतिपादनं तदैव शक्यं, यदा मुख्यार्थबाधः स्यात्। अर्थात्, अधुना तीररूपार्थस्य बाधो वक्तव्य:, तीररूपार्थस्य च मुख्यार्थत्वमिप वक्तव्यं भवति। परन्तु, नाऽत्र गङ्गापदस्य तीररूपार्थः मुख्यार्थः, न वाऽत्र तीररूपार्थस्य बाधोऽस्ति। एवं, लक्षणाप्रवृत्ते: निमित्ताऽभावात् न लक्षणया प्रयोजनरूपार्थस्य प्रतिपादनं शक्यम्। तुष्यतु दुर्जनन्यायेन प्रयोजनरूपार्थस्य प्रतिपादनं लक्षणाव्यापारेण भवतीत्युच्यते चेदपि अनवस्था आपद्येत। शीतत्वाद्यर्थः लक्षणया प्रतिपादितश्चेत्, अत्रापि प्रयोजनं वक्तव्यं, एवं परम्परया प्रयोजनकथनाऽऽपत्तिः। एतत्सर्वं प्रतिपादितं मम्मटाचार्यैः काव्यप्रकाशे-

> नाभिधा समयाभावात् हेत्वभावान्न लक्षणा। लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो। न प्रयोजनमेतिस्मन् न च शब्दःस्खलद्गितः॥ एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी।²

यद्यत्र शीतत्वपावनत्वादिविशिष्टो तीररूपार्थो लक्षणाव्यापारेण प्रतिपाद्यते इति उच्यते, एतदिप युक्तं नास्ति। तत्र ज्ञानस्य विषयो भिन्नः, फलञ्च भिन्नं भवति। गङ्गायां घोष इत्यत्र लक्षणाजन्यज्ञानस्य विषयो हि गङ्गातटः, फलञ्च शीतत्व-पावनत्वातिशयः। विषयफलयोश्च कार्यकारणभावः वर्तते। एवं, विषयो हि कारणं, फलञ्च कार्यम्। कार्यकारणयोः युगपदुपस्थितिः नाङ्गीक्रियते। कार्यस्य प्राक् कारणस्य उपस्थितिरपेक्षते। एवं, विषयफलयोः कारणकार्ययोः युगपदुपस्थितेः असम्भवात् प्रयोजनविशिष्टे लक्षणेति मतमपि अयुक्तमेव। तदुक्तं मम्मटाचार्यः-

^{1.} ध्वन्यालोक:, पृष्ठम्- 125

^{2.} काव्यप्रकाश:, पृष्ठम्- 54-57

प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते॥ ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्। विशिष्टे लक्षणा नैवं विशेषाः स्युस्तु लक्षिते॥ इति।

भक्तेः ध्वनिलक्षणत्वे अव्याप्तिः

यत्र भक्तिः नास्ति, तत्र ध्वनेः सत्त्वञ्चेत् भक्तेः ध्वनिलक्षणत्वे अव्याप्तिदोषः। तत्र प्राथम्येन ध्वनिकाव्यस्य द्विधा भेदः स्वीक्रियते- अविवक्षितवाच्यः, विवक्षिताऽन्य- परवाच्यश्चेति। विवक्षितान्यपरवाच्यो नाम अभिधामूलध्वनिः। अर्थात्, अत्र वाच्यार्थमाश्रित्य ध्वनिः। एवम्, अभिधामूलध्वनौ मुख्यार्थबाधादिलक्षणाप्रवृत्तिप्रयोजकाः नैव भवन्ति। अर्थात् विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनौ भक्तेः स्पर्श एव नास्ति, परन्तु ध्वन्युपस्थितिः सर्वेषामनुभवगोचरैव। एवम्, भक्तेः असत्त्वस्थले ध्वनेः सत्त्वात् भक्तेः ध्वनिलक्षणत्वे अव्याप्तिदोषः। तत्र अभिधामूलध्वनौ गौणीलक्षणायाः सर्वदा अङ्गीकारे सित भक्तेः सत्त्वं प्रतिपादियतुं शक्यिमत्यतो नाऽव्याप्तिः। वस्तुतः, असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्ये क्रमस्य अभावात् कथमपि भक्तेः सत्त्वं प्रतिपादियतुं न शक्यते। तस्मात्, असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्ये अव्याप्तिदोषस्तु कथमपि निराकर्तुं न शक्यते। एवम्, भक्तेः ध्वनिलक्षणस्य असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्ये अव्याप्तिः ध्वनिकारस्य ग्रन्थेन स्फुटा भवित। तदुक्तं लोचनकृता- "नन्वत्राङ्गीकृतैव मध्ये लक्षणा, कथं तर्द्युक्तं च रसभावतदाभासतत्प्रशमभेदास्तदवान्तरभेदाश्च, न च तेषु लक्षणया उपपत्तः" इति।

लक्षणायाः बीजं वाचकत्वम्, ध्वनेः बीजं व्यञ्जकत्वम्। तदुक्तं ध्वनिकृता-

वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता। व्यञ्जकत्वैकमूलस्य ध्वनेः स्याल्लक्षणं कथम्॥ इति।

एवं, बोद्धस्वरूपादिभेदाः लक्ष्यव्यङ्ग्यार्थयोरिप साधारणाः भवन्ति। तस्मात्, यथा अभिधाव्यापारेण व्यङ्ग्यार्थस्य प्रतिपादनं न शक्यते, तथा लक्षणाव्यापारेणऽपि व्यङ्ग्यार्थस्य प्रतिपादनमशक्यम्।

विमर्श:

अभिधाव्यापारेण व्यङ्ग्यार्थस्य प्रतिपादनम् अशक्यम्। वाच्यार्थं प्रतिपाद्य अभिधावृत्तिः निवृत्ता भवति। शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराऽभावः इति नयेन वाच्यार्थप्रतिपादनानन्तरम् अभिधावृत्तेः निवृत्तिः स्वीकर्तव्यैव भवति। पुनः, व्यङ्ग्यार्थस्य

^{1.} काव्यप्रकाश:, पृष्ठम्- 58-60

^{2.} ध्वन्यालोक:, लोचनम्, पृष्ठम्- 130

^{3.} ध्वन्यालोक:, पृष्ठम्- 127

वाच्यार्थत्वं कथमपि न सम्भवति, वाच्यस्य व्यङ्ग्यस्य च बोद्धस्वरूपादिभेदानां सत्त्वात्। अर्थात्, व्यङ्ग्यार्थे सङ्कोताऽभावात् व्यङ्ग्यार्थः न अभिधाव्यापारेण प्रतिपाद्यो भवति।

लक्षणाव्यापारेण व्यङ्ग्यार्थस्य प्रतिपादनमिप अशक्यम्। मुख्यार्थबाधादिनिमित्त-सद्भावे लक्षणावृत्तेः प्रवृत्तिः भवति। तत्र अभिधामूलध्वनौ मुख्यार्थबाधादिनिमित्तानाम् अभावात् लक्षणावृत्तेः प्रवृत्तिः कथमिप न सेत्स्यित। तस्मात्, अभिधामूलध्विनः लक्षणाव्यापारेण प्रतिपाद्यो न भवति। लक्षणामूलध्वनौ यद्यिप मुख्यार्थबाधादिनिमित्तसद्भावे लक्षणाव्यापारस्य प्रवृत्तिरिस्ति। परन्तु, तत्र प्रयोजनरूपार्थस्य प्रतिपादनं लक्षणाव्यापारेण कथमिप न शक्यते। एवम्, अभिधाव्यापारेण लक्षणाव्यापारेण वा व्यङ्ग्यार्थस्य प्रतिपादनमशक्यम्। तस्मात्, आलङ्कारिकैः अभिधां लक्षणाञ्च अतिरिच्यव्यञ्जनाव्यापारः स्वीकृतः।

ग्रन्थसूची

- मिश्रः, विश्वनाथः। (2011)। साहित्यदर्पणः (लक्ष्मीटीकोपेतः)। कृष्णमोहन-शास्त्री (सम्पा.)। वाराणसीः चौखम्बा संस्कृत संस्थान।
- 2. मिश्रः, विश्वनाथः। (2016)। साहित्यदर्पणः (विमलाटीकोपेतः)। शालिग्राम-शास्त्री (सम्पा.)। दिल्ली : मोतीलालबनारसीदास।
- मम्मटः। (२००३)। काव्यप्रकाशः (सरलाव्याख्योपेतः)। डॉ. कपिलदेविगिरि (सम्पा.)।वाराणसी : चौखम्बासंस्कृतसंस्थान।
- 4. आनन्दवर्धन:। (वि.सं. 2061)। ध्वन्यालोक: (लोचनोपेत:)। डॉ. गङ्गासागरराय (सम्पा.)। वाराणसी : चौखम्बासंस्कृतभवन।
- 5. आनन्दवर्धनः। (२००७)। ध्वन्यालोकः। डॉ. नगेन्द्रः (सम्पा.)। वाराणसीः ज्ञानमण्डललिमिटेड।

भक्तिमार्गालोके श्रीजीवगोस्वामी

-अमलकुमार कर*

ISSN: 0975-1769

शोधसार:-

भिक्तरेव प्रधानतया अभिधेयभूता। भिक्तं विना हृदि श्रीकृष्णभजनं कदापि न सम्भवित। अस्यैव मुख्यतत्त्वस्य प्रतिपादने प्रयासं विहितवान् वृन्दावनस्य अन्यतमो गोस्वामी श्रीजीवगोस्वामी। यद्यपि स श्रीभागवतम् अवलम्ब्य ग्रन्थसमूहं रचयामास तथापि तस्य सूक्ष्माः विचाराः सर्वान् मुग्धान् कुर्वन्ति। श्रीकृष्ण एकः अद्वितीयश्च। तं विहाय न कापि गितवर्तते। तत् कथं सम्भवित, कथं तस्य भगवतः समीपं गन्तुं शक्यते, कथं वा तदनुगतो भिवतुं शक्यते, के यथार्था भक्ताः, कस्तावत् भिक्तलाभस्य मार्गः इत्यादयो विषयाः तेन नूतनतया आलोचिताः। विविधशास्त्रवाक्यानि समुद्धृत्य श्रीभागवतिसद्धविषयान् समर्थितवान् सः। तस्य पाण्डित्यप्रतिभया विचारशक्त्या च इयं भगवद्भिक्तः सम्यक्तया ग्रिथता या सर्वान् अनायासेन आकर्षति। तस्य मते इयं भिक्तर्न केवलं धर्मविषयिणी, अपि तु दार्शनिकविषयिण्यिप। भिक्तः नित्या सर्वफलदात्री निर्गुणा परमसुखस्वरूपा निष्कामरूपा सर्वाश्रयविवेकस्वरूपा। तस्मात् विविधाचरणेन भक्त्या श्रीकृष्णसिद्धिर्लभ्यते। वैधी भिक्तः शरणापित्तगुरुसेवामहाभागवत–प्रसङ्गतत्परिचर्यासामान्यवैष्णवसेवाश्रवणकोर्तनस्मरणपादसेवार्चनापराधतदुपशमनवन्दन–दास्यसख्यात्मिनवेदनादिभिरेवसम्भवति। तस्मात् श्रीकृष्णस्य लाभे भिक्तरेव श्रेष्ठो मार्गः।

कूटशब्दा:- भगवान्, भिक्त:, भक्त:, भक्तेर्भेद:, भक्ते: आचरणानि।

उपोद्घातः

वृन्दावनस्य षट्सु गोस्वामिषु अन्यतमस्तावत् श्रीजीवगोस्वामी। स बहूनां ग्रन्थानां प्रणेता। तेषु व्याकरणदर्शनकाव्यादिषु ग्रन्थेषु प्रत्येकं सादृश्ये सत्यिप भाषारीतिनीतिविषयगाम्भीर्येण तेषु प्रत्येकं प्रत्येकस्मात् भिन्नम्। प्रायेण त्रिंशदुत्तर- चतुर्दशशततमशकाब्दात् पञ्चत्रिंशदुत्तरचतुर्दशशततमशकाब्दस्य मध्यवर्तिनि काले

सहकारी अध्यापक, आलिपुरद्वार महिला महाविद्यालय, पश्चिमवङ्ग।

^{1.} लघुतोषिणीग्रन्थस्य उपसंहारे

आविर्भूतः स वैष्णवधर्मस्य साहित्यस्य च प्रभूतोन्नतिं साधितवान्। स सर्वशास्त्रज्ञः चतुर्वेदज्ञश्च आसीत्। तस्य असंख्येषु ग्रन्थेषु एकस्तावत् षट्सन्दर्भः भागवतसन्दर्भो वा। तत्त्वं भगवान् परमात्मा कृष्णः भिन्तः प्रीतिः इत्येते षट् युगपत् षट्सन्दर्भा इत्युच्यन्ते। यद्यपि प्रत्येकं सन्दर्भः भिन्नः वर्तते तथापि प्रतिसन्दर्भं समानतन्त्रता वर्तते। अर्थादत्र अधिकारी विषयः सम्बन्धः प्रयोजनिमत्येते वर्णिताः।

भारतीयदर्शने स्वीकृतेषु प्रमाणेषु शब्दप्रमाणं तावत् मुख्यमिति स्वीकरोति। अत्र भागवतपुराणात् शब्दप्रमाणं श्रेष्ठ² यत् तत्त्वसन्दर्भे वर्णितम्। ततो द्वितीयसन्दर्भे भगवतो वैशिष्ट्यं, तृतीये परमात्मस्वरूपवैशिष्ट्यं, कृष्णसन्दर्भे श्रीकृष्णस्य वैशिष्ट्यं, पञ्चमे च भिक्तः का किं तत्प्रयोजनम् कथं तया भगवत्प्राप्तिरूपं कार्यं साधितं भवति तथा अन्तिमसन्दर्भे परमपुरुषार्थविचारः कृतः। अत्र प्रीतिर्नाम भगवत्प्रीतिः।

भिक्तं विना न किञ्चित् कार्यं सिध्यति। कस्मिंश्चित् विषये किमिप् प्राप्तव्यं चेत् भक्त्यैव तत् सम्भवति। श्रीलमहोदयः भागवतवक्तव्यप्रसङ्गे भगवन्तं विना न किमिप सम्भवतीत्याह। उक्तं च- "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्"। कृष्ण एवाभिधेयः। वस्तुतस्तु जीवः मायया आवृत इत्यतः दुःखेन पीडितः। अत्र श्रीकृष्णपराङ्मुखाः सन्तः ये जीवनं यापयन्ति तेषां कृते प्रतिपदं दुःखं प्रधानबाधकं भवति। श्रीकृष्णपराङ्मुखतायाः विपरीता कृष्णसम्मुखताप्राप्तिः या अभिधेया। कृष्णसाम्मुख्यं नाम कृष्णस्योपासना।

वैष्णवाः प्राक्तनजन्मनां संस्कारान् स्वीकुर्वन्ति। तेषां मते पूर्वजन्मनः संस्कारवशादेव भगवतः अनुग्रहात् ते परिस्मन् जन्मिन अनायासेन कृतार्थाः भवन्ति। अन्येषां जीवानां तथा न भवित। यतो हि ते मायां त्यक्तुं न शक्तुवन्ति आलिङ्गितुं चेच्छिन्ति। यथा निधौ सत्यिप दारिद्यस्य दूरीभावो न भवित यावता ते यत्नपरायणाः न भवन्ति तथा एते पराङ्मुखाः जीवाः भगवत्स्वरूपस्य वर्णनश्रवणाभ्यां तथा प्रयत्नेन कृतार्था भविन्ति। अयं प्रयत्न एव भिक्तः।

भज्-धातोः क्तिन्प्रत्यये भिक्तशब्दस्य निष्पित्तः। अस्यार्थः सेवा आराधना श्रद्धा च। यस्य सेवा क्रियते तस्य प्रीतिविधानमेव सेवाफलम्। अर्थात् भिक्तर्नाम स्वप्रीतेः स्वसुखस्य वा कामनां न कृत्वा सेव्यस्य प्रीतिविधानम्। वस्तुतस्तु जीवः

^{1.} सन्दर्भा: विख्यात: श्रीमद्भागवतस्य वै, भिक्तरत्नाकर-7

^{2.} शब्द एव मूलप्रमाणम्, तत्त्वसन्दर्भ: 21 पृ:

^{3.} भागवतपुराण

^{4.} भज्-धातुः सेवार्थे उक्तः, यया सर्वमवाप्यते इति तटस्थं लक्षणम्।

^{5. &}quot;भज इत्येष वै धातु: सेवायां परिकीर्तित:- अत्र सेवाशब्देन स्वरूपलक्षणम्"-भक्तिसन्दर्भ:- 216, पृ. 238

श्रीकृष्णस्य स्वदासः। स्वप्रभोः प्रीतये सेवा एव दासस्य कर्तव्यमात्रम्। सेवयैव स सार्थको भवितुं नार्हति। तस्माद् भक्तिरेव अनुष्ठेया।

ज्ञानकर्मयोगाद्यनुष्ठानानि अपेक्ष्य भक्तेरनुष्ठानमधिकतया ग्राह्मम्। यतो हि श्रवणमननादिना तत्त्वस्यानुभवो भवित। निष्कामकर्मणो योगस्य चानुष्ठानेन तत्त्वानुभवो भवित। तस्मात् तत्सर्वं किञ्चित् भिक्तसमिमित्युक्तम्। भिक्तरेव श्रेष्ठा। शुद्धभक्त्या परतत्त्वस्य भजनं कर्तव्यम्। तदा कर्मज्ञानादेः अपेक्षा न भवित। भक्त्या यत् फलं प्राप्यते तत् सदैव श्रेष्ठम्। तत् ज्ञानकर्मादेः सहायतां विनैव स्वीयफलदानेन परतत्त्वस्य साम्मुख्यसम्पादने समर्थम्। मायामोहितानां जीवानां कृष्णपराङ्मुखतां दूरीकर्तुं ये मार्गाः सन्ति तेषु भिक्तरेव श्रेष्ठमार्गः। सकामकर्मिभः इहलोकस्य परलोकस्य वा भोगो भवित। किन्तु निष्कामकर्मिभः चित्तशुद्धौ सत्यामि श्रीकृष्णसेवा न भवित, न वा योगेन मायाया विनाशात् निर्विशेषब्रह्मात्मभावे सित श्रीकृष्णसेवा भवित। किञ्च, कर्मणा ज्ञानेन योगेन च यत् फलं प्राप्यते तत्र भक्तेः साहाय्यमपेक्षते। भिक्तिनिरपेक्षतया कर्मज्ञानयोगाः स्वस्वफलप्रदाने समर्था न भविन्त। किन्तु भिक्तः कर्मज्ञानयोगान् विहायैव स्वफलदाने समर्था।

भक्तेः अनुष्ठानेन ज्ञानं वैराग्यं च स्वत एवोत्पद्येते। ज्ञानं वैराग्यं च भक्तेरेव आत्मजौ। तस्मातौ तदा सदा तत्सेवायामेव रतौ। अतः भिक्तमतो जनस्य ज्ञानवैराग्यलाभाय पृथक्प्रयासो नापेक्षते। तस्मात् कर्मज्ञानवैराग्याणां लाभे प्रयासमकृत्वा भगवद्भक्तेः लाभे प्रयत्नः कर्तव्यः। किन्तु कर्मविशेषभूतानि देवभजनानि नित्यनैमित्तिकानि वा कर्माणि न कर्तव्यानि। यदि स्वधर्मपालनस्य उद्देश्यं हरितोषणमेव भवति तर्हि हरितोषकस्वधर्मस्य फलं श्रवणादिरुचिलक्षणादिर्भिक्तरेव भवति। भक्त्यैव अनुगतज्ञानस्य वैराग्यादिगुणानां च लाभो भवति। तस्मात् साक्षात् श्रवणादिरूपा भिक्तरवश्यं कर्तव्या।

भिक्तिविशिष्टा जनाः गुणवन्तो भवन्ति तथा सर्वोत्तमत्वेन परिगण्यन्ते। अत्र जातिकुलादेः स्थानं न स्वीक्रियते। चण्डालोऽपि हिरभिक्तिपरायणो भूत्वा श्रेष्ठः पूज्यश्च भवित। तस्मात् भक्त्या भगवान् सदैव वसित। यद्यपि ज्ञानमार्गं स्वीकुर्वन्तो वदन्ति यत् प्रारब्धकर्मणो भोगेनैव विनाशो भवित। ज्ञानं प्रारब्धकर्मणामपि विनाशो भवित। किन्तु भक्तेः प्रभावः असामान्यः। भक्त्या प्रारब्धकर्मणामपि विनाशो भवित। तस्मात् भिक्तः सर्वैः समाश्रयणीया। तदर्थं सर्वादौ सत्सङ्गः कर्तव्यः। सत्सङ्गे कृते भिक्तिलाभः असामान्यो भवित। अनेन श्रीकृष्णस्य भजने इच्छा जायते तथा भक्तौ रुचिर्जायते। अर्थात् आदौ श्रद्धा, ततः रितः ततश्च भिक्तरुत्पद्यते। मायाबद्धानां जीवानां चित्ते भक्तेरुन्मेषस्य सत्सङ्गः एव हेतुः। एतं विना भक्तेरुन्मेषो

मुचि हये शुचि हय् यदि हरि भजे।
 शुचि हये मुचि हय यदि हरि त्यजे।। भिक्तसन्दर्भ: -88-89 प्.

भिवतुमेव नार्हित। अनेन सर्वदा श्रीकृष्णस्य कथाश्रवणे अवकाश: लभ्यते। ततः जीविचत्तस्य मालिन्यं दूरीभवित तथा साधूनां कृपा समुपलभ्यते। एतेषां कृपयैव भिक्तरुन्मिषित। यतो हि तेषां हृदये श्रीभगवान् सदैव विराजते। अयं सदाचार एव वैष्णवाचार:। सत् नाम श्रीभगवान् एव। स यस्य हृदये सर्वदा राजते सोऽपि सत्स्वरूपः। तस्मात् सत्सङ्गोऽपि मायाबद्धानां जीवानामवश्यं कर्तव्यम्।

भिक्तिर्द्विविधा- वैधी रागानुगा च। शास्त्रशासनाय यस्याः भक्तेः प्रवृत्तिः सैव वैधी भिक्तः। शास्त्रानुसारं सर्वेरिप जीवैः कृष्णभजनं कर्तव्यम्। तन्न क्रियते चेत् नरकयातना उपभोक्तव्या भवति। इत्थं शास्त्रोक्तानां यातनादीनां भयेन यदा जनः कृष्णभक्तौ प्रवर्तते तदा वैधी भिक्तः सा। अत्र कश्चित् कृष्णप्रीतिविधानरूपः सङ्कल्पो न तिष्ठिति।

शिक्षागुरवो नैके भिवतुमर्हन्ति। किन्तु दीक्षागुरुरेक एव भवति। स नरदेहरूपाया नौकायाः कर्णधारः। संसारसमुद्रस्य पारं गन्तुं नरदेहः सुदृढनौकावत् वर्तते। श्रीभगवतः अनुकम्पारूपेण वायुना गच्छती सा नौका श्रीगुरुरूपस्य कर्णधारस्य साहाय्येन संसाराकूपारपारं गन्तुं समर्था भवति। तस्मात् तस्य शरणागितः संसारिजीवानामवश्यं कर्तव्यम्।

यो जनः भिक्तिमार्गमवलम्ब्य गुरुं निश्चिनोति स यथार्थभक्तः। किन्तु किञ्चित्कालं स वैष्णवो न वा इति विचारः कर्तव्यः। यदि स न वैष्णवः तिर्हं स गुरुत्वेन न स्वीकार्यः। यतो हि दीक्षाग्रहणेन इष्टदेवोपास्तौ अधिकारो भवित। इष्टदेवस्य उपासनां कर्तुं तेन सह सम्बन्धस्थापनम् आवश्यकम्। तेन सेवया माधुर्यास्वादनेन च अन्यं कृतार्थं कर्तुं शक्यते। किञ्च, यः न श्रीकृष्णस्योपासकः तस्य कृष्णमन्त्रेण दीक्षा शास्त्रविरुद्धा। श्रीकृष्णोपासका वैष्णवा एव भिक्तमार्गं जिगिमषुभ्यः जनेभ्यो दीक्षां प्रदातुं समर्थाः। यो गुरुः अन्यं श्रीकृष्णस्य भजनाय दीक्षितं करोति तेन शब्दब्रह्मणि श्रीकृष्णे निष्णातेन भिवतव्यम्। तेन शिष्यप्रश्नानां समाधानं शीघ्रं कर्तुं शक्नुयात्। अन्यथा स शिष्यस्य श्रीकृष्णविषयिण्या अनुभूतेः निष्ठायाश्च उत्पादने असमर्थः स्यात्। किञ्च, नैके दीक्षाग्रहणात् प्राक् इदं सर्वमिवचार्येव दीक्षाग्रहणं कुर्वन्ति। तस्य दीक्षागुरोः मात्सर्यादिवशात् यदि कश्चित् महाभागवतजनस्य सेवाये अनुमितं न प्राप्नोति तिर्हं तस्य शिष्यस्य उभयविधसंकटः समुपस्थितो भवित। तदा तस्य कर्तव्यं तावत् दूरात् तस्य गुरोः सम्माननम्। यदि स गुरुः वैष्णविवद्वेषापन्नस्तिर्हं तं परित्यज्य अन्यस्य महाभागवतस्य सेवा कर्तव्या।

भिक्तिशिक्षा ग्राह्या चेत् भिक्तमार्गस्य प्रवृत्तिहेतुः तदनुसारेण कर्तव्याकर्तव्य-ज्ञानहेतुस्तथा अर्चनादिविषयकं ज्ञानम्- इति द्विविधो विधिः स्मर्तव्यः। शरणागितर्नाम श्रीकृष्णभजनाय अनुकूलविषयाणां ग्रहणं, प्रतिकूलविषयाणां वर्जनं, स रिक्षिष्यतीति विश्वास:, तेषां रक्षकत्वेन वरणम्, तत्रात्मसमर्पणम्, तत्कृपाभिन्ना न काचित् गतिर्विद्यते– इति षड्विधा शरणागित:। समीचीना शरणागित: शरणागताय शीघ्रं फलं प्रयच्छित। शरणागतान् सर्विविधदु:खेभ्यो भगवान् उद्भृत्य स्वमाधुर्यदानेन कृतार्थान् करोति। इयं शरणागितरेव प्रथमत: कर्तव्या।

शरणागितः नास्ति चेत् न कश्चित् तदीयो भिवतुं शक्नोति। शरणागत्या सर्वाभीष्टसिद्धौ सत्यामिप भगवच्छास्त्रोपदेशकस्य श्रीगुरोः नित्यसेवा कर्तव्या। यतो हि श्रीगुरोः प्रसन्नतैव विविधानर्थनाशस्य श्रीभगवतः प्रसन्नतायाश्च मूलभूता। अत्र श्रीगुरोः सेवा अवश्यं कर्तव्या। तस्य सेवा नाम अन्येषामिप वैष्णवानां सेवा कर्तव्या। श्रीगुरोः महतां च सेवया कर्मोदिजाङ्यस्य संसारभयस्य तत्कारणभूतस्य अज्ञानस्य च नाशो भवति। अनेन श्रीभगवतश्चरणे भिक्तलाभाय भगवतः श्रवणकीर्तनस्मरणपाद-सेवार्चनवन्दनदास्यसख्यात्मिनवेदनानां विविधभक्तीनामाचरणमावश्यकम्।

श्रवणम् - भिक्तमार्गे प्रथमं तावत् श्रवणम्। श्रवणं नाम श्रीभगवतो नामरूपगुणलीलादेः श्रवणेन्द्रियेण ग्रहणम्। अधमोऽिप श्रोता सकृत् भगवत्रामश्रवणेन मुक्तिफलं लब्धुं शक्नोति। उत्तमस्य विषये तु संशय एव नास्ति। उत्तमो जनः नामश्रवणेन परां भिक्तं लब्धुं समर्थो भवित। किञ्च, रूपश्रवणेनािप तस्या लाभे समर्थो भवित सः। विश्वसृष्टिस्थितिलयरूपा लीलावतारिवनोदरूपा- एतयोर्द्वयोर्मध्ये द्वितीयैव श्रवणे प्रशस्यतरा। यद्यपि एतयोरन्यतरेण तत् सम्भवित तथािप नामश्रवणमेव प्रथमं कर्तव्यम्। अनेन अन्तःकरणं शुद्धं भवित। शुद्धान्तःकरणरूपं श्रवणमेव योग्यम्। रूपे अन्तःकरणे उदिते सित गुणस्पुरणं भवित। ततः नामरूपगुणानां सम्यक्तया स्पुरणे जाते लीलायाः स्पुरणं सम्यक् भवित। इदं श्रवणं कर्तुमिष्यते चेत् कीर्तनकारिणा भवितव्यम्। कीर्तने कृते श्रवणमि सम्भवित। महाजनेन नामरूपगुणलीलािद्षु कीर्तितेषु श्रवणं कर्तव्यम्। तत्र पुनः भागवतश्रवणम् अत्यन्तमभीष्टं श्रेष्ठं च। यतो हि तत् तादृशप्रभाविविशिष्टं शब्दमयं परमरसात्मकं च। तस्मात् महता उभयोः सम्पादने सित अधिकं श्रेष्ठत्वम् अर्जितं भवित। किञ्च, श्रीभगवदपेक्षया श्रीकृष्णस्य नामरूपगुणलीलाश्रवणेन परमफलस्य प्राप्तिर्भवित।

कीर्तनम्- श्रवणात्परं कीर्तनं कर्तव्यम्। श्रवणाभावे कीर्तनमज्ञातं भवित। तस्मात् तदेव पूर्वमावश्यकम्। किन्तु यदि महाजनानां कीर्तनश्रवणे सौभाग्यं न भवित तिर्हि ते पृथक्तया कीर्तनीयाः। कीर्तनेऽपि क्रमेण नामरूपगुणलीलानां व्रतः विधेयः। तस्मादेव नामकीर्तनं कर्तव्यम्। तेन श्रीकृष्णे प्रेमभिक्तर्जायते। संसारभोगरूपस्य पापस्य क्षयः नामकीर्तनस्यैव आनुषङ्गिकं फलम्। अन्यथा तत् फलदाने बाधकं

श्रवणं कीर्तनं विज्ञोः स्मरणं पादसेवनम्।
 अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यामात्मिनवेदनम्।। भिक्तसन्दर्भः-169, भा. पु.-7/5/23

भवति। विषयेऽस्मिन् दशानामपराधानां त्यागः श्रीजीवगोस्वामिना उक्तः-

1. **साधूनां निन्दा**- श्रीनाम्ना साधवः प्रसिद्धाः भवन्ति। तेषामवमाननं निन्दा वा कथञ्चिदपि न सोढव्यम्। अयमेव नामापराधः।

- 2. विष्णुशिवयोः गुणनाम्नोः पृथक्त्वचिन्तनम् वस्तुतस्तु शिवो विष्णोरेव अवतारः। यः शिवः स एव विष्णुः। तेषां भेदचिन्ता नोचिता। स एव सर्वेश्वरः।
- 3. गुरोः अवज्ञा- यः नामाश्रयेण भगवत्कृपां लब्ध्वा गुरुपदं लब्धवान् तस्य अवज्ञा भगवदवज्ञेव वर्तते।
- 4. वेदादिशास्त्रनिन्दा- अनेन नामापराधो भवति। ये एतत् कुर्वन्ति ते पाषण्डा: सन्ति।
- 5. हरिनाम्नि अर्थवादकल्पना- हरिनाम्नि न कोऽपि अर्थवादो भवति। तस्य सामर्थ्यं सर्वत्र शास्त्रेषु उक्तम्। तस्मात् श्रीनाम्नः महिमानं ये न स्वीकुर्वन्ति तेऽपि अपराधिनः।
- 6. नाम्ना पापनिवृत्तिः- नामोच्चारणेन सर्वाणि पापानि दूरीभवन्तीति ज्ञात्वा नामश्रवणं कृत्वापि यदि कश्चित् पापकर्मसु प्रवर्तते तर्हि सोऽपि नामापराधः। एतस्मात् परं शतं प्रयत्ना अपि व्यर्थाः।
- 7. धर्मव्रतादीनां शुभकर्मणां फलं हरिनामफलसमानमिति चिन्त्यते चेत् नाम्नः महिमा नश्यित। धर्मादिशुभकर्मिभः दैहिकं सुखं जायते, निष्कामतया अनुष्ठीयमाने च चित्तशुद्धिर्जायते। नामग्रहणेन तु श्रीभगवत्प्रेमलाभो भवित। तस्मादेतयोः साम्यं कदापि न चिन्त्यम्।
- 8. नामग्रहणे असावधानता- माहात्म्यश्रवणे सावधानतायाः अभावेन अनिच्छा न सह्या। अनेन औदासीन्यं प्रकाशते।
 - 9. नामादिश्रवणे उदासीनस्य अहमित्यभिमानेन विषयभोगे रति:।
- 10. श्रद्धाहीनेभ्यः पराङ्मुखेभ्यः उपदेशश्रवणे अनिच्छुकेभ्यः उपदेशप्रदानम्-श्रीभगवन्नाम्नि रतिः स्थातव्या। आग्रहशून्याः श्रोतारः न स्युः। किन्तु श्रवणात् प्राक् सर्वेऽपि श्रोतारः श्रद्धाहीना एव भवन्ति। तस्मादत्र विमुखानां जनानामेव विषये उक्तमिति ग्राह्मम्। एतादृशस्य जनस्योपदेशः अपराध एव।

यदि असावधानतायाः नामापराधो भवति तर्हि अस्य नामापराधस्य निराकरणाय सततनामकीर्तनेन प्रायश्चित्तं कर्तव्यम्। अर्थात् नाम्नः सततं कीर्तनेनैव तस्य निवृत्तिर्भवति।

स्मरणम्- तृतीयमाचरणं तावत् स्मरणम्। नामकीर्तनं न परित्यज्य स्मरणं

कर्तव्यम्। स्मरणं नाम मनसा तस्यानुसन्धानम्। सर्वेभ्यो विषयेभ्यो चित्तं समाकृष्य सामान्यतया भगवति स्थापनमेव धारणा। विशेषेण रूपादीनां चिन्तनं ध्यानम्। इदं ध्यानं यदि अविच्छिन्नं भवति तर्हि तत् ध्रुवानुस्मरणमित्युच्यते। यदा केवलं ध्येयमात्रस्य स्फ्रुणं भवति तदा समाधिर्भवति। एवं समाधावेव स्मरणं सार्थकम्।

पादसेवा- यदि रुचिः शिक्तिश्च तिष्ठतः तिर्हं कीर्तनस्मरणिदिकं न पिरत्यज्य भगवत्पादसेवनं कर्तव्यम्। केचित् सर्वदा स्मरणस्य सिद्धये पादसेवां कुर्वन्ति। पादसेवनिमत्यत्र पादशब्दस्यार्थः भिक्तः तथा सेवनं नाम देशकालोचितं पिरचर्यादिकम्। श्रीमूर्तेः दर्शनं स्पर्शः पिरक्रमणं मन्दिरगमनं गङ्गापुरीद्वारकामथुरादितीर्थगमनम् इत्यादीनि पादसेवनानि इत्युच्यन्ते।

अर्चनम्- तदनन्तरम् अर्चनं कर्तव्यम्। अर्चने यदि श्रद्धा भवित तिर्हे दीक्षागुरोः समीपे दीक्षाग्रहणं सुकरं भवित। िकन्तु पञ्चरात्रादिविध्यनुसारेण अर्चनस्यावश्यकता नास्ति। शरणागत्यादिषु केनिचत् एकेनैव परमपुरुषार्थसिद्धिः सम्भवित। तथापि श्रीनारदादीन् भिक्तमार्गाचार्यान् अनुसरन्तो जनाः श्रीभगवता सह दीक्षाविधानेन सम्बन्धविशेषं स्थापियतुमिच्छन्तः श्रीगुरोः समीपे दीक्षाग्रहणं कृत्वा अवश्यमर्चनं कुर्युः। दीक्षामन्त्रः देवस्वरूप इति मत्वा अर्चनं कर्तव्यम्। ये धनिका गृहस्थाः तेषां कृते अर्चनमार्ग एव मुख्यः। यदि तदकृत्वा निष्किञ्चनवत् स्मरणादिष्ठेव प्रवर्तन्ते तिर्हे तेषां वित्तशाठ्यं प्रकाशितं भवित। सर्वेरिप दीक्षितैः अर्चना कर्तव्या। अन्यथा तेषामधोगितर्भवित। तस्मात् पूर्वं दीक्षाग्रहणं ततश्च अर्चनम्। अस्मिन् अर्चने सावधानता अवलम्बनीया। अन्यथा नामापराधो जायते। यद्यपि अनादर एव सर्वेषां नामापराधानां मूलभूतः तथापि अनादरस्य परित्यागेन अर्चनं कर्तव्यम्।

वन्दनम् कीर्तनस्मरणवत् स्वतन्त्रतया वन्दनमपि अनुष्ठेयम्। ये अनन्त-गुणैश्वर्यस्य श्रवणात् तदीयगुणानुसन्धानपादसेवादिषु दैन्यभावमापन्नाः केवलं नमस्कारे एव अध्यवसाययुक्ताः भवन्ति तेषामेव अस्मिन् वन्दने अधिकारः। इत्थमयं नमस्कारः तस्य अर्चनत्वेन अतिदिश्यते।

दास्यम्- श्रीविष्णो: दासत्वाभिमानमेव दास्यम्। उक्तं च-

त्वयोपभुक्तस्त्रग्गन्धवासोऽलङ्कारचर्चिताः। उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेम हि॥

भजनप्रयासो नास्ति चेदिप तादृशाभिमानेनैव सिद्ध्यित। अनेनाभिप्रायेण अर्चनादेः परं तस्य निर्देशः कृतः। किन्तु अन्यानि भजनानि अस्मादेव दास्यात् श्रेष्ठानि भवन्ति।

^{1.} नामरूपध्यानधारनासमाधय: पञ्चविधा:, भक्तिसन्दर्भ:-304

सख्यम् - हिताशंसनरूपो बन्धुभाव एव सख्यमित्युच्यते। इदं सख्यं प्रेमयुक्तं भावनमयमित्यत: दास्यापेक्षयापि उत्तमत्वात् दास्यात्परं पठितम्। भगवद्विषये हिताशंसनमेव सख्यम्। भक्तविषये भगवता या हिताकांक्षा क्रियते तस्या नित्यत्वात् भक्तानां सख्यसेवापि नित्या भगवद्विषयिणी हिताकांक्षामयी च।

आत्मिनवेदनम् - देहात् शुद्धात्मानं यावत् समेषां पदार्थानां सर्वथा भगवित समर्पणमेव आत्मिनवेदनम्। आत्मनः कृते प्रयासाभावः स्वस्य साध्यसाधनानां तिस्मिन् समर्पणं तथा तमुद्दिश्यैव प्रयत्नः इत्येव तस्य स्वरूपम्। "तन्मे भवान्खलु वृतः पितरङ्गजायामात्मार्पितश्च भवतोऽत्र विभो विधेहि" इति भागवतपुराणस्थे श्रीरुक्मिणीदेव्याः वाक्ये इदमात्मिनवेदनमेव प्रकाशितम्। केचन तु देहार्पणं शुद्धक्षेत्रज्ञार्पणं वा आत्मार्पणमिति वदन्ति। श्रीहिरं प्रति समष्टिरूपेण आत्मिनक्षेपकृतवैशिष्ट्य-प्राप्तिहेतुभूता स्मरणादिमयी उपासनैव आत्मार्पणम्।

एवं श्रवणार्चनादिभिः भगवत्प्रीतिसम्पादनमेव भक्तेः फलम्। एतानि आचरणानि वैधभक्तौ अन्तर्भवन्ति। यतो हि एतानि शास्त्रविधिसापेक्षाणि। रागानुगा भक्तिस्त् एतस्या भिन्ना। रागात्मकविषयेभ्यो रागानुगा भिन्तर्भवति। विषयिण: स्वाभाविके विषये यत् प्रेमातिशय्यं तदेव रागपदवाच्यम्। यथा चक्षुरादीन्द्रियाणां सौन्दर्यदर्शने स्वाभाविकम् इच्छातिशय्यं राग इत्युच्यते। अयं राग: बहुविधो भवति। इयं रागात्मिका भिक्तरेव स्वरूपे शक्तौ कार्ये विषये आश्रये सर्वप्रधाना। सा क्रमेण स्वरूपशिक्त-विलासरूपा, श्रीकृष्णं वशीभृतं कर्तुं समर्था, अनन्तसौन्दर्यमाधुर्यादिमयं श्रीकृष्णं चमत्कृतं कुर्वती वर्तते। विषयो नाम स्वयं भगवान् सिच्चदानन्दविग्रहः श्रीकृष्णः। आश्रयास्तावत् प्रिया: व्रजवासिन:। तेषां भिक्तरेव सर्वोत्कृष्टं वस्तु। तेषां भावानामनुगमनं कृत्वा तेषामानुगत्यं च स्वीकृत्य श्रीकृष्णभक्तौ या लालसा सैव रागानुगा भिक्त:। इदमानुगत्यं तदनुरूपमाचरणं च मानसिकं कार्यम्। अस्या भक्तेरनुष्ठानं गृढं रहस्यमयं च। यद्यपि श्रीकृष्णविषय एव मुख्य: तथापि येन केनचित् उपायेन कृष्णे मनो निवेशनीयम्। उक्तं च- "तस्मात्केनाप्युपायेन मन: कृष्णे निवेशयेत्" इति। तस्मात् भक्तेन विशुद्धचित्तस्य पुरुषस्य सर्वभूतेषु तथा आत्मिन आकाशसमस्य अपावृतस्य बहिरन्तश्च आत्मस्वरूपस्य श्रीकृष्णस्य दर्शनं केवलम् अन्तरङ्गभक्त्यैव सम्भवति। इत्थं श्रीपादजीवगोस्वामी भिक्तमेव अभिधेयत्वेन स्वग्रन्थे प्रकाशितवान।

सहायकग्रन्थसूची

 गोस्वामी, भिक्तिसिद्धान्तसरस्वती (सम्पा.), श्रीभिक्तसन्दर्भ:, गौडीयिमशन्, कोलकाता- 2005।

- 2. गोस्वामी, श्रीप्राणगोपाल: (सम्पा.), श्रीभिक्तसन्दर्भ:, संस्कृतपुस्तकभाण्डार, कोलकाता- 1407 वङ्गाब्द:।
- 3. शास्त्री, श्रीहरिदास: (सम्पा.), श्रीभिक्तसन्दर्भ: (हिन्दी), गदाधरगौरहरिप्रेस, मथुरा उत्तरप्रदेश-466 गौडवङ्गाब्द:।
- 4. गोस्वामी, राधारमण:(सम्पा.), श्रीभिक्तसन्दर्भ:, कोलकाता विश्वविद्यालय, कोलकाता- 1955।
- 5. गोस्वामी, भागवदाचार्यविमलकृष्ण: काननविहारीगोस्वामी च (सम्पा.), समग्रषट्सन्दर्भ:। प्रथमद्वितीयखण्डौ, संस्कृत बुक डिपो, कोलकाता-2020।
- 6. गोस्वामी, राधाविनोद: (सम्पा.), भागवतपुराणं द्वादशस्कन्धा:, गिरिजा, कोलकाता– 1194।
- 7. जोशी, रसिकविहारी, भागवतदर्शनम् (हिन्दी), चौखम्बा, वाराणसी- 1985।
- 8. दत्तदिलीपकुमार:, वैष्णवदर्शन ओ साहित्येर रसालोके, अन्नपूर्णा प्रकाशनी, कोलकाता- 1963।



अर्चावतारस्य वैदिकत्वप्रदर्शनं बुद्धनिर्वाणकालापेक्षयार्वाचीनत्वनिरसनञ्च - एकं समीक्षणम्

-चन्दन-मुखार्जी *

ISSN: 0975-1769

0.1. शोधसारः

श्रीरङ्ग-वेङ्कटाद्रि-हस्तिगिरि-यादवाद्रि-घटिकाचलादिषु सकलमनुजनयन-विषयतां गतो मूर्तिविशेषः अर्चावतारः। अर्च्यते इति अर्चा। मन्त्राधीनो भावाधीनः स्वभक्तजनवाञ्छितकल्पतरुर्भगवान्नारायणः सर्वसिहष्णुर्भक्तजनानुग्रहार्थं धृतावतारः। प्रतिमापूजनस्य वैदिकत्वसमर्थनम्, प्रतिमापूजनस्य बुद्धनिर्वाणकालापेक्षया अर्वाचीन-त्वाक्षेपः, नानाविधवैदिकलौकिकप्रमाणपुरःसरम् तन्निरसनञ्च इति शोधस्य मुख्यविषयः।

0.2. प्रमुखशब्दाः

भक्ति:, अर्चावचार:, दिव्यदेशम्, मोक्ष:, भारतीयसंस्कृति: च।

1. आमुखम्

अस्मत्पूर्वाः सदसद्विचक्षणाः त्रिकालाबाध्यधुरन्धरा आर्या लोकहितायैहिकामुष्मिकश्रेयः-प्रतिपादकानि नैकानि शास्त्राणि विरचय्य नो लोचनमुदमिलयन्। महता
कालेनानायासेन स्वानुभवं प्रमाणीकुर्वद्भिस्तैरैहिकामुष्मिकयोर्मध्ये क्षणं भङ्गुरं दुःखेन
सम्मिश्रितमैहिकमपेक्ष्य शाश्वतं नित्यमनन्तमा-मुष्मिकमेव श्रेयः सर्वापेक्षयोत्कृष्टमिति
महतोद्घोषेण प्रतिपादितम्। तादृशञ्च श्रेयः सर्वान्तर्यामिनः सर्वज्ञस्य समाराधनेन
विना प्राप्तुं नैव शक्यते। सः च परमः पुमान् परव्यूहविभवान्तर्याम्यर्चारूपेण
पञ्चात्मनावतिष्ठत इति "स वा एष पुरुषः पञ्चधा पञ्चात्मा येन सर्वमिदं प्रोतम्"
इत्यादिश्रुतयो विवादरहितं प्रतिपादयन्ति। एतेषु पञ्चसु रूपेषु पञ्चममर्चारूपमेव
भक्तवात्सल्येन बहुधा प्रशंसितं भवति। एविमयमर्चा न केवलमामुष्मिकमिप
त्वैहिकमाराधकरभीप्सितं फलं प्रयच्छित। अद्यापि ग्रामराज्यराष्ट्रसमृद्धिं समुद्दिश्य

^{*} शोधच्छात्रः, रामकृष्णमिशन्-विवेकानन्द-शैक्षणिक-शोध-संस्थानम्, पश्चिमवङ्गः।

^{1.} याज्ञिक्युपनिषत् 79/16/2

तत्र तत्र देवालयादिषु उत्सवाः पूजाविधयश्च क्रियमाणा दृश्यन्ते। पुरापि पुण्यशीलाः चक्रवर्तिनो राजानो वणिजः समाजसंस्कारकाः च समाजसमृद्धिमृद्दिश्यैव बहून् देवालयान् प्रतिष्ठापयामासुः। एवं देवालयादिषु प्रतिष्ठितस्यार्चावतारस्य स्वरूपं सनातनत्वं वेदसिद्धत्वं भक्तैरुपास्यत्वं माहात्म्यं प्रयोजनमाक्षेपसमाधानाभ्यामुदाहरण-सहितञ्चास्मिन् लेखे प्रतिपादयिष्यते।

2. भगवान्

शेषकल्याणगुणो भगवान् वासुदेवो नैकाभिः श्रुतिभिर्नेकाभिः स्मृतिभिश्च लक्षितः, प्रकृतिद्वयमङ्गलविग्रहविशिष्टोऽनन्यशरणः सत्यकामो निखिलजगत्कारणत्व- मुमुक्षुध्येयत्वाभ्यां विशोषितः, साम्यादिभ्रमापादकश्रुतीनां तात्पर्येणोपपादितः, कारणत्वादिग्रहधर्मितयावच्छेदकभूतः। सर्वविद्यानुयायिभिः स्वरूपनिरूपकधर्मत्वेन प्रसिद्धैरानन्दत्वसत्यत्वज्ञानत्वानन्तत्वाद्यखिलहेयत्वैः प्रकृतिवग्रहोपलक्षितो दिव्यात्म- स्वरूपश्च। नारायणः परमपुरुषोऽनन्तगुणसमन्वितोऽनन्याधीनैश्वर्यः उभयविभूतिनायकः सर्वभूतान्तरः अपहतपाप्मा सर्वान्तर्यामी षडैश्वर्यसम्पन्नो वैकुण्ठनिवासी चेत्यादि विशेषणैर्विभूषितः। इतोऽप्यष्टभिर्विशेषणैर्भगवतो विष्णोर्माहात्म्यं गीयते –

सर्वेशानः सहजमित्रमा सर्वभूतान्तरात्मा सर्वान्दोषान् स्वयमितपतन् सर्वविद्यैकवेद्यः। कर्माध्यक्षः कलुषशमनः कोऽपि मुक्तोपभोग्यः सिद्धोपायः स्फुरित पुरुषो वाजिनां संहितान्ते॥ इति

समस्तानि श्रुतिस्मृतिन्यायवाक्यानि चिदचिद्विशिष्टाद्वैतेऽनन्तगुणकल्याणगुणगणे सर्वानुगते सर्वात्मके परमेश्वरे विष्णावेव पर्यवसितानि।

3. पर:, व्यूह:, विभव:, अन्तर्यामी, अर्च: च

विशिष्टाद्वैतवेदान्त ईश्वर: पञ्चधा। स ईश्वर: पर-व्यूह-विभव-अन्तर्यामि-अर्चावतारेण निरूपित:। उच्यते तावत् सम्प्रदाये -

ब्रह्मादिदेवसङ्घेषु स एव पुरुषोत्तमः।
 स्त्रीप्रायमितरत् जगद्ब्रह्मपुरःसरम्।। (श्वेतश्वेतरोपनिषत् 6/7) इति।

^{2.} अन्तर्बिहश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायण: स्थित:। (नारायणोपनिषत् 5) इति।

^{3.} एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायण:। (सुबालोपनिषत् ७/१) इति।

^{4.} योऽसावसौ पुरुष:। (ईशावास्योपनिषत् 16) इति।

 ^{5.} ऐश्वर्यं च तथा वीर्यं तेज: शक्तिरनुत्तमा।
 ज्ञानं बलं यदेतेषां षण्णां भग इतीरित:।
 एभिर्गुणै: पूर्णो य: स एव भगवान् हरि:।। (वृद्धहारीतस्मृति: 6/164-165) इति

^{6.} वेदान्तदेशिककृतम् ईशावास्यभाष्यम् (मङ्गलम् 2)

परो व्यूहश्च विभवो हार्दश्चार्चेति पञ्चधा। विग्रहानिच्छया गृह्णन्विभाति परमः पुमान्॥ इति

अर्थात् परमः पुमान् श्रीमान् नारायण ईच्छया विग्रहान् गृह्णन् विभाति। श्लोके हार्द् इत्यनेनान्तर्यामिणो ग्रहणम्। प्रत्येकस्य सुबृहत्कलेवरत्वात्तेषां सामान्यतया विवरणमधः प्रस्तूयते।

3.1. पर:

परस्त्वेक इति सिद्धान्तः। स आदिसनातन आदिनारायणः परोऽनादिनिधनोऽन-विधकानन्दसुन्दरः स्वयंप्रकाशः परमव्योमाशब्दिते श्रीवैकुण्ठे श्रीभूमिनीलासमेतः। "यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः" इति, "सदा पश्यन्ति सूरयः" चेत्यद्या नैकाः श्रुतयः तं वर्णयन्त्यः तस्मिन् पर्यवस्यन्ति। नित्यैर्मुक्तैश्चाविशेषेण सेव्यमानोऽखिल-संसारपितर्वासुदेवः। ज्ञानं बलमैश्वर्यं वीर्यं शक्तिः तेजः चैतेषां षण्णां गुणानामुपयोगेन षाड्गुण्यपिरपूर्णेन नारायणेन स्वतः सर्वं सर्वथा सर्वदा साक्षात्क्रियते, तथा साक्षात्कृतं च सर्वं ध्रियते, धारयन्नेव नियच्छिति, धारयन्नियच्छन् चािशिथलो भवित। अघिटतञ्च घटयित। तत्र च सहकािरनमनपेक्ष्येव सर्वत्राविभूतो भवतीित तात्पर्यचिन्द्रकायां प्रदिर्शितः। वेदान्तदेशिको वरदराजपञ्चाशदि परस्वरूपं प्रतिपादयन् वदित - परः शान्तोदितोऽखिलहेयविपक्षभूतो नित्यः परो वरदः सर्वगतो निष्यन्दनन्दथुमयः केवलं शमवतैर्हृदयैः प्राप्यः। भिणतञ्च तेन -

संचिन्तयन्त्यखिलहेयविपक्षभूतंशान्तोदितं शमवता हृदयेन धन्याः। नित्यं परं वरदं सर्वगतं सुसूक्ष्मंनिष्यन्दनन्दथुमयं भवतः स्वरूपम्॥

भगवतो गुणद्वयमत्यन्तं प्रसिद्धं- परत्वोपयोगिनः सौलभ्योपयोगिनश्चेति। परत्वं सौलभ्यञ्चोभयोः समाश्रयणीयता प्रयोजकत्वम्। प्रसिद्धञ्च -

तवानन्तगुणस्यापि षडेव प्रथमा गुणाः। यैस्त्वयेव जगत् कुक्षावन्येऽप्यन्तर्निवेशिताः॥ इति

ऐश्वर्यं वीर्यं बलं तेज: अनुत्तमा शक्ति: ज्ञानञ्चेत्येते च प्रथमे गुणा यद्यपि भगवत्स्वरूपमाश्रयन्ति, तथापि सर्वेष्ववतारेषु भगवन्तं न जहति। अर्थात् कार्यानुरोधेनैते

कृष्णमाचार्यः गयंप्ट्टै, अर्चावतारवैभवम्, श्रीकृष्णविसालमुद्रालय, कुम्भकोणम्, 1921, पृष्ठसंख्या - 33

^{2.} ऋग्वेद: 1/164/50

^{3.} ऋग्वेद: 1/22/20

^{4.} वरदराजपञ्चाशत् 16

गुणाः कदाचित्प्रकाशिताः कदाचिदप्रकाशिताश्च तिष्ठन्ति। पररूपे तु सर्वदा प्रकाश इत्येव भावनीयम्। एवं सः पररूपो भगवान्नारायणो ज्योतिषां ज्योतिः, ज्योतिषां पतिः, सर्वतेजसां कारणभूतः निरतिशयतेजोशालीति सर्वत्र श्रुतिस्मृतिन्यायपुराणादिषु गीयते।

3.2. व्यूह:

व्यूहो नाम पररूपादुत्पन्नं रूपान्तरं, तद्विशिष्टो वा भगवान्। स च चतुर्विधो वासुदेव-सङ्कर्षण-प्रद्युम्न-अनिरुद्धभेदात्। वैखानसशास्त्रेष्वेतेषामेव पुरुष-सत्य-अत्यत-अनिरुद्धपदैर्व्यपदेश:। सर्वत्र चावतारेषु प्रभोरिच्छैव नियामिका। साधुपरित्राणादिक-मेवावतारफलम्। अत्र च प्रथमो व्युहो वास्देवो गुणादिभि: पररूपात्र भिद्यते। तस्मादेव परवासुदेवो व्यूहवासुदेव इति च प्रसिद्धिः। परवासुदेवो नित्योदित इति। द्वितीयो व्यृहवासुदेव: शान्तोदित इति साम्प्रदायिको व्यपदेश:। उच्यते च भगवच्छास्त्रे-"नित्योदितात्सम्बभूव तथा शान्तोदितो हरिः" इति। परप्यूहयोर्वासुदेवयोरिवशेषाभिप्रायेण च तत्र तत्र त्रैव्यूहपक्षोऽपि प्रथते। अत्र व्यूहवासुदेवे परवत् षडपि गुणा: प्रकाशन्ते। व्यहवासुदेवादुत्पन्ने सङ्कर्षणे ज्ञानं बलञ्चेति द्वौ प्रकाश्येते। तत्रान्ये गुणा अनिभव्यक्ता वर्तन्ते। अयञ्च जीवतत्त्वमभिमन्यते, शास्त्रं प्रवर्तयति, संहरति च जगत। सङ्कर्षणात् प्रद्युम्नश्च समुत्पद्यते। अत्रैश्वर्यं वीर्यञ्चेति द्वौ गुणौ चाभिव्यक्तौ। अयञ्च मनस्तत्त्वाभिमानी। अस्य च कर्म-धर्मप्रवर्तनं सुष्टिश्च। सङ्कर्षणादिनरुद्ध उत्पद्यते। उत्पद्यमाने चानिरुद्धे शक्तितेजसी प्रकाश्येते। अयञ्चाहंकारतत्त्वमभिमन्यमानो जगत् पालयति। एवं चातुर्व्युह्यस्य जाग्रत्स्वप्नादिस्थानभेदादिकं भगवच्छास्त्रे लक्ष्मीतन्त्रादौ सप्रमाणं निरूपितं वर्तते। वेदान्तदेशिककृतिष्वप्यस्य⁴ माहात्म्यं भूरिशो दरीदृश्यते। क्वचित् केशवादीनि व्यूहान्तराण्यपि शाखाभेदेन प्राप्यन्ते।

1. न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्नि:। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।। (कठोपनिषत् 2/2/15) इति।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
 यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।। (श्रीमद्भगवद्गीता 15/12) इति।

^{2.} ज्योतिर्दर्शनात्। (ब्रह्मसूत्रम् 1/3/41) इति।

रूढस्य चिन्मयता हृदये करीशस्तम्बानुकारिपरिमाणविशेषभाजः।
स्थानेषु जाग्रति चतुर्ष्विप सत्यवन्तः
शाखाविभागचतुरे तव चातुरात्म्ये।। (वरदराजपञ्चाशत् 19) इति।

3.3. विभवः

स्वैकान्तिकानां भक्तानां मोदनाय साधुजनपरित्राणायासाधुविनाशाय धर्मसंस्थापनाय च मत्स्यकूर्मवराहवामननृसिंहरामकृष्णाद्यवतारिवशेषैराविर्भूतो विभवः। शास्त्रेषु क्वचित् षिट्वंशितः, क्वचित् अष्टात्रिंशत्, क्वचिच्चौकोनचत्वारिंशिदित संख्याभेदः समुपलभ्यते। वस्तुतस्तु विभवाः त्वनन्ता एव। भगवतः प्रसिद्धा अवतारा ज्ञायन्ते शास्त्रेष्वप्यवलोक्यन्ते। किन्त्वप्रसिद्धा अपि बहवोऽवतारा भिवतुमर्हन्ति। तेषां भानमस्माभिः कर्तुं न शक्यते। तत्तत्सजातीयसंस्थानत्वेन सौलभ्यातिशयसमाश्रयणीयत्वेन सौकर्याद्यनुरोधेन प्रतिप्रलयं धर्मसंस्थापनायाधर्मविनाशाय च मत्स्यकूर्मादिदशकं विभव इति क्वचिद्विशिष्य निर्देशः। रामकृष्णाद्यवतारेषु च तत्तत्कार्यानुसारेण गुणप्रकाशनं तत्तिरोधानादिकं तु सुतरामुपपद्यत इति तत्र प्राकृतत्वशङ्का कर्तुं नोचिता। प्रोच्यते च –

समस्तशक्तिरूपाणि तत्करोति जनेश्वर। देवतिर्यङ्मनुष्याख्याचेष्टावन्ति स्वलीलया॥ इति

यद्यपि मत्स्यः कूर्मो वराहो वामनो नृसिहः परशुरामो रामो बलरामो बुद्धः कल्की चेति दशावताराः प्रसिद्धाः। तथापि विभवतदवान्तरभेदाश्चानन्ताः। अत एव कृष्णरूपाण्यसंख्यानीत्युच्यते। जयगोस्वामीकृतं दशावतारस्तोत्रं सर्वाधिकं प्रसिद्धम्। इतोऽपि नाना स्तोत्राणि तु तत्र वर्तन्ते एव। तेषु वेदान्तदेशिककृतं दशावतारस्तोत्रमपि रम्यं वर्तते।

3.4. हार्द: अन्तर्यामी वा

अन्तर्यामी अन्तः प्रविश्य नियमनं कर्मफलप्रदानञ्चेत्युभयकर्मकारी। सर्वेषामिप हत्पद्मकर्णिकामध्यगतोऽयं सूक्ष्मः। अयमेव "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मिन तिष्ठिति" इति, "य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः" इति, "हृदि सन्निविष्टः" चेत्यादिभि-रुच्यते। अयञ्च हार्द इति नामान्तरम्। उपनिषत्प्रतिपाद्यात् सर्वान्तर्यामिणो दिव्यात्म-स्वरूपादपर एवायमन्तर्यामी। दिव्यात्मस्वरूपं सर्वगतत्वाद्भृत्पद्मकर्णिकामध्यगतम्। दिव्यात्मस्व-रूपस्यान्तः प्रविश्य नियन्तृतयान्तर्यामिव्यपदेशार्हत्वेऽपि अवतारिवशेष एवायमन्तर्यामी। सर्वान्तर्यामि दिव्यस्वरूपमनुसन्धित्सूनां द्वारमित्ययमन्तर्यामिशब्देन व्यपदिश्यते। "अन्तर्यामिस्वरूपं च सर्वेषां बन्धुवित्स्थतम्" इत्यारभ्य "स्वर्गनरक-प्रवेशेऽपि बन्धुरात्मा हि केशवः" इत्यन्तेन स्तूयते। एवमन्तर्यामिरूपोपासने न

^{1.} नारदपुराणे पूर्वार्धे - 47/47

^{2.} कठोपनिषत् 2/1/12

^{3.} तेत्तिरीयोपनिषत् 1/6/1

^{4.} श्रीमद्भगवद्गीता 18/13

समेषामधिकारः। केषाञ्चन महायोगिनामेव तत्राधिकारः। कुत्रैतदुपासनं कर्तव्यमिति चेत् पद्मकोशप्रतीकाश इति साक्षात्तैत्तिरीयोपनिषत्¹ वदति।

3.5. अर्चावतारः

गृहग्रामनगरजलशैलादिषु वर्तमानो मूर्तिविशेषोऽर्चावतारः। अयञ्च सर्वसिहष्णुर्भक्त-जनानुग्रहार्थं धृतावतारः। मन्त्राधीनो भावाधीनः सन् स्वभक्तजनवाञ्छितकल्पतरः। उपासकोद्धारकामनया परेण व्यूहेन विभवेन वा बिम्बानुरूपमात्मशरीरं कलयता स्वयं प्रविश्याविभागेनैकीकृत उपासकाभिमतसुवर्णादिनिर्मितो विग्रहविशेषोऽर्चावतारः। श्रीरङ्गवेङ्कटाद्रिहस्तिगिरियादवाद्रि-घटिकाचलादिषु सकलमनुजनयनविषयतां गतो मूर्तिविशेषः। तस्य विस्तृतं विवरणमग्रे प्रदास्यते।

4. अर्चावतारे आक्षेपः

एवं सर्वाभीष्टफलप्रदस्य सर्वविधातिशयोपेतस्य सर्वसुलभस्य सर्वाभीप्सित-साधकस्यार्चावतारस्य श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासादिप्रसिद्धं समाराधनं तत्प्राचीनत्वञ्च केचनेदानीन्तनाः पण्डितमन्या आक्षिप्यन्ति। तैराक्षिप्यते यत् प्रतिमापूजनमवैदिकं, वेदकालादर्वाचीनञ्च। नापि वेदेषु विग्रहाराधनमुपलभते। प्रतिमापूजनं व्यञ्जयन्ति वचनान्यपि वेदे न प्राप्यन्ते। वेदे देवालयो न क्वचित् प्रस्तुतो दृश्यते। देवालयो नास्ति चेद्विग्रहपूजनकल्पनं तु निरर्थकमेव। प्रायः त्रिसहस्रवर्षेभ्यः पूर्वमासीद्वैदिकः कालः। ततो बुद्धनिर्वाणादनन्तरं तत्सम्प्रदायसन्न्यासिभिः सर्वप्रथमं बुद्धस्य प्रतिमा पूजायै कल्पिता समर्चिता च। तमाचारमनुसृत्यैव ब्राह्मणा मूर्तिपूजनं समारब्धवन्त:। ततः प्रागार्थेवैदिकैः प्रतिमानिर्माणं तत्पूजनञ्चाविदितमेवासीत्। बुद्धसमयः प्रायः प्रथमख्रीष्टपूर्वाब्दादारभ्य ख्रीष्टीयचतुर्थशतकपर्यन्तमासीदिति विदुषामभिप्राय:। तदभ्यन्तर एव मूर्तिपूजागता। अनन्तरमितिहासपुराणादिषु प्रथिता। पुनरपर आक्षिपन्ति यदपरिच्छिन्नस्य भगवतः प्रतिकृतिरूपपरिच्छिन्नत्वकल्पनं नापि निःश्रेयसाय, नापि गौरवाय च। अरूपस्याचक्षुःश्रोत्रस्यापाणिपादस्य भगवतो नराकारकल्पनमुपहास्यमेव। अतः प्रतिमापूजनमप्रतिबुद्धानामविदुषां विषय:। "प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनाम्" इत्यग्निपुराण-वचनमपि प्रतिमापूजनस्याविद्वबद्वेद्यतां समर्थयति। "न तस्य प्रतिमा अस्ति" इति वाजसनेयि वचनमपि प्रतिमानिषेधं सूत्रयति। इत्थं प्रमाणितं यद्विग्रहपूजारूपमर्चाराधनम-वैदिकमर्वाचीनमप्रबुद्धाधिकारिकं गृङ्गलिकाप्रवाहगतिमिति विवेचनीयमित्याक्षेपकानामाक्षेपः।

^{1.} पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयं चाप्यधोमुखम् इत्यारभ्य तस्याः शिखायाः मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः इत्यन्तेन अन्तर्यामी व्यपदिश्यते" (तैत्तिरीयोपनिषत् 2/11/26/नारायणानुवाकः) इति।

5. अर्चावतारस्य वैदिकत्वप्रतिपादनम्

प्रतिवादिभिरुद्धावितान् नैकान्नाक्षेपान् समाधातुं चतुर्षु वेदेषु प्रमाणान्यानीतानि। किञ्च विग्रहाराधनस्यार्वाचीनत्वखण्डनाय, सुप्रचीनत्वप्रतिष्ठापनाय च श्रुतिस्मृतिपुराणेति हासादिभ्यो नैकानि प्रमाणानि प्रदर्शितानि। पूर्वपक्षिभिरर्चावतारे य आक्षेपाः कृताः, तेऽत्यन्तं निरर्थकाः। वेदे प्रतिमापूजनस्य विधानं नास्तीति वदतो व्याघातः। "अनन्ताः वै वेदाः" इत्यनन्ता वेदाः। चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा विभिन्नाः।

एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेदः। एकविंशतिधा वाहवृचं नवधाथर्वणो वेदः॥ इति

वेदैकदेशं पठित्वैवं साहसं प्रदर्शनं परिमितायुर्भिरल्पमितिभिर्भवादृशैः पण्डितमानिभिर्नोचितम्। समस्तेषु वेदेषु मूर्तिपूजाया विधानं दृश्यत एवेति सप्रमाणं प्रपञ्च्यते।

5.1. ऋग्वेदीयं प्रमाणम्

- (क) "प्रव: पान्तमन्धसो धिया यते महे शूराय विष्णवे चार्चत। या सानुनि पर्वतानामदाभ्या महस्तस्थतुर्र्वतेव साधुना" इति। अर्थाद्ध उपासका:, युष्माकमन्नं रक्षन्तमर्चावतारं स्वसंकल्पेनागत्य प्राप्नुवते महते निरितशयशौर्ययुक्ताय सर्वव्यापकाय नारायणाय तुलसीपुष्पादिप्रदानपुर:सरं स्वभिक्तपूर्वकमर्चत। यद्यिप सायणाचार्येणास्या ऋचो व्याख्यानमन्यथा विहितं, तथापि महर्षिणा शौनकेनास्य मन्त्रस्य वैष्णवार्चाराधन एव विनियोग: प्रतिपाद्यते। मन्त्रतात्पर्यं तु मन्त्रद्रष्टार एव जानन्ति।
- (ख) "प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षिते उरुगायाय वृष्णे" इति, "प्र तिद्वष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः" इति ऋग्द्वयं बिम्बाराधनमेव कटाक्षयति।
- (ग) "अरायि काणे विकटे गिरिं गच्छ सदान्वे। शिरिविठस्य सत्त्वभिस्तेभिष्ट्वा चातयामिस" इति मन्त्रो वेङ्कटाद्रीश्वं स्तौतीति विदुषां विमर्शः। विग्रहाराधनमन्त्रेषु बहुत्र पर्वतिगर्यादीनि पदानि दरीदृश्यन्ते। प्रसिद्धञ्च –

^{1.} पतञ्जलि: महाभाष्ये

^{2.} ऋक्संहिता 1/155/1

^{3.} ऋक्संहिता 1/155/2

^{4.} ऋक्संहिता 1/155/4

^{5.} ऋक्संहिता 10/155/1

गिरिपृष्ठे तु सा तस्मिन् स्थित्वा स्वसितलोचना। विभ्राजमाना शुशुभे प्रतिमेव हिरण्मयी॥ इति

एवं देवालयादिप्रस्तावो वेदेषु नास्तीति युक्तिरेव परास्ता। न केवलं भारतीयैरिप तु पाश्चात्या अपि विग्रहाराधनस्य वैदिकत्वं सूचयन्ति। म्याक्समूलारादिभिरिप मूर्तिपूजनं न प्रतिषेध्यते। वालन्सेनो नाम कश्चिद्विद्वान् देवता नाम "देवो नराः" इति व्युत्पत्तिमिप प्रदर्शयति।

- (घ) "सप्त होत्राणि मनसा वृणाना इन्वन्तो विश्वं प्रतियन्नृतेन। नृपेशसो विदथेषु प्रजाता अभीमं यज्ञं विरचन्त पूर्वी:" इति मन्त्रो मूर्तिपूजां वैदिकीं मनुते। नृपेशस इतिपदव्याख्यानकाले सायणो वदति- "नररूपा: विग्रवत्यो यज्ञद्वाराभि- मानिदेवता:" इति।
- (ङ) "अदो यद्दारु प्लवते सिन्धोः पारे अपौरुषेयम्। तदारभस्व दुर्हणो तेन गच्छ परस्तरम्" इति श्रूयते काचनर्क। विप्रकृष्टदेशे वर्तमानं निर्मात्रा पुरुषेण रहितं दारुमयं पुरुषोत्तमाख्यं देवताशरीरं सिन्धोः समुद्रतीरे जलस्योपिर वर्तत इति सायणव्याख्यानम्। इदं वचनं विग्रहाराधने देवायतने च सुदृढं प्रमाणमावहति।
- (च) "सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः। अनुक्षरिन्त काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव" इति मन्त्रो व्याकरणानुसारं व्याख्यातः पतञ्जलिना। तद्यथा "शोभनामूर्मि सुषिरामिनरन्तः प्रविश्य दहित" इति। यथा सिच्छद्रां लोहमयीं प्रतिमां प्रविश्याग्निः प्रकाशते तथेति दृष्टान्तः। अग्निः तत्रत्यं मलं भस्मीकृत्य प्रतिमां शुद्धां करोति तथा विभक्तयोऽपि शारीरं पापमपाकुर्वन्तीति भावः। एविमयञ्चग्वैदिककाले प्रतिमासत्तां प्रदर्शयति।
- (छ) "कासीत्प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत्परिधिः क आसीत्। छन्दः किमासीत्प्रउगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे" इति दशममण्डलीया ऋगपि प्रमाणम्।

5.2. यजुर्वेदीयं प्रमाणम्

(क) "यतो वीर: कर्मण्य: सुदक्षो युक्तग्रावा जायते देवकाम:। पिशङ्गरूप: सुभरो वयोधा: श्रुष्टी वीरो जायते देवकाम:" इत्यत्र जगद्रक्षणाय विष्णु:

^{1.} महाभारतम् 1/172/27

^{2.} ऋक्संहिता 3/4/5

^{3.} ऋक्संहिता 10/155/3

^{4.} ऋक्संहिता 8/69/12

^{5.} ऋक्संहिता 10/11/3

^{6.} तैत्तिरीयसंहिता 3/1/36

पाद्याद्युपचारैराराधनार्हः इति व्यज्यते। युक्तग्रावा इत्यनेन शैलप्रतिमारूपी च प्रतिपाद्यते। ग्रावग्रहणेन स्वर्णादीनामुपलक्षणमित्युक्तरीत्या यजुर्वेदोऽपि प्रतिमापूजां समर्थयतीति प्रमाणितं भवति।

(ख) "भवा मित्रो न शेव्यो घृतासुति:....." इत्याद्या:, "य: पूर्व्याय वेधसे नवीयसे......" इत्याद्या:, "तमु स्तोतार: पूर्व्यं यथा विद ऋतस्य....." इत्याद्या: तैत्तिरीयब्राह्मणस्था: श्रुतयोऽपि प्रतिमापूजने मानमिति स्मृतिरत्नाकरकार:।

5.3. सामवेदीयं प्रमाणम्

(क) अद्भुतब्राह्मणेऽपि उच्यते- स परं दिवमन्वावर्तते। अथ यदास्यायुक्तानि प्रवर्तन्ते देवतायतनानि कम्पन्ते दैवतप्रतिमा रुदन्ति नृत्यन्ति स्फुटन्ति स्विद्यन्ति उन्मीलन्ति निमीलन्ति च। इत्यादिना देवायतनानि दैवतप्रतिमाः, तच्चेष्टाः च व्याख्यायन्ते। एवं स्फुटं हि विग्रहाराधने सामवेदप्रमाणम्।

5.4. अथर्ववेदीयं प्रमाणम्

(क) "संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे। सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण संसृज" इत्यत्र संवत्सरस्य प्रतिमामिति पदव्याख्यानकाले सायणेनोक्तं – "पिष्टमयीं प्रतिकृतिं कृत्वा उदङ्मुखीमुपवेशयेत्" इति। अनेनापि प्रतिमापूजनं ध्वन्यते।

इतोऽपि बह्व्यः श्रुतयस्तु नितरां वर्तन्ते प्रतिमापूजामाहात्म्यद्योतनाय। परन्तु विस्तरभयात्ता अत्र नोल्लिख्यन्ते।

6. विग्रहाराधनस्य बौद्धकालादर्वाचीनत्वनिरसनम्

क. पाणिनिपतञ्जलिकालाश्रयः

पुनः बुद्धनिर्वाणात्परं प्रतिमापूजनं तत्तत्सम्प्रदायानुसारिभिरेव समारब्धिमिति याशङ्का कृता, सापि निराकृतैव। वस्तुतस्तु मौर्यकाल एव बौद्धधर्मः प्रारब्धः, गुप्तनृपैर्विस्तृतः। पाणिनिकात्यायनपतञ्जलयो मौर्यापेक्षया पूर्वकालीना आसन्। "इवे प्रतिकृतौ" इत्यधिकारे "जीविकार्थे चापण्ये" इति पाणिनीयसूत्रस्य व्याख्याना–

^{1.} ऋग्वेद: 1/156/1

^{2.} ऋग्वेद: 1/156/2

^{3.} ऋग्वेद: 1/156/3

^{4.} आथर्वणसंहिता 3/2/5/3

^{5.} अष्टाध्यायी 5/3/96

^{6.} अष्टाध्यायी 5/3/99

वसरे¹ काशिकावृत्तिकृता वामनजयादित्येन मौर्योल्लेखपूर्वकं देवप्रतिकृतीनां क्रयणं विक्रयणमिप निर्देशितम्। हरिदत्तेन देवलकशब्दस्य प्रयोगो विहित:। देवलका: नाम भिक्षवो ये प्रतिमा: परिगृह्य गृहाद्गृहं भिक्षमाणा अटन्ति। मौर्येहिरण्यार्थिभिरची परिकल्पिता। किञ्च महाभाष्यकारोऽनेकत्र गुप्तमौर्यपुष्यमित्रयवनान् स्मरित। अनेन पाणिने: पतञ्जले: च समये प्रतिमाराधनं प्रतिपन्नमासीत्। एतौ द्वाविप विद्वांसौ बुद्धनिर्वाणसमयाद्बहु पूर्वमास्ताम्। तस्मात्तैरुल्लिखितत्वाद्विग्रहाराधनं बौद्धकालादिप प्राचीनमिति सिद्धम्।

ख. शाकटायनकालाश्रयः

पुनः, व्याकरणपरम्परायामागतः पाणिनियास्ककात्यायनपतलायपेक्षयापि प्राचीनतमः कश्चित् महान् वैयाकरणः शाकटायनः इति पाणिनियास्ककात्ययन-पतव्जलिवचनात् ज्ञायते। "तुल्ये कः संज्ञाप्रतिकृत्योः" इति शाकटायनशब्दानुशासनस्य वृत्तौ उच्यते- "प्रतिकृतिः काष्ठादिमयं प्रतिच्छन्दकम्" इति। अयञ्च शाकटायनो जैन आसीदिति चिन्तामणिटीकायां यक्षवर्मणा प्रोक्तम्। बौद्धधर्मकालापेक्षया प्राचीनो जैनसम्प्रदायः। एतेन प्रतिकृतिरिति शाकटायनवचनेन विग्रहपूजनस्य प्राचीनता सिद्धैव।

ग. यास्ककालाश्रयः

यास्करिचतं निरुक्तं तावत् क्रिस्तजननात् पूर्वं पञ्चमे वर्षशतके स्यादिति पण्डिता अभिप्रयन्ति। तस्माद्बुद्धनिर्वाणसमयो निरुक्तसमयापेक्षया प्राय: आसन्नतर:। निरुक्तं सप्तमेऽध्याये षष्ठे खण्डे सूत्रितं यत् – "अथाकारिचन्तनं देवतानाम्" इति। अनेन निरुक्तवचनेनापि यास्कसमये विग्रहपूजनस्य सत्तानुमन्यते।

घ. ब्राह्मणग्रन्थकालाश्रयः

ब्राह्मणग्रन्थाः प्रायः क्रोष्टपूर्वाष्टमशतकादारभ्य क्रोष्टपूर्वपञ्चमशतक एव विरचिताः। पुनः क्रोष्टपूर्वपञ्चकादारभ्य क्रोष्टपूर्वद्वितीयशतकं यावत् सूत्रप्रस्थानस्य कालः। पुनः क्रोष्टपूर्वद्वितीयशतकादारभ्य क्रीष्टपूर्वप्रथमशतकं यावत् महाकाव्यानां सृष्टिकाल इति विद्वांसो विश्वसन्ति। बहुत्र ब्राह्मणग्रन्थादिषु प्रतिमापूजनस्य विधानं तु श्रुयते एव। यथा षड्विंशब्राह्मणे दैवतप्रतिमारोदनवृत्तान्तः प्रसिद्धः। पुनः

^{1. &}quot;जीविकार्थं यदपण्यं तस्मिन्नभिधेये कनो लुब्भवित। विक्रीयते यत् तत् पण्यम्। वासुदेव: शिव: स्कन्द: विष्णु: आदित्य:। देवलकादीनां जीविकार्था देवप्रतिकृतय उच्यन्ते" (5/3/99 सूत्रस्य काशिकावृत्ति:) इति।

 [&]quot;नाम च धातुजमाह निरुक्तं व्याकरणे शकटस्य च तोकम्" (महाभाष्यम् 3/3/1) इति पतञ्जिल:।

[&]quot;तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायणः" (निरुक्तम् 1/12) इति यास्कः।।

^{3.} अनेकार्थसंग्रह: 7/1/108

आश्वलायनगृह्यसूत्रेऽपि¹ देवताप्रतिमा दृश्यते। अनेनापि प्रमाणेन देवतापूजनस्य बुद्धनिर्वाणकालापेक्षया प्राचीनत्वं सिद्धं भवति।

ङ. नाट्यशास्त्रकारस्य भरतमुनेः समयाश्रयः

भगवता पाणिनिना "पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः" इत्यस्मिन् सूत्रे कस्यिचत् नटसूत्रस्योल्लेखः कृतः। तच्च नटसूत्रं भरतनाट्यशास्त्रमेवेति विदुषामिभप्रायः। अनेन भरतमुनेः पाणिनिप्राचीनत्वमवबुध्यते। प्रायः ख्रीष्टप्राचीनद्वितीयशताब्दी आसीद्धरतस्य कालः। ततः परं बुद्धनिर्माणकालः। एवं नाट्यशास्त्रे तृतीयाध्याये पठ्यमानैः रङ्गनिर्माणदेवताप्रतिष्ठारङ्गपूजनादिविधिभिः प्रतिमापूजनस्य प्राचीनतावगम्यते।

च. चाणक्यकालाश्रयः

अर्थशास्त्रेऽपि³ बहुत्र दैवतप्रतिमाया आनुषङ्गिकं विवरणं प्राप्यते। वस्तुतस्तु चन्द्रगुप्तामात्यस्य चाणक्यस्य समय आसीत् ख्रीष्टपूर्वचतुर्थशतकम्। ततः परं बौद्धधर्मस्य प्रचलनं जातम्। यदि बुद्धकाल एव प्रतिमापूजनस्य विधानं प्रारब्धं तर्हि चाणक्यवचनं परास्तं स्यात्। तस्माद्देवतायतनादिकं प्रतिमापूजनादिकञ्च बुद्धकालादिप प्राचीनतरिमिति प्रमाणितम्।

कल्हणयोगशास्त्रपुराणरामायणमहाभारतादिकालाश्रयेण बहूनि प्रमाणानि सन्त्यर्चा-वतारस्य बुद्धकालात् प्राचीनत्वप्रदर्शनाय। विस्तरभयात्तानि प्रमाणान्यत्र नोल्लिख्यन्ते। अन्तिमे वास्त्यचक्रवर्तिकृष्णसूरिविरचितेऽर्चावतारवैभवे ग्रन्थकृतोक्तं श्लोकं स्मराम:-

"विग्रहाराधनं बौद्धोपज्ञमित्यज्ञभाषितम्। निरस्य बहुधा तस्य श्रौतभावः समर्थितः॥⁴ इति

7. उपसंहारः

एवं भगवतो विष्णोः परव्यूहविभवान्तर्यामिभेदविशेषं प्रतिपाद्यार्चावतारतत्स्वरूपं नानाविधप्रमाणपुरःसरं प्रतिमापूजनस्य वैदिकत्वप्रदर्शनं बौद्धनिर्वाणापेक्षयार्वाचीनत्व-निरसनञ्च विहितम्। "सर्वोपिर केशवाराधनं हित्वा नैव याति परां गितम्" इति महाभारतवचनात् मोक्षमार्गे विष्णोरर्चावताराराधनस्य प्रयोजनीयता च सुतरां दृश्यत

^{1. &}quot;स सर्वा दिशोऽन्तावर्तते। अथ यदास्यायुक्तानि यानि प्रवर्तन्ते। देवतायतनानि कम्पन्ति देवताप्रतिमा हसन्ति गायन्ति...." इति।

^{2.} अष्टाध्यायी 4/3/110

धर्मस्थीये- "ग्रामदेववृषा वा अनिर्दशाहा वा धेनुरुक्षाणो गौवृषाश्चादण्डा: इत्यत्र देववृषा नाम देवोद्देशेन देवालयविसृष्टा वृषा" इति ज्ञायते।

^{4.} कृष्णसूरिविरचितम् अर्चावतारवैभवम् (विग्रहाराधनवैदिकत्वस्थापनाख्ये प्रथमपरिच्छेदे अन्तिमः श्लोकः)।

एव। न केवलमर्चावतारपूजनेन परमा गितः प्राप्यते, अपि तु तत्तदर्चावतारस्थान– माहात्म्यज्ञानेन गौरवान्विता श्रद्धाबहुला भारतीयसंस्कृतिराध्यात्मिकपरम्परा च संरक्षिता स्यात्। अन्तिमे पुराणवचनं च स्मर्यते–

> आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः। इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा॥ इति

आश्रितग्रन्थसूची

- द्विवेदी, आचार्य: शिवप्रसाद: (व्याख्याता)। (2009)। यतीन्द्रमतदीपिका (हिन्द्यनुवादेन भावप्रकाशिकया च समन्विता)। चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला 160। वाराणसी। चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन।
- 2. शास्त्री, देवर्षि कालानाथ (सम्पादकः)। (2003)। विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तः (सूत्रकारिकात्मकः श्रीविश्वनाथशास्तिदातारकृतभाष्यसिहतः)। रेवासा। श्रीजानकीनाथ बडा मन्दिर ट्रस्ट।
- 3. शर्मा, डाँ. उमाशङ्कर (भाष्यकार:)। (2019)। सर्वदर्शनसंग्रह: (विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला 113)। वाराणसी। चौखम्बा विद्याभवन।
- 4. Annangaracharyar, Sri Kanchi P.B. (सम्पादक:)। (1940)। श्रीवेदान्तदेशिकग्रन्थमाला। कञ्जीभरम्। माद्रास लिवर्टी मुद्रणालय:।
- 5. उपाध्याय, श्री बलदेव (सम्पादक)। (1996)। संस्कृत वाङ्मय का बृहत् इतिहास (दशम खण्ड, वेदान्तः)। उत्तरप्रदेशसंस्कृतसंस्थानम्।
- 6. तर्करतः, आचार्यः पञ्चाननः (सम्पादकः)। (१३९० बङ्गाब्दः)। विष्णुपुराणम्। कोलकाता। नवभारत पावलिशर्स।
- 7. घोष:, श्री राजेन्द्रनाथ (सम्पादक:)। (1332 बङ्गाब्द:)। वेदान्त दर्शनेर इतिहास – प्रथम, द्वितीय, तृतीय भाग। वरिशाल। शङ्करमठ।
- 8. Nakamura, Hajime. (2004) History of Early Vedanta Philosophy (in two parts). Delhi: Motilal Banarasidas.
- 9. कृष्णमाचार्यः, गयंपे्ट्टै। (1921)। अर्चावतारवैभवम्। कुम्भकोणम्। श्रीकृष्णविलास मुद्रालयः।

+++

^{1.} लिङ्गपुराणम् (उत्तरभागः 7/11)

उपदेशसाहर्स्यनुसारम् अद्वैतेतरवादीनां मतपरीक्षणं स्वमतस्थापनञ्च

-कार्त्तिकरुइदासः *

ISSN: 0975-1769

सारसंक्षेप:

इयम् उपदेशसाहस्री श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्यकृतप्रकरणग्रन्थ एव। सर्वोप-निषदर्थसारसंग्राहिका वेदान्ततत्त्ववेदिका गद्यपद्यात्मिका हीयमुपदेशसाहस्त्री। अस्य कर्तुः श्रीमच्छद्भरभगवत्पादाचार्यस्य समयः तावत् नवमशतकमिति सर्वैः अङ्गिक्रियते। परन्तु तच्छामयिकभारतवर्षे वेदान्तदर्शनं मलीनं जातम्। तत्कालीने तु तार्किकप्रधानानाम् इतरदर्शनानां प्राधान्यं दृश्यते। तार्किकप्रधानेन इतरदर्शनेन श्रुत्या प्रतिपादितस्य वेदान्तदर्शनस्य खण्डनं कृत्वा तं लुप्तप्रायम् कृतम्। तदा आचार्येण श्रीमच्छङ्करभगवत्पादेन श्रुत्या प्रतिपादितं वेदसारात्मकं लुप्तप्रायं वेदान्तदर्शनं पुनः उद्धर्तुम् अवतारितः। तच्छमये पूर्वपक्षभूतानां तार्किकप्रधानानाम् इतरदार्शनिकानां मतं परीक्ष्य खण्डितं, तदेव क्रम: अत्रापि नियोजित: आचार्येण श्रीमच्छङ्करभगवत्पादेन। अत्र प्रायेण सर्वेषां तार्किकप्रधानानां मतं खण्डितम्। तत्र क्रमेण चार्वाकादीनां मतानि आगच्छन्ति पूर्वपक्षरूपेण एतेषां सर्वेषामिप मतं परीक्ष्य खण्डियत्वा च स्वमतं स्थापयन्ति। तदेव पूर्वपक्षविचारपुर:सरं स्वमतस्थापनप्रकार आलोच्यते अस्मिन् शोधपत्रे। एवम् अत्र प्रश्न: स्यात् यद् इतरवादीनां मतनिराकरणस्य किं प्रयोजनिमति। केवलं स्वसिद्धान्त-स्थापनेन अपि अद्वैतसिद्धिः भवति खलु। तत्र इतरवादीनां मतनिराकरणे वृथा परिश्रम: कृत: इति चेदत्र एवं वक्तुं शक्यते यत् वस्तुसिद्धि: न केवलेन स्वमतस्थापनेन सम्भवति। यतोहि इतरवादीनां द्वैतिप्रभृतीनां मतं न निराक्रियते चेत् एकस्मिन्नेव वस्तुनि द्वैतं अद्वैतञ्च उभयमपि आपति। परन्तु तन्न सम्भवति, कारणं 'निह प्रतिज्ञामात्रेण वस्तुसिद्धिः, अपि तु लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः' इति श्रुयते। अतः न केवलेन प्रतिज्ञामात्रेण स्वमतस्थापनेन च वस्तु: सिद्ध्यित किञ्च वस्तुसिद्ध्यर्थं लक्षणप्रमाणानाम् अपि अपेक्षा वर्तते। तस्मादेव शास्त्रकारा: इतरवादीनां मतं खण्डियत्वा स्वमतं स्थापयन्ति। किञ्च अनेन प्रकारेण स्वमतस्य दार्ढ्यम् अपि स्यात्। तस्मात्

^{*} शोधच्छात्र:, संस्कृताध्ययनविभाग:, वॉकुडाविश्वविद्यालय:।

आचार्येण अस्मिन् प्रकरणग्रन्थे पूर्वपक्षत्वेन इतरदार्शनिकानां मतं खण्डितम्। शोधपत्रे ऽस्मिन् मया इतरवादीनां चार्वाकादीनां मतमर्दनात्मकं स्वमतस्थापनात्मकञ्च कार्यं स्वीकृतम्, तत्र कारणं भवित प्रायः सर्वेऽिप विद्वांसः स्वमतमण्डनात्मके भागे बलं ददाित। परन्तु केवलेन स्वमतस्थापनेनैव वस्तुसिद्धिः इति तु वक्तुं न शक्यते। अद्वैतवेदान्ते तु एकमेव वस्तुः, तस्य लक्षणं तु बहुत्र श्रुत्या प्रतिपादितम्। परन्तु केवलेन श्रुत्या प्रतिपादितेन लक्षणेन वस्तुसिद्धिः इति न सम्भवित। तत्र युक्तचादिना प्रमाणेन च विचारितं भवित, तत्र विचारार्थ इतरवादीनां मतखण्डनमिप आवश्यकमेव तदर्थं शोधकार्यमिदम् आरभ्यते। किञ्च अत्र न केवलं पूर्वपक्षखण्डनं दृश्यते अपि तु सिद्धान्तपक्षमिप वदित अन्ते। एवम् अद्वैतवादस्थापनद्वारा आत्मनः सत्यत्वं किञ्च जगतः मिथ्यात्वं समर्थितम्।

कुञ्चिकाशब्दाः

चार्वाकमतम्, स्थूलशरीरात्मेति लोकायतमतम्, इन्द्रियात्मेति चार्वाकमतम्, प्राणात्मेति चार्वाकमतम्, जैनमतम्, बौद्धमतम्, विज्ञानवादः, शून्यवादः, प्रकृतिकारणवादः, न्यायवैशेषिकमतम्।

भूमिका

वेदवेदाङ्गाद्यष्टादशविद्यासु दर्शनं भवति सर्वोत्तमं श्रेष्ठञ्च। तत्र मीमांसादि-सर्वाण्यपि शास्त्राणि जनानां सन्मार्गदर्शनार्थमेव प्रवृत्तानि। तदन् पूर्वउत्तरमीमांसाशास्त्रमपि अध्यात्मवादिवचारद्वारा लोकानां सन्मार्गप्रदर्शनार्थमेव प्रवृत्तम्। तत्र उत्तरमीमांसा वेदान्त इत्यभिधेय:। भारतीयाध्यात्मिकसाहित्यस्य चरमो विकास: भवति वेदान्तदर्शनम्। वेदस्य अन्तिमभागः ब्रह्मविद्याप्रतिपादनपरकः सर्वदर्शनमूर्धन्यभूतः वेदान्तदर्शनम् इति प्रसिद्धिः। वेदस्य अन्तिमभागे उपनिषदि अध्यात्मवादस्य विकासो भवति। उपनिषद् यद्यपि मूलरूपेण वेदान्त इत्युच्यते तथापि उपनिषदाधारेण धार्मिकपरम्परायाः तथा दार्शनिकपरम्पराया: य: विस्तार: भवति, स एव वेदान्त:। ब्रह्मसूत्रदर्शनमेव वेदान्तः इति परम्परा भगवांश्चन्द्रार्धशेखरावतारेण श्रीमच्छद्भरभगवत्पादेन स्थापितः, यद्यपि भगवतः प्रागेव सर्वदर्शनोत्तमस्य वेदान्तस्य भेदाः सञ्जाताः। तेषु अपि भारतीयदर्शनसमवाये मुकुटमणिपदवीमुपगच्छति भगवत्पादादिशङ्कराचार्याभिमतः ब्रह्माद्वैतसिद्धान्तो। अस्मिन् बहव: आचार्या: तेषां कृतय: ग्रथितवन्त:। अयम् अद्वैतसिद्धान्तः प्राधान्येन श्रुत्यादिप्रस्थानत्रयमाधारिकृत्य प्रतिष्ठितः। तत्र श्रुतिप्रस्थानत्वेन उपनिषत् गृह्यते, किञ्च स्मृतिप्रस्थानत्वेन श्रीमद्भगवद्गीता गृह्यते, अपि च न्यायप्रस्थानत्वेन शारीरकमीमांसासूत्रं स्वीक्रियते। यद्यपि अद्वैतवेदान्तस्य विकास: प्रस्थानत्रय्येति व्यपदिश्यते तथापि तस्य विकास: न केवलं प्रस्थानत्रय्या परन्त्

प्रस्थानत्रयीबहिर्भृतै: खण्डनमण्डनपरै: वादप्रधानै: च ग्रन्थै:, अद्वैतानन्दानुभृताचार्यै: उपरचितै: अनुभवप्रधानभावाविष्करणात्मकै: आत्मविद्याविलासपञ्चदश्यादिप्रकरणग्रन्थै: अद्वैतसिद्धान्तप्रतिपादकै: ब्रह्मनैर्गुण्यवादविद्वन्मोदतरङ्गिणीप्रभृतिभि: काव्यै: योग-वासिष्टादिभि: महाकाव्यै: च सुतराम् अद्वैतसाहित्यं विकसितमिति तु नापरोक्षम्। तथैव इयम् उपदेशसाहस्त्री श्रीमच्छद्भरभगवत्पादाचार्यकृतप्रकरणग्रन्थरेव। अस्मिन् आचार्येण अद्वैतशास्त्रस्य सार: संगृहीतम् श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्यस्य समय: तावत् नवमशतकमिति सर्वै: अङ्गीक्रियते। परन्तु तच्छामयिक-भारतवर्षे वेदान्तदर्शनं मिलनं जातम्। तत्कालीने तु तार्किकप्रधानानाम् इतरदर्शनानां प्राधान्यं दृश्यते। तार्किकप्रधानेन इतरदर्शनेन श्रुत्याप्रतिपादितस्य वेदान्तदर्शनस्य खण्डनं कृत्वा तं लुप्तप्रायम् कृतम्। तदा आचार्येण श्रीमच्छङ्करभगवत्पादेन श्रुत्या प्रतिपादितं वेदसारात्मकं लुप्तप्रायं वेदान्तदर्शनं पुन: उद्धर्तुम् अवतारित:। तच्छमये पूर्वपक्षभूतानां तार्किकप्रधानानाम् इतरदार्शनिकानां मतं परीक्ष्य खण्डितं. तदेव क्रम: अत्रापि नियोजित: आचार्येण श्रीमच्छङ्करभगवत्पादेन। अत्र प्रायेण सर्वेषां तार्किकप्रधानानां मतं खण्डितम्। तत्र क्रमेण चार्वाकानां भौतिकवाद:, जैनानां स्याद्वाद:, नैयायिकानां कार्यकारणवाद: सत्कार्यवाद: वा, वैशेषिकानां परमाणुकारणवाद:, सांख्यानां प्रधानकारणवाद:, पूर्वमीमांसकानां कर्मवाद:, तथा द्वैतवाद: आगच्छति पूर्वपक्षरूपेण। एतेषां सर्वेषामिप मतं परीक्ष्य खण्डियत्वा च स्वमतं स्थापयन्ति। तदेव पूर्वपक्षविचारप्रःसरं स्वमतस्थापनप्रकार: आलोच्यते अस्मिन् शोधपत्रे। तत्रादौ चार्वाकमतं विचार्यते।

चार्वाकमतम्

भक्षणार्थक चर धातोः चार्वाकशब्दोऽयं निष्पद्यते इति केचन विद्वांसः मन्यन्ते। अतः दर्शनिमदं भोगवादी इत्यपि कथ्यते। तस्मात् ते भोगे एव विश्वसन्ति। केचन तु चार्वाक्शब्दस्य चारु वाक् इत्यर्थः क्रियते। एवं सम्प्रदायद्वयं प्राप्यते। तत्रापि केचन भोगसाधनत्वेन शरीरम् अङ्गीकुर्वन्ति। ते स्थूलशरीरात्मवादीति कथ्यन्ते। किञ्च केचन भोगसाधनत्वेन इन्द्रियम् आश्रयन्ति, ते इन्द्रियात्मवादीति कथ्यन्ते। एवं केचन प्राणात्मवादी, पुनः केचन मनात्मवादी इत्येते सिद्धान्तभेदाः दृश्यन्ते। एतेषां वेदे विश्वासस्य लेशमात्रमपि नास्ति। तस्मात् एते वेदविरोधिनः सञ्जाताः। प्राचीनवैदिकसिद्धान्तं अन्यरूपेण व्याख्याताः, अतः एतेषां मतखण्डनार्थं प्राचीन वैदिकसिद्धान्तं च दृढीकरणार्थं आचार्यः प्रवृत्तः। अधुना शाङ्करमतमाश्रित्य स्थूल-शरीरात्मवादीनां मतं विचार्यते।

स्थुलशरीरात्मेति लोकायतमतम्

स्थूलशरीरम् आत्मत्वेन पश्यन्ति ये चार्वाकाः ते स्थूलशरीरात्मवादिन इति

कथ्यन्ते। ते स्थूलशरीरं भोगसाधनत्वेन कल्पयन्ति। अतः ते शरीरव्यतिरिक्त आत्मा अस्ति इति नैव स्वीक्रियन्ते। स्वीक्रियते चेदिप तमात्मानं नित्यं न मन्यन्ते। अर्थात् शरीरनाशे तस्यापि नाशः इत्येव ते स्वीकुर्वन्ति। अतः तेषां सिद्धान्तः स्थूलशरीरमात्मेति। तत्र ते "स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय" इत्यादि श्रुतिवाक्यम् आधारिकृत्य किञ्च "स्थूलोऽहम्", "कृशोऽहम्" इत्यादि अनुभवमाश्रित्य स्थूलशरीरमात्मेति सिद्धान्तं स्थापयन्ति। मतिमदम् आचार्येण श्रीमच्छङ्करभगवत्पादेन उपदेशसाहस्यां पार्थिवप्रकरणस्य आदौ एव खण्डितम्। तद्यथा–

'पार्थिवः कठिनो धातुर्द्रवो देहे स्मृतोऽम्मयः। पक्तिचेष्टावकाशाः स्युर्विह्नवाय्वम्बरोद्भवाः॥'² इति

अस्य श्लोकस्य सामान्यार्थः भवित स्थूलदेहे यः मांसादिरूपकितो धातुः सः पार्थिवः, िकञ्च यः द्रवोधातुः सः अम्मयः, अपि च पिक्तचेष्टावकाशाः ये सिन्ति ते क्रमेण विह्वर्वाय्वम्बरोद्भवाः इत्युच्यन्तेविवेकिभः। अर्थात्अस्मिन्स्थूलदेहे यः मांसादिरूपकितो धातुः प्राप्यते सः पृथिव्याः विकाररूपः पार्थिवः इत्युच्यते। िकञ्च यः द्रवोधातुः रुधिरादिरूपः सः अम्मयः अपांपरिणामः इतिसर्वैः स्वीक्रियन्ते। अपि च पिक्तचेष्टावकाशाः विह्वर्वाय्वम्बरोद्भवा इत्यत्र पिक्त नाम पाकः, चेष्टा स्पन्दनम्, अवकाशः अन्नपानमनसां सञ्चारमार्गः, एते क्रमेण विह्वर्वय्वम्बरोद्भवाः। पञ्चभूतपरिणामात्मकं शरीरम्, अतः न आत्मा इति विवेकः। तदुक्तं रामतीर्थाचार्येण-

'यः स्थूलदेहे कठिनो धातुर्मासादिरूपः स पार्थिवः पृथिव्यंशः पृथिवी-परिणामात्मकः स्मृतो ज्ञातो विद्वद्भिरित्यर्थः। एवं द्रवोऽम्मयोऽपां परिणामः। पित्तः पाकश्चेष्टा स्पन्दनमवकाशोऽन्नपानमनसां संचारमार्गा देहगतसुषयो ये स्युः एते क्रमेण विह्ववाय्वम्बरोद्भवा देहानुगतवह्न्याद्यंशकार्यभूताः स्मृताइत्यक्षरार्थः। देहो नात्मा भूतपरिणामत्वाद्वल्मीकादिवदिति भावः' इति। अर्थात् चैतन्यं स्वयथार्थरूपं परित्यज्य जगद्रूपेण प्रतीयते। अतः चैतन्यस्य जगद्रूपत्वं न पारमार्थिकं, तत्तुभ्रममेव। किञ्च तत्रत्याः विषयाः अपि भ्रमात्मकाः एव, पञ्चभूतान्यिप भ्रमात्मकानि। अतः तस्माज्जायमानं शरीरमिप भ्रममेव। परन्तु आत्मा न भ्रमात्मकः, अतः स्थूलशरीरं न आत्मा। तत्तु भूतानां परिणामः एव। यदि पूर्वपक्षिणां मतमेव स्वीक्रियते तिर्हं मरणानन्तरमिप स्थूलदेहे चैतन्यगतगुणाः स्युः। परन्तु देहाभावे अर्थात् देहे चैतन्यस्य सत्ताभावे तद्धर्माः न तिष्ठन्ति। अतः स्थूलशरीरं न आत्मा, अपि च आत्मव्यतिरिक्तमेव। एवं स्थूलशरीरमात्मेति ये वदन्ति, तेषां स्थूलशरीरात्मवादीनां मतं निराकृतम्।

^{1.} तै. उप.- 2/1

^{2.} उ. सा.- 1/16/1

^{3.} उ. सा.(पद.)- 1/16/1

एवं बहुत्र आचार्येण स्थुलशरीरात्मवादीनां मतं खण्डितम्। तत्र ऐकात्म्याधिकरणे "आत्मा देह: तदन्य: वा" इति संशयस्य समाधानं दत्तम् आचार्येण। तत्र स्थुलशरीरात्मवादिन: "देह एव आत्मा" इति मन्यन्ते। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां चैतन्यस्य देहे एव उपलम्भात्, सित हि देहे चैतन्यम् उपलभ्यते, न तु असित। न च चैतन्यस्य जात्यन्तरतया देहव्यतिरिक्तात्मत्वं शङ्कनीयम्, क्रमुकनागवल्लीचूर्णानां संयोगात् मदशक्तिवत् भूतमेलनजं चैतन्यं देहे उपलभ्यते, न अन्यत्र। अतः भूतेभ्य जायमानं चैतन्यं कथं नामजात्यन्तरं स्यात्। ततः वपः आत्मा इति प्रतिपादयन्ति ते। तत्र आचार्येण श्रीमच्छद्भरभगवत्पादेन मतिमदं खिण्डतम्- "यद् विषयि, तत्तत् विषयात् व्यतिरिक्तं, यथा रूपाच्चक्षुः। अतः विषयित्वतः पृथिव्यादिभूतोपलब्धिः भूतेभ्यः विभिन्ना भवितुम् अर्हति। सा उपलब्धिः एव आत्मा। तथा च सति "सत्येव देहे चैतन्यम् उपलभ्यते" न असित इति यौ अन्वयव्यतिरेकौ, अत्र व्यतिरेक:; असित अपि देहे परलोकगामिन: चिदात्मन: शास्त्रेण उपलम्भात्। शास्त्रस्य च प्रामाण्यम् समर्थनीयम्, अनादित्वे सित अतीन्द्रियतत्वादेकत्वात्, अतीन्द्रियदर्शिभि: च ऋषिभि: लोकहितचिकीर्षुभिः भूयशः परीक्षितत्वात्। सति अपि च मृते देहे चैतन्यानुपलब्धेः अन्वयश्च असिद्धः। अतः भौतिकात् देहात् अन्यः असौ आत्मा परलोकभाक् अस्ति। एवं रूपेण पूर्वपक्षिणां चार्वाकानां देहात्मवादीनां वपुरेव आत्मेति सिद्धान्तं श्रुत्या उक्त्या प्रमाणेन च खण्डियत्वा देहव्यितरेक आत्मा इति स्थापितम्। तदुक्तम्-

'यदि देहभावेऽभावाद् देहधर्मत्वमात्मधर्माणां मन्येत। ततो देहभावेऽप्यभावादतद्धर्मत्वमेवैषां किं न मन्येत॥' इति।

एवं स्थूलशरीरात्मवादीनां चार्वाकानां मतं खण्डियत्वा अधुना इन्द्रियात्मवादीनां मतं विचारयति–

इन्द्रियात्मेति चार्वाकमतम्

इन्द्रियम् आत्मत्वेन पश्यन्ति ये चार्वाकाः ते इन्द्रियात्मवादिनः इति कथ्यन्ते। तैः इन्द्रियातिरिक्त आत्मा अस्ति इति नैव स्वीक्रियते। स्वीक्रियते चेदिप तमात्मानं नित्यं न मन्यन्ते। अर्थात् इन्द्रियनाशे तस्यापि नाशः इत्येवैतैः स्वीक्रियते। अतः तेषां सिद्धान्तः इन्द्रियम् आत्मेति। इन्द्रियात्मवादीनः स्थूलशरीरित्मवादीनां सिद्धान्तम् अतिक्रम्य गच्छति। अर्थात् तेभ्यः स्थूलशरीरात्मवादेभ्यः अपि परं भवति इन्द्रियात्मवादः, यद्यपि सिद्धान्तदृष्ट्या तदिप सम्यक् न, तथापि स्थूलशरीरात्मवादेभ्यः सूक्ष्मं भवति इन्द्रियात्मवादमिदम्। तत्र कठोपनिषदि भाष्यकारेण एवम्कम्– 'स्थूलान्यारभ्य

^{1.} ब्र.सू.शा.भा

^{2.} ब्र.सू.शा.भा. 3/3/54

सूक्ष्मतारतम्यक्रमेण अधिगमः कर्तव्यः' इति। अर्थात् स्थूलात् सूक्ष्मं प्रतिगन्तव्यम् इत्येव भाष्यकारस्य आशयः। तदत्रापि दृश्यते स्थूलशरीरमात्मेति मन्यमानानां स्थूलशरीरात्मवादीनां मतम् अतिक्रम्य, तेभ्यः सूक्ष्मं इन्द्रियमात्मेति मन्यन्ते केचित्। तत्र ते 'ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरं एत्योचुः' इत्यादि श्रुतिवाक्यम् आधारीकृत्य, किञ्च इन्द्रियाणाम् अभावे शरीरचालनाभावात्, काणोऽहम्, विधरोऽहम्, इत्याद्यनुभवाच्च इन्द्रियाणि आत्मेति वदति। परन्तु इन्द्रियमात्मेति मतिमदमि सम्यक् नेति प्रतिपादयित आचार्येण श्रीमच्छङ्करभगवत्पादेन उपदेशसाहर्स्याम् पार्थिवप्रकरणे–

म्राणादीनि तदर्थाश्च पृथिव्यादिगुणाः क्रमात्। रूपालोकविद्यं हि सजातीयार्थमिन्द्रियम्॥ इति।

अस्य श्लोकस्य सामान्यार्थ: भवति घ्राणादीनि इन्द्रियाणि किञ्च तेषां विषय: गन्धादि: पृथिव्यादीनां भूतानाम् गुणा:, यतोहि रूपप्रकाशयो: सजातीय: भवति विषय: इन्द्रियञ्च इति। एवं इन्द्रियाणां भौतिकत्वे सिद्धे देहवदेषामिप अनात्मत्वम् इति भावः। श्लोकोऽयम् एवं व्याख्यातः पदयोजनिकाकारेण श्रीरामतीर्थाचार्येण- 'घ्राणादीनीति। घ्राणादीनीन्द्रियाणि तदर्थास्तेषां विषया: गन्धादयश्च क्रमात्पृथिव्यादीनां गुणाः कार्याणीत्यर्थः। गन्धरसरूपस्पर्शशब्दास्तावत्पृथिव्यप्ते-जोवाय्वाकाशानां क्रमेण धर्माः प्रसिद्धास्तेषां घ्राणाद्येकैकेन्द्रियग्राह्यतान्वयव्यतिरेकसिद्धा। तथाच यदिन्द्रियं यस्य धर्मं ग्राहयति तदिन्द्रियं तस्य सजातीयं भवितमर्हति। यथा तैजसस्य रूपस्य प्रकाशको दीपादिस्तैजसो दुष्टस्तथेन्द्रियाण्यपि भौतिकानां प्रकाशक-त्वाद्भौतिकान्ये वेत्यनुमानमाह-रूपा लोकविदिति। एविमिन्द्रियाणां भौतिकत्वे सिद्धे देहवदेषामप्यनात्मत्विमिति 4 इति। एवम् इन्द्रियाणां भूतप्रपञ्चेन सह सजातीयत्वं साधियत्वा भूतप्रपञ्चवद् एतेषामपि अनात्मत्वं साधितम् आचार्येण श्रीरामतीर्थाचार्येण। परन्तु साहस्रीविवृतिकार: श्रीभगवदानन्दज्ञानाचार्य: अनुमानप्रमाणेन भौतिकत्वान्-मानप्रमाणेन घटादिवद् अनात्मत्वम् इन्द्रियाणाम् इत्यर्थः प्रतिपादितवान्। तत्र आचार्येण आदौ इन्द्रियाणाम् भौतिकत्वं साधितम् अनुमानेन ततः भौतिकानाम् यथा अनात्मत्वं साधितं तथा इन्द्रियाणाम् इति साधयति। तद्यथा-

'घ्राणं रूपादिषु गन्धस्यैव व्यञ्चकत्वात् हिङ्गुवत्। एवं रसनमप्याप्यं रसादिषु रसस्यैव व्यञ्जकत्वात् आस्योदकवत्। चक्षुस्तैजसं रूपादिषु रूपस्यैव व्यञ्जकत्वाद्

^{1.} कठ. उप. शा. भा.

^{2.} छा. उप.- 5/1/7

^{3.} उ. सा.- 1/16/2

^{4.} उ. सा. (पद.)- 1/16/2

दीपवत्। त्वग्वायवीया स्पर्शादिषु स्पर्शस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात्, व्यजनवायुवत्। श्रोत्रमाकाशीयं शब्दादिषु शब्दस्यैव व्यञ्जकत्वाद् वेणुविवरवद् इति भौतिकत्वानुमानाद् घटादिवदनात्मत्विमिन्द्रयाणामित्यर्थः। यथा तैजसस्य रूपस्य प्रकाशको दीपादिस्तैजसो दृष्टस्तथा यदिन्द्रियं यञ्जातीयमर्थं प्रकाशयित तत्तञ्जातीयं भवितुमर्हतीत्युक्त-मनुमानजातिमिति' इति। एवम् आदौ इन्द्रियादीनाम् भौतिकत्वं निरू0प्य ततः तेषाम् अनात्मत्वं प्रतिपाद्यते। एवम् इन्द्रियात्मवादीनां मतं निराकृत्य अधुना मन-आत्मवादीनां मतं विचार्यते।

मन-आत्मेति चार्वाकमतम्

मन एव आत्मा इति केचन वदन्ति ते मनात्मवादिनः। ते इतरचार्वाकानां प्राणात्मवादीनां मतम् अतीत्य गच्छन्ति। तेषां मते प्राणाधीनं मनः इति वक्तुं न शक्यते। प्राणस्य प्रवृत्तिरेव मन-अधीनं भवित। कारणं प्राणः जड, तदधीनं चेतनं मनः न भवितुम् अर्हति। किञ्च यदि प्राण आत्मा स्यात् तर्हि अपानादयः अपि आत्मा भविष्यति। तेन अनेक-आत्माधीष्ठानत्वात् अस्य शरीरस्य ध्वंसः भविष्यति। परन्तु एकैव मन इति कारणात्, तेन प्राणादीनां नियन्तृ भवितुमर्हति। एतदेव कारणात् मन आत्मा इति। तत्र ते "अन्यः अन्तर आत्मा मनोमयः" इत्यादि श्रुतिवाक्यमाश्रित्य, मनिस सुप्ते प्राणादेः अभावात्, अहं संकल्पवान्, अहं विकल्पवान् इत्याद्यनुभवाच्च मन आत्मा इति वदित। अत्र आचार्येण पुनः मन न आत्मा इत्येव प्रतिपाद्यते। तत्रोक्तम्-

बुद्ध्यर्थान्याहुरेतानि वाक्याण्यादीनि कर्मणे। तद्विकल्पार्थमन्तस्थं मन एकादशं भवेत्॥³ इति

अस्य श्लोकस्य सामान्यार्थः क्रियते घ्राणादीनि ज्ञानकरकरणानि इत्याहुः। अर्थात् घ्राणेन्द्रयं, जिह्वा, चक्षुः, त्वक्, श्रोत्रेन्द्रियं चेति पञ्चेन्द्रियाणि ज्ञानकरणानि इत्युच्यन्ते। किञ्च वाक्पाण्यादीनि कर्मार्थानि कर्मेन्द्रियाणि इत्युच्यन्ते। एतेषां दशानामिन्द्रियाणां विकल्पार्थं आभ्यन्तरम् एकादशं मन इति अङ्गिकार्यम्। न क्रियते चेत् आत्मनः युगपदनेकेन्द्रियविषयसंप्रयोगे सित युगपदेवानेकज्ञानानि जायेरन्। न च एवं दृश्यते। अतः अस्य मनसः करणत्वं सिद्ध्यित। एवं मनसः करणत्वं प्रतिपाद्य तस्यापि अनात्मत्वं प्रतिपादितम् इन्द्रियवदिति। अर्थात् इन्द्रियाणां यथा अनात्मत्वं तथा मनसः अपि। किञ्च मुण्डकोपनिषदि अपि उक्तम्-'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः भ

उ. सा. (साहस्रीविवृति:) - 1/16/2

^{2.} तै. उप.- 2/3/1

^{3.} उ. सा.- 1/16/3

^{4.} मु. उप.- 2/1/2

इति। एवं मन आदीनाम् आत्मत्वं निराकृत्य अधुना प्राणम् आत्मत्वेन ये पश्यन्ति तेषां प्राणात्मवादीनां मतं विचार्यते-

प्राणात्मेतिचार्वाकमतम्

प्राण आत्मा इति वदित प्राणात्मवादी चार्वाकः। तेषां मते प्राणाधीनम् इन्द्रियं न आत्मा, प्राण एव आत्मा। यतोहि प्राणाभावे इन्द्रियाणां कार्यं न दृश्यते। अतः प्राण एव आत्मा इति। तत्र चैतन्यसंयोगेनैव इन्द्रियाणि कार्यं कुर्वन्ति, संयोगाभावे न कुर्वन्ति इति अन्वयव्यितिरेकेन अवगम्यते इन्द्रियाणि करणानि न आत्मा इति। किञ्च एतेषां कतृत्वेन अभिहितत्वात् प्राण एव आत्मा। तत्र ते 'अन्यः अन्तर आत्मा प्राणमयः' इत्यादि श्रुतिम् आश्रित्य किञ्च प्राणाभावे इन्द्रियचलनायोगात्, अहमशनायावान्, अहं पिपासावान् इत्याद्यनुभवात् च, प्राण एव आत्मा इति वदित।

परन्तु अद्वैतवेदान्तसिद्धान्तानुसारं चार्वाकानां प्राणात्मवादः न समीचीनम्। तत्रोक्तम् मुण्डके- 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः....' इति। एवं स्थूलशरीरात्मेत्यादिनां भौतिकवादीनां चार्वाकानां मतं खण्डियत्वा अधुना जैनानां मतं विचार्यते।

जैनमतम्

जैनदर्शनं भारतीयदर्शनेषु अन्यतमं वर्तते। चार्वाकविचारधाराया: अनन्तरं नास्तिकदर्शनेषु जैनदर्शनस्य महत्त्वपूर्णं स्थानमस्ति। चार्वाकमतस्य स्थूलतत्त्वानां चिन्तनस्य अपेक्षया सूक्ष्मचिन्तनं प्रति चिन्तनस्य प्रावाहिकता जैनदर्शने दृश्यते। यत्र चार्वाक: शरीरमेवात्मानं स्वीकरोति तत्र जैनदर्शनेन आत्मा इति शरीरातिरिक्तम् अभौतिकं तत्त्वं स्वीकृतम्। तच्च शरीरपरिमाणं मध्यमपरिमाणं वाऽभिमतम्।

वैदिकदर्शने प्रायेणेदं प्रतिपादितमस्ति यदात्मा अणुपरिमाणो महत्परिमाणो वाऽस्ति- 'अणोरणीयान् महतो महीयानिति' इति। अणुपरिमाणस्य महत्परिमाणस्य वा नित्यत्वात् आत्मा नित्योऽस्ति इति वैदिकाः मन्यन्ते। तन्मतानुसारेण मध्यमपरिमाणात्मकाः पदार्था अनित्याः सन्ति। जैनदर्शने मध्यमपरिमाणः आत्मा नित्योऽस्ति। स भौतिकपदार्थवत् अनित्योऽस्ति। दार्शनिकविचारस्य क्रमेण अनयोरुभयोः दर्शनयोः पौर्वापर्यं स्पष्टरूपेण दृश्यते। ऐतिहासिकेन साक्ष्येण इदं सिद्ध्यति यत् चार्वाकस्य पश्चात् जैनदर्शनस्य विकासक्रमः समायाति। अस्यापि गणना नास्तिकदर्शनेषु विहिता, यतो हि अत्र वेदानां प्रामाण्यं स्वीकृतं नास्ति। तथाप्यस्य लक्ष्यं चार्वाकवत्

^{1.} तै. उप.- 2/2/1

^{2.} मु. उप.- 2/1/2

^{3.} कठ. उप.

स्थूलपदार्थविवेचनं नास्ति। त्रिविधदुःखेभ्य आत्यन्तिकं मुक्तिरेवात्र लक्ष्यभूता वर्तते। आस्तिकदर्शनानामपि इदमेव लक्ष्यमस्ति। अतो जैनदर्शनम् आस्तिकधारायाः केषुचित् अंशेषु अनुकरणं करोति। आत्मा परिणामी द्रव्यमस्ति, जीवः अस्थिकायस्वरूपो भवति इत्याद्यवधारणाभिः सूक्ष्मतत्त्वानामपि भौतिकता सिद्ध्यति। वैदिकदर्शनेभ्यो वैपरीत्यदर्शनात् नास्तिकसंज्ञाऽस्याभिमता जीवात्मनः सम्बन्धे जैनसिद्धान्तानां चार्वाकसिद्धान्तै सह किमपि साम्यं दृश्यते। अत एव चार्वाकोपरान्तम् अस्य विद्यमानतया आनुक्रमिकतायां सन्देहो नास्ति।

अध्यात्म-ज्ञानवादयोः फलं भवति जैनदर्शनम्। अत्र न केवलं औपनिषदम् ज्ञानवादः किन्तु आचारसम्बन्धी दृष्टिरिप आसीत्। जैनदर्शनमिप अनात्मवादी एव। अस्य मुख्यसिद्धान्त भवित स्याद्वाद्। तदिप सप्तधा-"स्यादस्ति, स्यात्रास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यम्, स्यादस्ति च अवक्तव्यं च, स्यात्रास्ति च अवक्तव्यं च, स्यात्रास्ति च नास्ति च अवक्तव्यमि, ति"। एतेषां मतं सप्तभङ्गीनय अपि कथ्यते। अनेन वस्तुनः स्वरूपं न प्रकाश्यते, अपि च संशयरेव प्रतिपाद्यते। अत एव अद्वैतवेदान्तदर्शनद्वारा अस्य बहुविधा खण्डनं कृतम्। जैनदर्शने आत्मानं न स्वीकृत्य पुद्गलं स्वीक्रियते। तत्र पुद्गलं नाम पूरयन्ति गलन्ति च पुद्गलाः इति। अर्थात् जीवभेदाः एव पुद्गलाः। तत्र जीवतत्वं पुद्गलतत्वं वा शरीरपरिमाणात्मकम्। तत्र आचार्येण श्रीमच्छद्भरभगवत्पादेन उपदेशसाहस्त्र्याम् सतर्कखण्डितम्। तत्र आचार्यस्य तर्कः एवं भवित यद् इन्द्रियाणां दृष्टिः स्वगोलकपरिच्छित्रा भवित। किञ्च इन्द्रियाणि तदाकारता प्राप्नोति। एवमेव बुद्धेः देहेन्द्रियेण सह तादात्म्यम्, अतः बुद्धेः साक्षीत्वात् आत्मा देहपरिमाणस्वरूप इति प्रतीयते। तदुक्तम्-

'स्थानावच्छेददृष्टिः स्यादिन्द्रियाणां तदात्मताम्। गता धीस्तां हि पश्यञ्ज्ञो देहमात्र इवेक्ष्यते॥' इति

अस्मिन् प्रसङ्गे आचार्येण आनन्दज्ञानेन उक्तम् बुद्धिं साक्षी कृत्वा आत्मा भ्रान्त्या देहमात्र इव प्रतीयते। वस्तुत: स्वरूपत: आत्मा अनन्त एव। किञ्च पदयोजनिकार: तु आत्मन: देहपरिमाणत्वं खण्डयित तस्य मते आत्मा न देहपरिमाणम्। यदि आत्मन: देहपरिमाणत्वं स्वीक्रियते तिर्हं तस्य नाशत्विमिति स्वीकर्तव्यम्, तस्य सावयवत्वात् परिच्छिन्नत्वात्। किञ्च आचार्यबोधनिधि: कथयित आत्मा सर्वव्यापकम् अत: तत्र औपाधिकं परिच्छिन्नता प्रतीयते। एवं औपाधिकपरिच्छन्नताम् आधारीकृत्य

^{1.} उ. सा.- 1/16/22

^{3.} तां च पश्यन्नात्मा देहमात्र इव भ्रान्त्या दृश्यते। स्वरूपेण त्वनन्त एव।- उ. सा. (साहस्त्रीविवृति:)- 1/16/22

आत्मनः देहपरिमाणस्वरूपत्वं स्वीकर्तुं न शक्यते¹। एवं ब्रह्मसूत्रभाष्ये अपि आचार्येण श्रीमच्छङ्करभगवत्पादेन जैनदर्शनस्य खण्डनं कृतम्। तद्यथा शरीराणां चाऽनवस्थित-परिमाणत्वान्मनुष्यजीवो मनुष्यशरीरपरिमाणो भृत्वा पुनः केनचित् कर्मविपाकेन हस्तिजन्म प्राप्नुवन्न कृत्स्नं हस्तिशरीरं व्याप्नुयात्, पुत्तिकाजन्म च प्राप्नुवन्न कृत्स्नः पुत्तिकाशरीरे संमीयेत। समान एष एकस्मिन् अपि जन्मिन कौमारयौवनस्थिविरेषु दोषः। एवं प्रकारेण श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्याः ब्रह्मसूत्रभाष्ये उपदेशसाहस्त्र्यां च जैनदर्शनस्य खण्डनं कृतवन्तः। अधृना बौद्धमतं निराक्रियते–

बौद्धमतम्

बौद्धदर्शनम् भारतीयनास्तिकदर्शनेषु अन्यतमम्। यद्यपि भारतीयदर्शनानां प्रारम्भः दार्शनिकसूत्रेण जातः तथापि ज्ञानकर्मवादयोः प्रारम्भः तु वैदिककालादेव जातः। तत्र आरम्भे कर्मकाण्डस्य एव प्राधान्यं दृश्यते। तदा ज्ञानकाण्डस्य प्रसिद्धिः न्यूना जाता। तत्र कर्मकाण्डमात्रे तुआत्मबोधः, आत्मिचन्तनं, आत्मसाक्षात्कारादिविषये अवकाशः एव नासीतः किञ्च ज्ञानकाण्डे यद्यपि आत्मबोधादिविषये चिन्तनम् आसीत् तथापि आचारिकं नैतिकं व्यावहारिकादि दृष्टिः नासीदेव। एवं न्यूनतावशात् भारतवर्षे ज्ञानकाण्डस्य प्रतिक्रियास्वरूपं बौद्धदर्शनस्य आविर्भावः इति कल्पयितु शक्यते। अस्य बौद्धदर्शनस्य प्राधान्येन शाखाद्वयं प्राप्यते। तत्रैकः विज्ञानवादः अपरश्च शून्यवादः। अत्रादौ विज्ञानवादिवषये आलोच्यते-

विज्ञानवाद:

वादस्यास्य प्रवर्तकः मैत्रेयनाथः किञ्च तिच्छिष्यः असंगः। वादोऽयं योगाचारः इत्यनेन अपि प्रख्यातः। अस्मिन् विज्ञानमेव सत्यम्। एतेषां मते विज्ञानमेव जगतः सत्ता। तत्र विज्ञानं नाम चिन्मात्रम्। एते ज्ञाता-ज्ञेययोः पृथक्सत्ता न स्वीकुर्वन्ति। एतेषां मते ज्ञाताज्ञेययोः एकमेव सत्ता तिद्वज्ञानम्। एते विज्ञानवादिनः क्षणिकविज्ञानवादं समर्थयित। तत्र उपदेशसाहस्त्र्याम् क्षणिकविज्ञानवादं सम्यकरूपेण स्थापितम्। तत्र आचार्येण श्रीमच्छद्भरभगवत्पादेन क्षणिकविज्ञानवादानुसारं ज्ञानज्ञेययोः क्षणिकत्वं, स्वभावतः नाशवत्त्वं, निरिधष्ठानत्वम्, निरन्तरोत्पत्तिमत्वं च निरूपितम्। एतेषां मते स्थायित्वबुद्धेः निवृत्तिरेव विवेकः तदेव परमपुरुषार्थः। तदुक्तम्-

क्षणिकं हि तदत्यर्थं धर्ममात्रं निरन्तरम्। साहश्या दीपवत्तद्धीस्तच्छान्तिः पुरुषार्थता॥ इति

^{1.} उ. सा. (विवरणम्) - 1/16/22

^{2.} ब्र. सू. (शा. भा.)- 2/2/34

^{3.} उ. सा.- 1/16/23

विज्ञानवादीनां विज्ञानस्योत्पत्तिः तस्य निरोधक्रमः च सततरूपेण चलति तस्मात् क्षणिकविज्ञानवादीनां बौद्धानां सिद्धान्तोऽयं प्रतीत्यसमुत्पादवादः इत्यपि कथ्यते।

एतेषां बौद्धानां क्षणिकविज्ञानवादीनां मतं खण्ड्यते आचार्येण श्रीमच्छद्भर-भगवत्पादेन तस्य ब्रह्मसूत्रभाष्ये। तत्र तेन उक्तम्- 'यतउपलब्धिव्यतिरेकोऽपि बलादर्थस्याऽभ्युपगन्तव्य उपलब्धेरेव। निंह कश्चिदुपलब्धिमेव स्तम्भः कुड्यम् चेत्युपलभते, उपलब्धिविषयत्वेनैव तु स्तम्भकुड्यादीन् सर्वे लौकिका उपलभन्ते।' एवं बौद्धानां मतस्य असङ्गतिः प्रदर्श्यते आचार्येण श्रीमच्छद्भरभगवत्पादेन तत्र उपदेशसाहस्त्र्याम्-

बाह्याकारत्वतो ज्ञप्तेः स्मृत्यभावः सदाक्षणात्। क्षणिकत्वाच्च संस्कारं नैवाधत्ते क्वचित्तुधीः॥² इति

अत्र आचार्यस्य कथनं यत् यदि ज्ञानमेव बाह्यविषयाकारेण परिणतं स्यात् तिर्हि विषयोत्पत्तेः पूर्वं ज्ञानेन सह तस्य सम्बन्धः न भिवतुमर्हित। तथा उत्पत्यनन्तरं तज्ज्ञानं क्षणिकम् अतः तेन सह सम्बन्धः भिवतुं नार्हित तस्मात् प्रत्यक्षमेव न भवति। किञ्च विज्ञानवादीनां मते ज्ञातुः यत् क्षणिकत्वं तदिप सम्यक् न। तत्र ज्ञातुः क्षणिकत्वं स्वीक्रियते चेद् पूर्वक्षणोत्पन्नबुद्धिः उत्तरक्षणोत्पन्नबुद्धेः असम्बद्धः भवित तेन अनुभवपदार्थानां संस्कारः न त्यज्यते। अतः पूर्वानुभूतपदार्थानां स्मृतिः अपि न भवति। परन्तु प्रकृते तु स्मृतिः भवत्येव अतः मतिमदन्न समीचीनम्।

किञ्च बौद्धाः बाह्यार्थपदार्थं न स्वीकृत्य क्षणेन उत्पद्यते नश्यते च तादृशं बुद्धिरूपम् आत्मानं ग्राह्यग्राहकत्वेन स्वीकुर्वन्ति। बौद्धानां मतिमदम् न युक्तम् इति दर्शयन्नाह उपदेशसाहस्त्रीकारेण श्रीमच्छङ्करभगवत्पादेन-

> ज्योतिषा द्योतकत्वेऽिप यद्वन्नात्मप्रकाशनम्। भेदेऽप्येवं समत्वाज्ज्ञ आत्मानं नैव पश्यित॥ यद्धर्मायः पदार्थो न तस्यैवेयात्स कर्मताम्। न ह्यात्मानं दहत्यग्निस्तथा नैव प्रकाशयेत्॥³ इति

अर्थात् यथा सूर्यादीनां ज्योतिर्मयप्रकाशत्वेऽिप स्वं कर्मरूपेण प्रकाशियतुं न शक्नोति तथैव आत्मनः अंशभेदं स्वीक्रियते चेदिप चिन्मात्रस्वरूपत्वात् स्वं द्रष्टुं न शक्नोति। कारणं यः पदार्थः यद्धर्मयुक्तः तत्तस्य कर्म न भवितुमर्हित यथा अग्निः आत्मानं न दहति न च प्रकाशयति। किञ्च चिन्मात्रस्वरूपत्वात् अद्वयत्वाच्च न

^{1.} ब्र. सू. (शा. भा.)- 2/2/28

^{2.} उ. सा.- 1/16/25

^{3.} उ. सा.- 1/16/12-13

युज्यते। किञ्च क्षणिकविज्ञानवादस्य अन्या अनुपपत्तिः प्रदर्श्यते आचार्येण यदि सर्वेऽपि पदार्थाः क्षणिकमेव तर्हि पदार्थानां कार्यकारणभावः अपि न सिध्यति। अत्र बौद्धानां आक्षेपः यत् सर्वेपि पदार्थाः क्षणिकाः सत्यपि केचन पदार्थाः विद्यन्ते तेषां कारणं भवति केचन पदार्थाः। मतिमदमिप न औचित्यपूर्णं इति कथयति आचार्यः श्रीमच्छद्भरभगवत्पादः। कारणं क्षणिकत्वात् एकस्य पदार्थस्य अन्य पदार्थानपेक्षा एव सिध्यति। तदुक्तम्-

अपेक्षा यदि भिन्नेऽपि परसन्तान इष्यताम्। सर्वार्थे क्षणिके कस्मिस्तथाप्यन्यानपेक्षता॥² इति।

किञ्च अस्मिन् कारणं दर्शयित आचार्येण श्रीमच्छङ्करभगवत्पादेन यत् समकालसमुद्भृतानां पदार्थानाम् परस्परसम्बद्ध सत्वेऽपि यः यस्य संस्कारेण युक्तः तत्तस्यापेक्षा भवति।³ एवं विज्ञानवादीनां मतं निराकृत्य आचार्यः शून्यवादम् निराकरोति

शून्यवाद:

बौद्धानाम् शून्यवादः श्रेष्ठः सिद्धान्तः। सिद्धान्तस्यास्य प्रमुखाचार्यः नागार्जुनः। एतेवादिनः ब्रह्मवादिवद् ब्रह्मतत्त्वम् न स्वीकृत्य शून्यतत्त्वं स्वीकुर्वन्ति। शून्यवादीनां शून्यमिदं चनुष्कोटिविनिर्मुक्तम्। यतोहि तत्र सत्, नासत्, न सदसत्, न चानुभवात्मकम्। अत्र विज्ञानवाद-शून्यवादयोः विशेषभेदः प्रदर्श्यते। तत्र विज्ञानवादीनां मते जगत् विज्ञानमात्रम्, किञ्च शून्यवादीनां मते तु जगतः स्वरूपं शुन्यमेव। तत्र ते छान्दोग्यश्रुतिः प्रमाणत्वेन दर्शयन्ति। तद्यथा-'असदेव सोम्य इदमग्रासीत्' इति। किञ्च सुषुप्तौ सर्वाभावात्, अहं सुप्तः सुषुप्तौ न आसम् इति उत्थितस्य स्वाभावपरामर्शविषयानुभवाच्च शून्यम् आत्मेति वदित।

एतेषां मतम् खण्डयन् आह आचार्येण भावाभावयोः साक्षीत्वात् आत्मा न शून्यरूपम्। यतोहि अत्र नियमः वर्तते येन अभावः अधिगम्यते तत् सत् स्यात्। अन्यथा अभावेन अभावस्य ज्ञानप्रसङ्गः आगच्छति, तन्न समीचीनं भवति। तदुक्तम्-

येनाधिगम्यतेऽभावस्तत्सत्स्यात्तन्न चेद्भवेत्। भावाभावानभिज्ञत्वं लोकस्य स्यान्न चेष्यते॥ इति

^{1. &}quot;अंशोऽप्येवं समत्वाद्धि निर्भेदत्वात्र युज्यते"- उ.सा.- 1/16/14

^{2.} उ. सा.- 1/16/28

^{3.} तुल्यकालसमुद्भूतावितरेतरयोगिनौङ्ख्य.... उ.सा.- 1/16/29

^{4.} छा. उप.- 6/2/1

^{5.} भावाभावज्ञतस्तस्य नाभावसवधिगम्यते। उ.सा.- 1/16/31

^{6.} उ. सा.- 1/16/32

अतः समस्तजगतः साक्षी आत्मतत्वमेव पारमार्थिकम्। तत् पारमार्थिकम् आत्मतत्वम् सत्, असत्, सदसत् इत्यनेन विकल्पेन पूर्वमेव सिद्धम्। अपि च समस्तरूपत्वात् अद्वयं नित्यञ्च। अतः विकल्पितेषु पदार्थेषु भिन्नः। तदुक्तम्-

सदसत्सदसच्चेति विकल्पात्प्राग्यदिष्यते। तदद्वैतम् समत्वात्तु नित्यं चान्यद्विकल्पितात्॥ इति

अद्वैतानुसारं कर्तृत्वभोक्तृत्वादिरिहतम् ब्रह्म, तत्र कर्तृत्वादि मिथ्याध्यासः भवित। सः अध्यासः अहं ब्रह्मास्मि इत्यद्यनुभवात्मक बोधेन नश्यित। तदिधष्ठानस्य ब्रह्मणः नाशः तु न भवित। परन्तु एते बौद्धाः तु समस्तजगतः नाशं साधयिन्त। तिर्हि मोक्षः कस्य सम्भवित। तदुक्तम्-

मृषाध्यासस्तु यत्र स्यात्तन्नाशस्तत्र नो मतः। सर्वनाशो भवेद्यस्य मोक्षः कस्य फलं वद॥ इति

अतः मोक्षरूपफलस्य अधिकारी स्थायी तत्तम् अवश्यं स्वीकर्तव्यम्। एवं नास्तिकानां मतं निराकृत्य अधुना आस्तिकानां मतं विचार्यते। तत्रादौ सांख्यानां प्रकृतिकारणवादः।

प्रकृतिकारणवाद:

सांख्यदर्शने जगतः सृष्टिविषये प्रकृतिकारणवादम् अङ्गीक्रियते। तत्र प्रकृति-कारणवादानुसारम् प्रकृतिः एव जगतः कारणम्। गुणानां साम्यावस्था किञ्च तेषां वैषम्यविषये उपदेशसाहस्त्रीकारेण उच्यते यत् गुणानां साम्यावस्थायाः ध्वंसः न सम्भवति। तथा सर्गात् पूर्वम् अविद्यादिः स्वकारणे लीनम् आसीत्। तेनापि जगतः सृष्टिः न सम्भवति। एतदितिरिक्तम् पुरुषः अपि न जगदुत्पत्तेः कारणम्, यतो हि निर्विकाररूपः पुरुषः। अत्रेदं वक्तव्यम् यत् गुणवैषम्यं विना अन्यत् कारणं स्वीक्रियते चेत् अविद्यां स्वीकरणीया। तत्र प्रकृतेः परिणामात् प्राक् अविद्यादिः प्रकृतौ लीनं भवति। अतः सः परिणामस्य न कारणम्। तदुक्तम्-

गुणानां समभावस्य भ्रंशो न ह्युपपद्यते। अविद्यादेः प्रसुप्तत्वान्न चान्यो हेतुरुच्यते॥ इति

एवम् उपदेशसाहस्रीकारस्य कथनं यत् सांख्यमतानुसारं तु सृष्टिः एव न सम्भवति। सांख्यदर्शनानुसारं प्रधानं पुरुषस्य भोगमोक्षार्थं इत्यपि न वक्तुम् शक्यते।

^{1.} उ. सा.- 1/16/33

^{2.} उ. सा.- 1/16/30

^{3.} उ. सा.- 1/16/45

अस्मिन् विषये उपदेशसाहस्रीकारस्य युक्तिः यत् यदि प्रधानं पुरुषस्य भोगमोक्षार्थं स्वीक्रियते चेत् मुक्तबद्धानां जीवानां भेदः एव न युज्यते। तदुक्तम्-

विशेषो मुक्तबद्धानाम् तादर्थ्ये न च युज्यते। अर्थार्थिनोस्त्वसम्बन्धो नार्थी ज्ञो नेतरोऽपि वा॥ इति

किञ्च प्रधानस्य परार्थतां निराकरोति आचार्येण श्रीमच्छङ्करभगवत्पादेन तत्रसांख्यदर्शने पुरुषः निर्विकारः तस्मात् प्रधानस्य परार्थता न युक्तियुक्तः इति। किञ्च पुरुषस्य विकारः प्रकृतिः इति स्वीक्रियते चेदिप प्रधानस्य पुरुषार्थत्वं न युज्यते। एवं प्रकारेण आचार्येण श्रीमच्छङ्करभगवत्पादेन सांख्यानां प्रमुखतर्कानां खण्डनं कृत्वा अद्वैतवादिसद्धान्तं स्थापितम्। एवं सांख्यानां मतमर्दनं कृत्वा न्यायवैशेषिकानां प्रमुखतर्कानां खण्डनप्रकारः प्रदर्श्यते-

न्यायवैशेषिकमतम्

न्यायवैशेषिकाचार्यैः प्राधान्येन परमाणुकारणवादं तथा असत्कार्यवादमाधारिकृत्य कार्यकारणवादिसद्धान्तं प्रतिपादयति। एतेषाम् आत्मा किञ्च आत्ममनः संयोगविषये सम्बन्धः विचारयोग्यः। तत्र वैशेषिकदर्शनानुसारम् आत्मा जड किञ्च सुखदुः-खज्ञानादिगुणविशिष्टः। वैशेषिकानां मते तु आत्मा निर्विकारः विभः तथा तस्य अनेकत्वं दृश्यते। शरीरावच्छित्रे आत्मिन मनसः संयोगे जाते सुखदुः खादि धर्माः उत्पद्यन्ते। उपदेशसाहस्त्रीकारेण तु एतेषां वैशेषिकादीनां मतं खण्ड्यते। तत्र तेनोक्तम् यथा अग्नेः उष्णत्वं तस्य प्रकाशेन न प्रकाशितः भवति। तथैव वैशेषिक सिद्धान्तानुसारम् एकेनैव आश्रयेण स्थितत्वात् तद्गत-आनन्दादिगुणाः न ग्रहीतुं शक्यन्ते। तदुक्तम् उपदेशसाहस्त्र्य0ाम्-

न प्रकाश्यं यथोष्णत्वं ज्ञानेनैवं सुखादयः। एकनीडत्वतोऽग्राह्याः स्युः कणादादिवर्त्मनाम्॥ इति

किञ्च समानकाले युगपत्सुखज्ञानयोः आत्मनः सह समवायसम्बन्धः भिवतुं नार्हति। तथा च वैशेषिकदर्शनानुसारम् आत्ममनः संयोगे सुखस्य ग्रहणं भवति किञ्च सुखस्य ग्राह्यत्वमपि न सिद्ध्यति। तदुक्तम्

युगपत्समवेतत्वं सुखविज्ञानयोरिप। मनोयोगैकहेतुत्वादग्राह्यत्वं सुखस्य च॥ इति

^{1.} उ. सा.- 1/16/47

^{2.} उ. सा.- 1/16/48

^{3.} उ. सा.- 1/16/51

^{4.} उ. सा.- 1/16/52

140 संस्कृतविमर्शः

अत्र पुनः उपदेशसाहस्त्रीकारेण श्रीमच्छङ्करभगवत्पादेन आत्मिन सुखादिनां सिद्धिः न भवति इति प्रतिपादयति। तत्र तेन उक्तं यत् आत्मा ज्ञानस्वरूपं नेति कारणात् सुखादीनाम् उत्पत्तिः अपि कदापि न सम्भवति।

एवं बहुत्र आचार्येण न्यायवैशेषिकानां प्रमुखतर्कानां खण्डनं तर्कप्रतिष्ठित-शैलीमाधारीकृत्य करोति। एवम् आचार्येण श्रीमच्छङ्करभगवत्पादेन उपदेशसाहर्स्यान्तर्गतं द्वैतमतं खण्डियत्वा अद्वैतमतं सतर्कं प्रतिपादितम्। आचार्येण श्रीमच्छङ्करभगवत्पादेन अद्वैतवादस्थापनद्वारा आत्मनः सत्यत्वं किञ्च जगतः मिथ्यात्वं समर्थितम्।²

उपसंहार:

इयम् उपदेशसाहस्त्री अद्वैतवेदान्तस्य विशिष्टः ग्रन्थः। यद्यपि ग्रन्थोऽयं प्रकरणग्रन्थः तथापि अस्य ग्रन्थस्य सिद्धान्तगरिमा, तर्कशीलता, शिल्पसौन्दर्यं वेदान्तिजज्ञासूनां कृते अपरिमितः। अनेके विद्वांसः अस्य ग्रन्थस्य पद्यभागस्य एव प्रामाणिकत्वम् अङ्गिकुर्वन्ति। यतोहि अस्य पद्यभागः अधिकरोचकः किञ्च कण्ठस्थकरणोर्थं योग्यः। तस्मात् अस्य पद्यभागस्य प्रसिद्धिः अधिका जाता। यदि वयं समस्तवेदान्तस्य सारं पिठतुम् इच्छामः तर्हि अवश्यम् उपदेशसाहस्त्री पठनीया। वस्तुतः उपदेशसाहस्त्री वेदान्तस्य अपारज्ञानराशिः एव, या वेदवेदान्तानां परमसारः। एवं अल्पेन अक्षरेण अस्य समाप्तिः न सम्भवति तथापि करणीयमिति धीया शोधकार्यमिदम् अत्रैव समापितम्।

संकेतपञ्जिः

तै. उप. = तैत्तिरीयोपनिषद्

उ. सा. = उपदेशसाहस्त्री

उ. सा. (पद) = उपदेशसाहस्त्री (पदयोजनिका)

ब्र. सू. शा. भा. = ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्

कठ. उप. शा. भा. = कठोपनिषद् शाङ्करभाष्यम्

छा. उप. = छान्दोग्योपनिषद्

मु. उप. = मुण्डकोपनिषद्

^{1.} उ. सा.- 1/16/54

^{2.} ब्रह्मसत्यंजगन्मिथ्येत्येवंरूपोंविनिश्चय:। -विवेकचूडामणि:, 20

परिशीलितग्रन्थपञ्जिः

- 1. मुसलगाँवकर, गजाननशास्त्री. उपदेशसाहस्त्री. वाराणसी, श्री दक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन, 2010
- 2. उपदेशसाहस्री. महेश अनुसंधान संस्थान, 1978 (उपदेशसाहस्रीविवृति:-आनन्दज्ञान)
- 3. उपदेशसाहस्त्री. 1914, गुजराती प्रिन्टिंग प्रेस, 1917 (पदयोजनिका- रामतीर्थ)
- 4. केनोपनिषद्. गोरखपुर, गीताप्रेस, सं. 1994
- 5. कठोपनिषद्. गोरखपुर, गीताप्रेस, सं. 1994
- 6. घोषाल: चित्तरञ्जन गीता-संग्रह: ग्रन्थिक
- 7. घोषाल:, चित्तरञ्जन. उपनिषद्संग्रह: ग्रन्थिक
- 8. छान्दोग्योपनिषद्. गोरखपुर, गीताप्रेस, सं. 1994
- 9. तैत्तिरीयोपनिषद्. गोरखपुर, गीताप्रेस, सं. 2008
- 10. दीक्षित:, अप्पय. सिद्धान्तलेशसंग्रह:, काशी, अच्युतग्रन्थमाला, सं. 1993
- 11. दीक्षित:, अप्पय. सिद्धान्तलेशसंग्रह: . काशी, अच्युतग्रन्थमाला, सं. 1993
- 12. धर्मराजध्वरीन्द्र. वेदान्तपरिभाषा. वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, 1954
- 13. बृहदारण्यकोपनिषद्. गीताप्रेस, सं. 2008
- 14. माण्डूक्यादित्रयोपनिषद्. कैलास गेट.हृषिकेश (उ.प्र.), श्री कैलास विद्या प्रकाशन, सं. 1999
- 15. विद्यारण्य. पञ्चदशी. निर्णयसागर मुद्रणालय, 1949
- 16. वादरायण. ब्रह्मसूत्रम्. वाराणसी, मोतिलाल बनारसीदास, सं. 2018
- 17. श्रीसदाशिवेन्द्रसरस्वती. ब्रह्मतत्त्वप्रकाशिका. श्रीवाणीविलासमुद्रनालय, 1927
- 18. सदानन्द: वेदान्तसार. राममुर्ति शर्मा. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1978
- 19. सदानन्द:, वेदान्तसार. श्रीरामशरणत्रिपाठीशास्त्री. चौखम्बा विद्याभवन, 2018



षष्ठीसमासनिषेधशास्त्राणां समीक्षणम्

-उत्तम-माझिः *

ISSN: 0975-1769

शोधसारः

समसनं समासः, सम्-उपसर्गपूर्वात् अस्-धातोः घञ्-प्रत्यये समासशब्दः सिद्ध्यित। अर्थात् 'द्वयोर्बहूनां वा पदानां मिलित्वा एकपदीभवनं समासः'। अव्ययीभावादिचतुर्विधसमासेषु षष्ठीतत्पुरुषोऽन्यतमः। षष्ठी (अष्टा. 2.2.2) इत्यनेन सूत्रेण षष्ठ्यन्तं सुबन्तं समर्थेन सुबन्तेन सह समस्यते। यथा- राज्ञः पुरुषः= राजपुरुषः। द्वितीयादिः तत्पुरुषसमासो निर्दिष्टस्थानैव विधीयते। परन्तु षष्ठीतत्पुरुष-समासस्य प्रयोगस्थलम् अतिविस्तृतम्, तस्य गतिविधिरिप सर्वत्रमेव। षष्ठीसमासस्य गतिविधि नियन्त्रणाय विध्यपेक्षायाः निषेधस्य प्रयोजनमिधकम्। कारकषष्ठीसमास-निषेधसूत्रमनुसृत्यव्याख्या प्रस्तूयते। षष्ठीतत्पुरुषसमासविषये सप्तनिषेधसूत्राणि सन्ति। यथा- न निर्धारणे (अष्टा. 2.2.10) इत्यारभ्य कर्तिर च (अष्टा. 2.2.16) सूत्रपर्यन्तं सप्तसूत्रेण षष्ठीसमासः प्रतिषिध्यते। विधिशास्त्रं निषेधशास्त्रमुपजीव्यम्। अतो यत्र यत्र निषेधशास्त्रमस्ति तत्र तत्र विधिशास्त्रमपि अस्तीति अन्वयव्याप्तिसम्बन्धो वर्तते। परन्तु यत्र यत्र विधिशास्त्रमस्ति तत्र तत्र निषेधशास्त्रमपि अस्तीति वक्तुं न शक्यते। समासनिषेधसूत्रविषये वैयाकरणेषु विमतमपि परिलक्षितम्। प्रबन्धेऽस्मिन्निषेध-विषयकानि सप्तसूत्राणि स्वीकृत्यसमीक्षात्मकविचारः प्रस्तुतः।

कुञ्चीशब्दाः

कर्तरि, कर्मणि, कृद्योगा, निषेध:, निर्धारणम्, प्रतिपदिविधाना, शेषत्वम्, समास:।

उपोद्घातः

षष्ठीतत्पुरुषसमासे सप्तनिषेधसूत्राणि सन्ति। तेषु षड्सूत्राणि कारकषष्ठी-समासनिषेधसूत्राणि। **षष्ठी** (अष्टा. 2.2.2) इति सूत्रेण प्राप्तौ षष्ठीसमासे **न**

^{*} अतिथि-अध्यापक:, संस्कृत-विभाग:, काजी-नजरुल-विश्वविद्यालय:, पश्चिमबर्धमान:, आसानसोल:, पश्चिमबङ्गाल:-713340

निर्धारणे (अष्टा. 2.2.10) इत्यादि सूत्रेण प्रतिषिध्यते। यथा- आदौ **यतश्च** निर्धारणम् (अष्टा. २.३.४२) इत्येनन विहिता या षष्ठी तदन्तस्य समर्थसूबन्तेन सह समासे न निर्धारणे (अष्टा. 2.2.10) इत्यनेन प्रतिषिध्यते। षष्ठीसमासनिषेधार्थं वार्तिककारेणापि वार्तिकं कृतम्- प्रतिपदिवधाना षष्ठी न समस्यत इति वाच्यम्। पुरणगुणसृहितार्थसद्व्ययतव्यसमानाधिकरणेन (अष्टा. 2.2.11) इत्यनेन प्राप्तौ षष्ठी (अष्टा. 2.2.2) इति सूत्रेण समासो निषेध:। क्तेन च पुजायाम् (अष्टा. 2. 2.12) सूत्रेण **मतिबद्धिपुजार्थेभ्यश्च** (अष्टा. 8.2.188) इत्यनेन विहिता षष्ठी न समस्यते। इदमेषामासितम्, इदमेषां भुक्तम्, इदमेषां गतिमत्यादौ अधिकरणवाचिनश्च (अष्टा. 2.3.86) इत्यनेन षष्ठीविभिक्तिर्विधीयते। अत: अधिकरणवाचिना च (अष्टा. 2.2.13) इति निषेधसूत्रेण षष्ठीसमासः निषेधः। उभयप्राप्तौ कर्मणि (अष्टा. 2.3.66) इत्यनेन कर्मणि या षष्ठी सा समर्थेन सुबन्तेन सह समास: परन्तु कर्मणि च (अष्टा. 2.2.14) इति सूत्रेण प्रतिषिध्यते। कर्तृकर्मणोः कृति (अष्टा. 2.3.65) इत्यनेन कर्मणि षष्ठी विधीयते। तेन **षष्ठी** (अष्टा. 2.2.8) इत्यनेन षष्ठीसमासप्राप्तौ तृजकाभ्यां कर्तरि (अष्टा. 2.2.15) इत्यनेन समासो निषिध्यते। कर्तरि च (अष्टा. 2.2.16) सूत्रमिदं षष्ठीसमासनिषेधस्य अन्तिमम्। अस्मिन् सूत्रविषये दीक्षितश्च पुनश्च काशिकाकारस्य किञ्चित् विमतं परिलक्षितम्। एतानि सप्तनिषेधसुत्राणि स्वीकृत्य लघुशोधपत्रेऽस्मिन् समीक्षात्मकमालोचनं क्रियते।

षष्ठीसमासोनिषेधस्य प्रथमं सूत्रं न निर्धारणे (अष्टा. 2.2.10) इति। यतश्च निर्धारणम् (अष्टा. 2.3.42) इति सूत्रेण विहिता या षष्ठी तदन्तस्य समर्थसुबन्तेन सह न समस्यत इत्यर्थः। सूत्रे निर्धारणिमित पदस्य व्याख्याप्रसङ्गे काशिकाकारेणोक्तम् "जातिगुणिक्रयाभिः समुदायादेकदेशस्य पृथक् करणं निर्धारणम्"। सिद्धान्तकौमुदीकारेण संज्ञापदेन सह उक्तम् "जातिगुणिक्रयासंज्ञाभिः समुदायादेकदेशस्य पृथक् करणं निर्धारणम्"। कैयटेन निर्धारणपदस्य व्याख्या क्रियते "यतो निर्धारणम्, यच्च निर्धारणम्"। कैयटेन निर्धारणपदस्य व्याख्या क्रियते "यतो निर्धारणम्, यच्च निर्धारणविधः, निर्धारणहेतुः, एतित्रतयसंनिधान एव तस्याः प्रवृत्तिरिति कैयटः"। अर्थात् निर्धारणाविधः, निर्धार्यमानः, निर्धारणहेतुश्च-एतित्रतयसंनिधाने निर्धारणं भवति। यथा नृणां द्विजः श्रेष्ठः। गवां कृष्णा बहुक्षीरा। गच्छतां धावच्छ्रीघः। छात्राणां मैत्रः पटुः। एतेष्वुदाहरणेषु 'नृणाम्, 'गवाम्', 'गव्छताम्', 'छात्राणाम्' यथाक्रमे निर्धारणाविधः; 'द्विजः', 'कृष्णा', 'धावत्', 'मैत्रः' यथाक्रमे निर्धारणहेतुश्च। उक्तोदाहरणेषु

^{1.} काशिका, द्वितीयो भाग:, पृ.350

^{2.} वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, द्वितीयो भाग:, पृ. 85

^{3.} वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, द्वितीयो भाग:, बालमनोरमा, पृ. 46

निर्धारणाविधः, निर्धार्यमानः निर्धारणहेतुश्च सुस्पष्टत्वम्, अतो निर्धारणम्। अतो निर्धारणे (अष्टा. 2.2.10) इति सूत्रेण षष्ठीसमासो निषेधः। तिर्हं 'पुरुषाणामुत्तमः =पुरुषोत्तमः' इत्यत्र कथं षष्ठीसमासः। विग्रहवाक्ये निर्धार्यमानस्याभावत्वात् निर्धारणं न भवति। 'पुरुषाणाम्' इत्यत्र निर्धारणे षष्ठी न, परन्तु शेषे षष्ठी। अतः षष्ठीसमासः सिद्धः। केचितु "उत्तमः ॐ पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः" इति गीतावाक्यप्रमाणत्वात् कर्मधारय एव। 'उत्तमः पुरुषः' इति विग्रहे राजदन्तादिषु परम् (अष्टा. 2.2.31) इत्यनेन उत्तमशब्दस्य विशेषणत्वे परिनपातः। केचितु 'पुरुषेषूत्तमः' इति निर्धारणे सप्तमीतत्पुरुष एव। एतद्विषये तत्त्वबोधिनीकारेणोक्तम्– "न चैवं 'न निर्धारणे' इति व्यर्थम्। स्वरे भेदात्। सप्तमीसमासे हि 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ–' इत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिस्वरः, षष्ठीसमासे तु 'समासस्य' इत्यन्तोदात्तत्वं स्यात्तच्चानिष्टमित्याहुः। तन्मन्दम्। 'संज्ञायाम्' इति समासस्य नित्यत्वेन स्वपदिवग्रहासंगितप्रसङ्गात्।" अतः 'पुरुषोत्तमः' इत्यत्र शेषे षष्ठीसमास एव समीचीनः।

षष्ठीसमासनिषेधार्थं वार्तिककारेण वार्तिकं कृतम्-प्रतिपदविधाना षष्ठी न समस्यत इति वाच्यम्। अर्थात् प्रतिपदविधाना या षष्ठी सा सुबन्तेन सह न समस्यते। पदं पदं प्रतिपदिमति वीप्सार्थे अव्ययीभाव:। प्रतिपदं विधानं यस्या: सा प्रतिपद्विधानेति बहुव्रीहिसमास:। 'प्रतिपद्विधाना' इति षष्ठ्या विशेषणम्। भाष्यकारेणोक्तम्-"सर्वा षष्ठी प्रतिपद्विधाना शेषलक्षणां वर्जियत्वा" अर्थात् 'षष्ठी शेषे' इति शेषलक्षणां षष्ठीं वर्जित्वा सर्वा षष्ठी प्रतिपदविधाना इति। यथा- सर्पिषो ज्ञानम्, पितुः स्मरणिमिति। 'सर्पिषः', 'पितुः' इत्यत्र षष्ठी विधीयते यथाक्रमे ज्ञोऽविदर्थस्य करणे (अष्टा. 2.3.51), अधीगर्थदयेशां कर्मणि (अष्टा. 2.3. 52) इत्यनेन। अत्र 'षष्ठी शेषे' इति शेषलक्षणां वर्जित्वा करणादीनां शेषत्वेन विवक्षे षष्ठी विधीयते। अतः प्रतिपदविधानत्वात् षष्ठीसमासो न। तर्हि 'कृद्-योगा' षष्ठी प्रतिपदिवधाना। तर्हि प्रतिपदिवधानत्त्वात् कर्तृकर्मणोः कृति (अष्टा. 2.3. 65) इत्यनेन विहिता या षष्ठी सा सुबन्तेन सह न समस्यते। अत: षष्ठीसमासविधानार्थं "कृद्योगा च षष्ठी समस्यत" इति वाच्यम्⁵ इति वार्तिकस्यावश्यकम्। अत: कर्तृकर्मणोः कृति (अष्टा. 2.3.65) इत्यनेन कर्तरि कर्मणि च या षष्ठी सा सुबन्तेन समर्थेन सह समस्यते। उदाहरणं यथा-इध्मप्रवचन:, पितृस्मृति:, हरिस्मरणम्, शिरच्छेद: मांसभोजनिमत्यादि।

^{1.} तदेव

^{2.} वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, द्वितीयो भाग:, तत्त्वबोधिनी, पृ. 46

^{3.} वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, द्वितीयो भाग:, वार्तिकम्, पृ. 45-46

^{4.} व्याकरणमहाभाष्यम्, द्वितीयं खण्डम्, पृ. 431

^{5.} वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, द्वितीयो भाग:, वार्तिकम्, पृ. 45

प्रदीपोद्द्योत-पदमञ्जरी-तत्त्वबोधिनीकारै: मतानुसारेण "प्रतिपदिवधाना षष्ठी-समासनिषेधः" "कृद्योगा षष्ठीसमासविधायक"श्च वार्तिकद्वयमेव प्रत्याख्यातम्। षष्ठी शेषे (अष्टा. 2.3.50) इत्यनेन शेषत्वेनैव षष्ठीप्राप्ते पुन: ज्ञोऽविदर्थस्य करणे (अष्टा. 2.3.51) इत्यारभ्य व्यवहृपणोः समर्थयोः (अष्टा. 2.3.57) पर्यन्तम्, अपि च कृत्वोऽर्थप्रयोगे कालेऽधिकरणे (अष्टा. 2.3.64) इति अष्टस्त्रेष् करणादीनां शेषत्वेन विवक्षिते षष्ठी विधीयते। अष्टसूत्रेषु षष्ठी शेषे (अष्टा. 2. 3.50) सुत्रात 'शेषे' इत्यनुवर्तते। तेन 'न माषाणामश्नीयात' इव सर्वत्र **षष्ठी शेषे** (अष्टा. 2.3.50) सुत्रेणैव सिद्धम्। तर्हि एतानि अष्टसूत्राणि किमर्थम्? उत्तरे वक्तुं शक्यते नियमार्थमिदम्। सूत्राष्टकेन षष्ठयेव भवति न तल्लुकिति। तथा च लुक: प्रयोजकीभूत: समासो न भवतीति तात्पर्यम्। पदमञ्जरीकारेण तथैवोक्तम्- "तत्र न माषाणामश्नीयात् 'षष्ठी शेषे' इत्यनेनैव सिद्धा षष्ठी, प्रकरणं त् नियमार्थम्। षष्ठी भवत्येव श्रूयत एव, न तस्याः समासो भवतीत्यर्थः समासे 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति सुब्लुक् स्यात्।" तर्हि 'प्रतिपदविधाना' इति न वक्तव्यम्। अपि च षष्ठीसमासो विधानार्थं 'कृद्योगा षष्ठी' इति वार्तिकमपि प्रयोजनं नास्तीति। कर्तृकर्मणोः कृति (अष्टा. 2.3.65) इत्यत्र शेषाधिकारो निवृत्त:। शेषे षष्ठीति अप्राप्ता षष्ठी कृद्योगे विधीयते। अपि च समासनिवृत्तिप्रसङ्गाभावात् षष्ठी (अष्टा. 2.2.8) इत्यनेन षष्ठीसमास:। अस्मिन् प्रसङ्गे तत्त्वबोधिनीकारेणोक्तम्- "एवं च शेषत्विववक्षायां सर्पिषो ज्ञानं. मातुः स्मरणमित्यादीन्यसमस्तान्येव साधृनि। हरिस्मरणमित्यादीनि तु शेषत्वाविवक्षायां कृद्योगषष्ठ्या: समासे बोध्यानि।" परन्तु न्यासकारस्य मते-"कृद्योगलक्षणा षष्ठी समस्यते' इति व्याख्येयम्। तत्रेदं व्याख्यानम्- यदयम् 'क्तेन च पूजायाम्' 'अधिकरणवाचिना च' 'कर्मणि च' 'तृजकाभ्यां कर्तरि च' इति निषेधमारभते, तज्ज्ञापयित- 'कृद्योगा या षष्ठी सा समस्यते' इति- अन्यथा प्रतिषेधारम्भोऽनर्थक: स्यात्, प्राप्त्यभावात्" इति।

यदि प्रतिपदिवधानेन षष्ठीसमासः प्रतिषिध्यते, कथं तिर्ह 'गृहस्वामी', 'विद्यादायादः', पृथिवीश्वर इति समासः। अत्र स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभू-प्रसूतैश्च (अष्टा. 2.3.39) विशेषलक्षणेन षष्ठी विधीयते, अतः सा प्रतिपदिवधाना। परन्तु अनेन सूत्रेण सप्तमी विधीयते, न तु षष्ठी। न्यासकारेण समाधाने उक्तम्- "सा तु सप्तमी षष्ठीं बाधिष्यत इति चकारेण पुनः षष्ठीप्रतिप्रसवः क्रियते। न

^{1.} वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, द्वितीयो भागः, तत्त्वबोधिनी, पृ. 46

 [&]quot;षष्ठी शेषे" (अष्टा. 2.3.50) सूत्रस्यवैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, प्रथमो भागः, तत्त्वबोधिनी,
 पृ. 674

^{3.} काशिका, द्वितीयो भाग:,न्यास:, पृ. 348

ह्येवंविधा षष्ठी प्रतिपदिवधाना भवित।" परन्तु महाभाष्यकारेण चकारेण प्रतिपदिवधाना षष्ठी कृता। अतः यतश्च निर्धारणम् (अष्टा. 2.3.41) इत्यत्रापि चकारेण प्रतिपदिवधाना षष्ठी विधीयते। तिर्हे प्रतिपदिवधानत्वात् न निर्धारणे (अष्टा. 2.3. 10) इति सूत्रं प्रयोजनं नास्ति। बालमनोरमाकारस्य वचनमेव प्रमाणम्– "सिपंषो ज्ञानिमिति। अत्र 'ज्ञोऽविदर्थस्य करणे' इति विहितषष्ठ्याः समासो न भवित। 'न निर्धारणे' इति प्रत्याख्येयमेवेति भाष्ये स्पष्टिमित्यलम्।" परन्तु न्यासकारेण चकारेण शेषे लक्षणेव षष्ठी स्वीकृता। तेनोक्तम्– "यतश्च निर्धारणम्' इत्यत्रापि हि चकारेण शेषलक्षणा षष्ठी प्रतिप्रसूयते, अन्यथा हीयमिप प्रतिपदिवधानैव षष्ठीति समासो न स्यात्। ततश्च 'न निर्धारणे' इति प्रतिषिधोऽनर्थकः स्यात्।"

प्रणग्णसहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणेन (अष्टा. 2.2.11). षष्ठी-समासनिषेधस्य द्वितीयसूत्रमिदम्। दीक्षितेनोक्तम्- "पूरणार्थै: सदादिभिश्च षष्ठी न समस्यते।" अर्थात् पूरण, गुण, सुहितार्थ, सद्, अव्यय, तव्य, समानाधिकरण-इत्येतै: सह षष्ठीसमास: प्रतिषिध्यते। पूरणे उदाहरणं यथा- सतां षष्ठ:। षण्णां षष्ठ इत्यर्थे तस्य पुरणे डट् (अष्टा. 5.2.48) पूरणार्थे 'डट्' प्रत्ययेन 'षष्ठ:' इति पदं सिद्धम्। अतः तेन सहित षष्ठीसमासो निषेधः। गुणे उदाहरणं यथा-काकस्य कार्ष्णयीमत्यत्र कृष्णशब्दात् भावे ष्यञि प्रत्यये 'कार्ष्णर्यम्' इति पदं निष्पन्नम्। अतः तेन सह षष्ठीसमासो निषिध्यते। 'ब्राह्मणस्य शुक्लः' इत्यत्र गुणवाचकशुक्लपदेन सह षष्ठी न समस्यते। तर्हि शुक्लशब्देनान्वयाभावादसामर्थ्यात् कथमिह समासप्रवृत्ति:? तस्मात् दीक्षितेनोक्तम् "यदा प्रकरणादिना दन्ता इति विशेष्यं ज्ञातं तदेदमुदाहरणम्।" अतः ब्राह्मणशब्दस्य दन्तशब्देनैवान्वयात् समाससिद्धः, तस्मात् निषेधः कृतः। परन्तु पाणिनिमुनिना तदिशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात् (अष्टा. 1.2.53) इत्येवं सूत्रं कृतम्। अत्र संज्ञायाः प्रमाणत्वम् = संज्ञाप्रमाणत्वम् ' तस्मात् संज्ञाप्रमाणत्वात्। अत्र गुणवाचक-प्रमाणत्वपदेन सह समासः कृतः। एतेन ज्ञापितोऽनित्यसमासः गुणशब्देन निषेधः। तस्मात् अर्थस्य गौरवमर्थगौरवम्, बुद्धेः मान्दं बुद्धिमान्द्यमिति समासः सिद्धः। सुहितार्थे-तुप्त्यर्थकसुहितशब्देन सहित षष्ठी न समस्यते। तस्मात् दीक्षितेनोक्तम्-"सुहितार्थास्तुप्त्यर्थाः।" उदाहरणं यथा-फलानां सुहितः। सूत्रे अर्थग्रहणत्वात् 'फलानां

^{1.} काशिका, द्वितीयो भागः,न्यासः, पृ. 351

^{2.} वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, द्वितीयो भाग:, बालमनोरमा, पृ. 46

^{3.} काशिका, द्वितीयो भागः,न्यासः, पृ. 351

^{4.} वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, द्वितीयो भाग:, पृ. 47

^{5. &}quot;गुणवचनब्राणादिभ्य: कर्मणि च" अष्टा. 5.1.124

^{6.} वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, द्वितीयो भाग:, पृ. 47

^{7.} वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, द्वितीयो भाग:, पृ. 47

तृप्तिः' अत्रेव समासो न जातः। तर्हि फलसहितिमित्यत्र कथं समासः? समाधाने दीक्षितेनोक्तम्— "तृतीयासमासस्तु स्यादेव।" तृतीयात्पुरुषसमासे स्वरे वैशिष्ट्यं वर्तते। तस्मात् षष्ठीसमासनिषेधस्यावश्यकतास्ति। सूत्रे 'सद्' शब्देन शतृशानचौ बोध्यौ। तस्मात् शतृप्रत्ययेन शानच्य्रत्ययेन च सुबन्तेन सह षष्ठीसमासो प्रतिषिध्यते। उदाहरणं यथा– द्विजस्य कुर्वन् कुर्वाणो वा। परन्तु कर्तृकर्मणोः कृति (अष्टा. 2. 3.65) इत्यनेन कर्मणि षष्ठी प्राप्तौ न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् (अष्टा. 2. 3.69) इत्यनेन कर्मणि षष्ठी प्रतिषिध्यते। तर्हि षष्ठीविभक्तेरप्राप्ते कथं षष्ठी– समासनिषेध? समाधाने पदमञ्जरीकारेणोच्यते— "नेयं घटाद्यपेक्षया षष्ठीब्राह्मणस्य घटं कुर्वित्रिति, एवं ह्यसामर्थ्यादेव समासस्याप्रसङ्गः; किं तर्हि कुर्वित्रिति किङ्कर उच्यते, स हि कुर्वन् भवति…।" परन्तु भाष्यकारस्य भित्रमतमस्ति। तेनोक्तम्– "इदं तर्हि— चोरस्य द्विषन्, वृषलस्य द्विषन्। ननु चात्रापि प्रतिषिध्यते षष्ठी। वक्ष्यते तद्- 'द्विषः शतुर्वावचनमिति।"

सूत्रे अव्ययशब्देन कृदव्ययं गृह्यते। तेन दीक्षितेनोक्तम्- "पूर्वोत्तरसाहचर्यात्कृद-व्ययमेव गृह्यते।" अतः सुबन्तेन कृदव्ययेन षष्ठी न समस्यते। यथा- ब्राह्मणस्य कृत्वा। परन्तु कर्तृकर्मणोः कृति (अष्टा. 2.3.65) इत्यनेन कर्मणि षष्ठी प्राप्तौ "न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्" इत्यनेन कर्मणि षष्ठी प्रतिषिध्यते। 'ब्राह्मणस्य कटं कृत्वा' इति कटाद्यपेक्षया शेषषष्ठी, तर्हि सापेक्षत्वेनासामर्थ्यात् कृत्वा इत्यनेन समासाप्रवृत्तिः। तस्मात् निषेधो व्यर्थः। समाधाने तत्त्वबोधिनीकारेणोक्तम्- "ब्राह्मण-संबन्धिनी या क्रिया तदनन्तरमित्यर्थः।" अर्थात् 'कृत्वा' इत्यस्यार्थो ब्राह्मणसंबन्धिनी क्रिया, अतः समर्थादेव समासप्राप्तौ निषेधः। महाभाष्यकारेण समाधाने उच्यते- "द्रव्यमत्रापेक्ष्यते कटः। इदं तर्हि- 'पुरा सूर्यस्योदेतो राधेयः' 'पुरा वत्सानामपाकर्तोः'। ननु चात्रापि प्रतिषिध्यते- अव्ययमिति कृत्वा वक्ष्यत्येतद्-अव्ययप्रतिषेधे तोसुन्क- सुनोरप्रतिषेधः' इति।" अतो वार्तिकानुसारेण तोसुन्कसुनयोगेऽपि षष्ठी स्यादेव। अतो समासस्य प्राप्तौ निषेधो विधीयते।

सुबन्तेन तव्यप्रत्ययान्तेन सह षष्ठ्यन्तस्य समासो न भवति। उदाहरणं यथा-ब्राह्मणस्य कर्तव्यम्। अत्र तव्यत्तव्यानीयरः (अष्टा. 3.1.69) इत्यनेन 'कृ'धातोः 'तव्य' प्रत्ययेन कृत्यानां कर्तरि वा (अष्टा. 2.3.71) इति सूत्रेण 'ब्राह्मणस्य' इति

^{1.} वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, द्वितीयो भाग:, पृ. 47

^{2.} काशिका, द्वितीयो भाग:, पदमञ्जरी, पृ. 353

^{3.} व्याकरणमहाभाष्यम्, द्वितीयं खण्डम्, पृ. 432-433

^{4.} वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, द्वितीयो भाग:, पृ. 49

^{5.} वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, द्वितीयो भाग:, तत्त्वबोधिनी, पृ. 50

^{6.} व्याकरणमहाभाष्यम्, द्वितीयं खण्डम्, पृ. 433

कर्तिर षष्ठी वा विधीयते। अतः तव्यप्रत्ययान्तेन सह षष्ठ्यन्तस्य समासः प्रतिषिध्यते। मनिस शङ्का जाता 'स्वस्य कर्तव्यम् = स्वकर्तव्यम्' इत्यत्र कथं समासः? समाधाने दीक्षितेनोच्यते- "तव्यता तु भवत्येव।" अर्थात् 'तव्यत्' प्रत्ययान्तेन सुबन्तेन सह षष्ठीसमासो भवत्येव। पुनः काशिकाकारेण आशङ्का कृता- "तव्यता सानुबन्धकेन समासो भवत्येव- ब्राह्मणस्य कर्तव्यम्।" तिर्हि निषेधस्य किं प्रयोजनम्? समाधाने न्यासकारेणोच्यते- "गतिकारकोपपदात् कृत्' इति प्रकृतिस्वरेणान्तस्विरतमुत्तरपदं भवति। यदि तिर्हि निरनुबन्धकेनािप समासः स्यात् प्रकृतिस्वरे कृते प्रत्ययस्वरेण मध्योदातः स्यात्, स चानिष्टः; अतो निरनुबन्धकेन समासः प्रतिषिध्यते, नतु सानुबन्धकेन।"

समानाधिकरणेन सह षष्ठीसमासः निषिध्यते। उदाहरणं यथा- तक्षस्य सर्पस्य। अत्र षष्ठी (अष्टा. 2.2.8)सूत्रेण प्राप्ता षष्ठी निषेधः। परन्तु षष्ठीसमासो निषेधेऽपि विशेषणं विशेष्येण बहुलम् (अष्टा. 2.1.57) इत्यनेन कर्मधारयसमासो भवत्येव। तिर्हि निषेधस्य किं प्रयोजनम्? समाधाने दीक्षितेनोच्यते- "विशेषणसमासिस्त्वह बहुलग्रहणात्र।" षष्ठीसमासिनषेधस्यापरमुदाहरणं यथा- गोर्धेनोः। अत्रापि षष्ठीसमासः प्रतिषेधः। परन्तु अत्र षष्ठीसमासस्य प्राप्तिरेव नास्ति। यस्मात् पोटायुवितस्तोक-कितपयगृष्टिधेनुवशावेहद्वष्कयणीप्रवक्तृशोत्रियाध्यापकधूर्तेर्जातः (अष्टा. 2. 1.65), युवाखलितपिलतविलनजरतीभिः (अष्टा. 2.1.67) इत्यादीनां विभक्तचन्तरे चिरतार्थनां परसूत्रत्वात् बाधकप्राप्तः षष्ठीसमासः। स षष्ठीसमासः पूरणगुणसुहितार्थ-सद्ययतव्यसमानाधिकरणेन (अष्टा. 2.2.11) इत्यनेन सूत्रेण वार्यत इति।

षष्ठीसमासनिषेधस्यापरं सूत्रं कतेन च पूजायाम् (अष्टा. 2.2.12)। काशिका-रेणोक्तम्- "पूजाग्रहणमुपलक्षणार्थम्।" कस्योपलक्षणम्? मितबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च (अष्टा. 8.2.188) इति सूत्रस्योपलक्षणम्।अनेन सूत्रेण मन्धातोः, बुध्धातोः पूज्धातोश्च योगे वर्तमाने 'क्त'प्रत्ययो विधीयते। कतस्य च वर्तमाने (अष्टा. 2.3.67) इत्यनेन वर्तमानार्थस्य कतस्य योगे कर्तरि षष्ठी विधीयते। न निर्धारणे (अष्टा. 2.2.10) इत्यतो 'न' इत्यनुवर्तते। अतः सम्पूर्णसूत्रार्थो भवति- मितबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च (अष्टा. 8.2.188) इत्यनेन विहितो यः क्तप्रत्ययः तदन्तेन सुबन्तेन सह षष्ठी न समस्यते। यथा- राज्ञां मतः। राज्ञां बुद्धः। राज्ञां पूजितः। अत्र क्तप्रत्ययान्तपदयोगे राज्ञामिति

^{1.} वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, द्वितीयो भाग:, पृ. 49

^{2.} काशिका, द्वितीयो भाग:, पृ. 353

^{3.} काशिका, द्वितीयो भागः,न्यासः, पृ. 353

^{4.} वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, द्वितीयो भाग:, पृ. 50

^{5.} काशिका, द्वितीयो भाग:,न्यास:, पृ. 354

कर्तिर षष्ठी। अतः षष्ठ्यन्तं सुबन्तं क्तप्रत्ययान्तेन सुबन्तेन सह षष्ठीसमासप्रतिषेधो भवित। परन्तु शेषलक्षणा षष्ठी स्यादेव। अतो न्यासकारेणोक्तम्– "पूजायां किम्? छात्रस्य हिसतं छात्रहिसतम्। 'नपुंसके भावे क्तः'। शेषलक्षणा षष्ठी।" परन्तु राजपूजितः, राजमतः, राजबुद्ध इत्येतेषु कथं षष्ठीसमासिसद्धः? समाधाने दीक्षितेनोक्तम्– "राजपूजित इत्यादौ तु भूते क्तान्तेन सह तृतीयान्तस्य समासः।" यतः राज्ञा पूजितः= राजपूजित इत्यादौ भूते क्तप्रत्ययो विधीयते। अतः कर्तृकरणे कृता बहुलम् (अष्टा. 2.1.32) इत्यनेन राजपूजित इत्यादौ तृतीयातत्पुरुषसमासिसद्धः।

अधिकरणवाचिना च (अष्टा. 2.2.13) इति षष्ठीसमासनिषेधस्य चतुर्थसूत्रम्। अनेन सूत्रेणइदमेषामासितम्, इदमेषां भुक्तम्, इदमेषां गतिमत्यादौ षष्ठीसमासो प्रतिषिध्यते। सूत्रार्थो भवति–अधिकरणार्थे विहितो यः क्तप्रत्ययः तदन्तेन सुबन्तेन सह षष्ठी न समस्यते। उक्तोदाहरणेषु क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यः (अष्टा. 3.4.76) इति सूत्रेण अधिकरणार्थे क्तप्रत्यये 'आसितम्', 'भुक्तम्', 'गतम्' एते पदानि निष्पन्नानि। क्तप्रत्ययान्तपदयोगे एषामित्यत्र अधिकरणवाचिनश्च (अष्टा. 2.3.86) इत्यनेन षष्ठीविभिक्तिर्विधीयते। अतः प्रकृतसूत्रेण षष्ठीसमासः प्रतिषिध्यते।

कर्मणि च (अष्टा. 2.2.14) इति षष्ठीसमासनिषेधस्यापरं सूत्रमिदम्। क्तेन च पूजायाम् (अष्टा. 2.2.10) इत्यतः 'क्तेन' इति पदं नानुवर्तते, कर्मपदं षष्ठीविशेषणम्। अतः कर्मणि या षष्ठी सा न समस्यते। तर्हि 'अपां स्रष्टा' इत्यत्र अपामिति कर्मणि षष्ठी। अतः कर्मणि च (अष्टा. 2.2.14) इत्यनेन षष्ठीसमासनिषेधो भवित। तर्हि तृजकाभ्यां कर्तिर (अष्टा. 2.2.15) सूत्रमिदं व्यर्थम्। अतो दीक्षितेनोक्तम्-उभयप्राप्तौ कर्मणि (सूख 624) इति या षष्ठी सा न समस्यते।" 'कर्मणि' पदेन उभयप्राप्तौ कर्मणि (अष्टा. 2.3.66) इति सूत्रं बोध्यम्। अतः उभयप्राप्तौ कर्मणि (अष्टा. 2.3.66) इत्यनेन कर्मणि या षष्ठी सा समर्थेन सुबन्तेन सह न समस्यते। कर्तृकर्मणोः कृति (अष्टा. 2.3.65) इत्यनेन कृद्योगे कर्तरि कर्मणि च षष्ठी विहिता। परन्तु उभयप्राप्तौ कर्मणि (अष्टा. 2.3.66) इत्यनेन कर्तृकर्मणोरुभयप्राप्तौ कर्मणि एव षष्ठी विहिता नतु कर्तरि। अतः कर्मण्येव समासस्य निषेधो भवित। यथा–आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपालकेन। अत्र 'दुह्'धातोः घञ्प्रत्ययेन 'दोहः' इति पदं निष्पन्नम्। अतः तद्योगे गवामिति कर्मणि षष्ठी विहिता, परन्तु 'अगोपेन' इति कर्तृत्वात् कर्तृकरणयोस्तृतीया (अष्टा. 2.3.18) इत्यनेन

^{1.} काशिका, द्वितीयो भाग:, पृ. 355

^{2.} वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, द्वितीयो भाग:, बालमनोरमा, पृ. 52

^{3.} वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, द्वितीयो भाग:, पृ. 52

अनुक्तकर्तिरं तृतीया। अत एव 'गवां दोहः' इत्यत्र षष्ठीसमासप्राप्ते **कर्मणि च** (अष्टा. 2.2.14) इत्यनेन षष्ठीसमासो निषेधः।

तृजकाभ्यां कर्तिरे (अष्टा. 2.2.15) इति षष्ठीसमासनिषेधस्यापरं सूत्रमिदम्। तृच् च अकश्च इतरेतरयोगद्वन्द्वसमासस्तृजकौ, ताभ्यां तृजकाभ्याम्। अस्मिन् सूत्रविषये दीक्षितकाशिकाकारमतयोः किञ्चित् वैषम्यं परिलक्षितम्। आदौ दीक्षितस्य मतम्- "कर्त्रर्थतृजकाभ्यां षष्ट्या न समासः।" अर्थात्कर्तरीति तृजकयोरेव विशेषणम्, न तु षष्ट्याः। अतो कर्त्रर्थकं तृच्य्रत्ययान्तं सुबन्तम् अक्य्रत्ययान्तं सुबन्तञ्च षष्ट्यान्तेन न समासः। यथा– अपां स्रष्टा। ओदनस्य पाचकः। 'सृज्'धातोः **णवुलतृचौ** (अष्टा. 3.1.133) इति सूत्रेण कर्त्रर्थे 'तृच्'-प्रत्यये 'स्रष्टा' इति पदं निष्पन्नम्। 'पच्'धातोः **णवुलतृचौ** (अष्टा. 3.1.133) इति सूत्रेण कर्त्रर्थे 'अक्²-प्रत्यये 'पाचकः' इति पदं निष्पन्नम्। तस्मात् 'अपाम्', 'ओदनस्य' इत्यत्र कर्तृकर्मणोः कृति (अष्टा. 2.3.65) इत्यनेन कर्मणि षष्ठी विधीयते। तेन षष्ठी (अष्टा. 2.2.8) इत्यनेन षष्ठीसमासप्राप्ते तृजकाभ्यां कर्तिर (अष्टा. 2.2.15) इत्यनेन समासो निषिध्यते।

परन्तु काशिकाकारस्य भिन्नं मतमस्ति। तस्य मते कर्तरीति षष्ट्याः विशेषणम्। अतः सूत्रार्थो भवित- "कर्तिर या षष्ठी सा तृजाऽकेन च सह न समस्यते।" तेन तस्योदाहरणं प्रदत्तम्– भवतः शायिका। भवत आसिका। भवतोऽग्रगामिका। पर्यार्यार्हणोत्पत्ति ण्वुच् (अष्टा. 3.3.111) इत्यनेन भावार्भे 'ण्वुच'प्रत्यये 'शायिका', 'आसिका', 'अग्रगामिका'– एते पदानि निष्पन्नानि। तस्मात् 'भवतः' इत्यत्र कर्तिर षष्ठी भवित। तर्हि 'भवतः' इति कर्तिर षष्ठी पुनश्च 'शायिका' 'आसिका', 'अग्रगामिका' इति अकप्रत्ययान्तम्, अतः समासो न भवित। प्रकृतसूत्रे 'तृच्' इति व्यर्थम्। यतः 'तृच्' प्रत्यययोगेन कदापि कर्तिर षष्ठी न भवित।यतः 'तृच्'-प्रत्ययः सवर्दा कर्त्रथे एव भवित। तस्मात् प्रातिपदिकार्थे प्रथमा तद्थे षष्ठी नजायते। तर्हि तृज्यहणं किमर्थम्? "तृज्यहणमुत्तरार्थम्।"

अधुना शङ्का जायते यत्– 'कर्तिर' ग्रहणं किमर्थम्? अत्र उच्यते– "कर्मणि षष्ठ्या समासः। 'कर्मणि च' इति निषेधस्तु न, कर्तुः प्रयोग एव तत्प्रवृत्तेः।" यथा– इक्षुणां भक्षणिमक्षुभिक्षका। 'भिक्षका' इति पदे भावार्थे 'ण्वुल्'–प्रत्ययो विधीयते। अतः 'इक्षुणाम्' इति कर्तृकर्मणोः कृति (अष्टा. 2.3.65) इत्यनेन कर्मणि षष्ठी, तस्मात् षष्ठीसमासो भवति।

^{1.} वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, द्वितीयो भाग:, पृ. 53

^{2. &}quot;युवोरनाकौ" अष्टा. 7.1.1

^{3.} काशिका, द्वितीयो भाग:, पृ. 357

^{4.} काशिका, द्वितीयो भाग:, पृ. 357

^{5.} वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, द्वितीयो भाग:, बालमनोरमा, पृ. 53

पुनः शङ्का जायते- भुवो भर्ता = भूभर्ता, देवस्य पूजकः = देवपूजक इत्यादौ कथं षष्ठीसमासः? उक्तोदाहरणेषु कर्त्रथें यथाक्रमे तृजकप्रत्ययो विधीयते। अतः तृजकाभ्यां कर्तिरे (अष्टा. 2.2.15) इत्यनेन समासनिषेधो कथं न भवति। 'भर्ता', 'पूजकः' इत्यादि याजकादौ पाठात् षष्ठीसमासो भवत्येव। अतः याजकादिभिश्च (अष्टा. 2.2.9) इत्यस्य प्रतिप्रसवार्थत्वात् समासिसद्धः। एवं तर्हि 'वज्रस्य भर्ता' इत्यत्रापि समासप्रङ्गात् दीक्षितेनोक्तम्-"पत्यर्थभर्तृशब्दस्य तु याजकादित्वात्समासः।" पुनः शङ्का जायते- "कथं तर्हि घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः' इति।" 'त्रिभुवनस्य विधाता' अस्मिन्वग्रहे 'विधाता' इत्यत्र 'तृच्' प्रत्ययान्तं सुबन्तेन सह कथं समासिसद्धः? समाधाने दीक्षितेनोच्यते- "शेषषष्ठ्या समास इति कैयटः।" न्यासकारस्य तु भिन्नं मतम्, तस्य मते-'विधातृ' इत्यत्र 'तृच्' प्रत्ययान्तं न तु 'तृन्'। तस्मात् समासिसद्धः। परन्तु अत्रन लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् (अष्टा. 2.3. 69) इत्यनेन षष्ठीविभिक्तप्रतिषेधो न भवति, यस्मात् प्रकृतसूत्रे 'तृन्' प्रत्याहारस्य निर्देशेन अनित्यं प्रतिपाद्यते।

कर्तिर च (अष्टा. 2.2.16) सूत्रमिदं षष्ठीसमासनिषेधस्य अन्तिमम्। अस्मिन् सूत्रविषये दीक्षितश्च पुनश्च काशिकारस्य किञ्चित् विमतं परिलक्षितम्। आदौ दीक्षितस्य मतम्-'कर्तिर' इति षष्ठीविशेषणम्। अतः सूत्रार्थो भवति– कर्तिर या षष्ठी सा अकेन न समस्यते। यथा– भवतः शायिका। यस्मात् अत्र 'शायिका' इति 'अक' प्रत्ययान्तं पदं कर्त्रर्थे न भवति। तस्मात् तृजकाभ्यां कर्तिर (अष्टा. 2.2.15) इत्यनेन निषेधो न प्राप्तः। अतो वर्तमानसूत्रमावश्यकम्।

अधुना शङ्का जाता **तृजकाभ्यां कर्तरि** (अष्टा. 2.2.15) इत्यत्र 'तृजकाभ्याम्' इति समासबद्धपदम्। तस्मात् "एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्ति सह वा निवृत्तिः" इति परिभाषानुसारेण 'तृजकाभ्याम्' इति अनुवर्तनीयम्। तर्हि कथं 'अक' इति अनुवृत्तम्? तस्मात् सिद्धान्तकौमुदीकारेणोक्तम्– "नेह तृजनुवर्तते। तद्योगे कर्तुरभिहितत्वेन कर्तृषष्ट्या अभावात्।" अस्मिन् प्रसङ्गे बालमनोरमाकारेणापि उच्यते– "तृचः कर्तरि विहितत्वेन स्रष्टा कृष्ण इत्यादौ कर्तुः कृताभिहिततया तत्र कर्तरि षष्ट्या एवाप्रसक्त्या तत्समासनिषेधस्य शशश्रृङ्गेण कण्डूयनं न कर्तव्यमितिवदसंभवपराहतत्वा– दित्यर्थः।"

^{1.} वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, द्वितीयो भाग:, पृ. 53

^{2.} वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, द्वितीयो भाग:, पृ. 53-54

^{3.} वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, द्वितीयो भाग:, पृ. 54

^{4.} परिभाषेन्दुशेखर: 17

^{5.} वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, द्वितीयो भाग:, पृ. 54

^{6.} वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, द्वितीयो भाग:, बालमनोरमा, पृ. 54

परन्तु काशिकाकारस्य भिन्नं मतमस्ति। तस्य मते- 'तृजकाभ्याम्' इति पदमनुवर्तते। अतः सूत्रार्थो भवति- कर्त्रर्थकं तृच्य्रत्ययान्तं सुबन्तम् अकप्रत्ययान्तं सुबन्तञ्च षष्ठ्यान्तेन न समासः। तेन तस्योदाहरणं प्रदत्तम्- अपां स्त्रष्टा। पुरां भेत्ता। व्रजस्य भर्ता। ओदनस्य भोजकः। सुक्तूनां पायकः। अत्र कर्त्रर्थकं तृच्य्रत्ययान्तं सुबन्तम् अकप्रत्ययान्तं सुबन्तञ्च षष्ठ्यान्तेन सह समासः प्रतिषिध्यते। दीक्षितेन पूर्वसूत्रेणैव समाधानं कृतम्।

उपसंहृति:

सूत्रकारपाणिनिमुनिना वैज्ञानिकपद्धत्यावलम्बनं कृत्वा सूत्ररचना कृता। सूत्राणां वैज्ञानिकता सर्वत्र उपलभ्यते। समासप्रकरणेऽपि कौशलेन षष्ठीसमास: प्रतिषिध्यते। आदौ कारकषष्ठीविभिक्तविधायकानि सूत्राणि आलोच्य अनिष्टिनवारणार्थं षष्ठीसमास-निषेध: कृत:। प्रतिपदविधाना षष्ठीविषये विमतं परिलक्षितम्। परन्तु पाणिनिमुनिना क्त्रापि 'प्रतिपद्विधाना' इति पदं नोल्लिखितम्। अतः टीकाकारैः प्रतिपद्विधाना षष्ठीसमासनिषेधो वार्तिकम् अपि च कृद्योगा षष्ठीसमासो विधायकं वार्तिकं प्रत्याख्यातम्। तस्मात् वक्तुं शक्यते वार्तिकद्वयस्याभावे कापि समस्या न जाता अपि च लाघवं भवति। पुरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणेन (अष्टा. 2.2. 11) इत्यस्मिन् सूत्रे प्रतिपदमत्यन्तं प्रासङ्गिकम्। प्रतिपदमाश्रित्य षष्ठीसमासः प्रतिषिध्यते। 'न लोकाव्यय..' इत्यनेन शतृ-शानच्-प्रत्ययान्तपदयोगेन अव्यययोगेन च षष्ठीविभिक्तप्रीतिषिध्यते, परन्तु षष्ठीं विधाय षष्ठीसमासनिषेधार्थं सिद्धान्त-कौमुदीकारमपेक्षया महाभाष्यकारस्य मतमधिकं युक्तिसंगतम्। क्तेन च पूजायाम् (अष्टा. २.२.१२) इत्यारभ्य **कर्मणि च** (अष्टा. २.२.१४) पर्यन्तं सूत्रत्रयेण कौशलेन सारल्येण कारकषष्ठीसमास: प्रतिषिध्यते। तृजकाभ्यां कर्तरि (अष्टा. 2. 2.15), कर्तरि च (अष्टा. 2.2.16) इति सूत्रद्वयस्य अर्थप्रतिपादने दीक्षितस्य पुनश्च काशिकाकारस्य वैमत्यं परिलक्षितम्। आलोचनान्ते वक्तुं शक्यते दीक्षितस्य मतं श्रेयम्, यत: तृजकाभ्यां कर्तरि (अष्टा. 2.2.15) इत्यत्र तृचकप्रत्ययो: प्रयोजनं वर्तते। पुनश्च कर्तरि च (अष्टा. 2.2.15) सूत्रे 'तृच्'पदं नानुवर्तते। परन्तु काशिकाकारमते तुजकाभ्यां कर्तरि (अष्टा. 2.2.15) इत्यत्र 'तुच्' इति पदं व्यर्थम्। 'तृच्'पदं व्यर्थप्रतिपन्नं कृत्वा 'तृजकाभ्याम्' इति सम्पूर्णं पदमनुवर्तते। काशिकाकारस्य मतं क्लेशेन बोध्यते। लाघविमच्छुक: वैयाकरण: दीक्षितमतं स्वीकरोतीति मम आशयः।

 [&]quot;कर्तिर च यौ तृजकौ ताभ्यां सह षष्ठी न समस्यते।" काशिका, द्वितीयो भाग:, पृ.
 357

सन्दर्भग्रन्थसूची

- 1. इश्वरचन्द्र, सम्पादक: (प्रथमभाग: द्वितीयभागश्च 2017)। अष्टाध्यायी (चन्द्रलेखा-हिन्दीव्यख्या सहिता)। दिल्ली: चौखम्बासंस्कृत प्रतिष्टान।
- 2. तिवारी, हरिनारायण, सम्पादक: (द्वितीयोऽध्याय: 2014)। व्याकरणमहाभाष्यम् (ज्योत्सना समुद्भाषितम्)। वराणसी : चौखम्ब संस्कृत प्रतिष्टान।
- 3. त्रिपाठी, जयशङ्करलाल, सुधाकरमालवीय च सम्पादकौ (द्वितीयो भाग: 2018)। काशिका (न्यास-पदमञ्जरीभावबोधिनी सहिता)। वाराणसी: तारा बुक एजेन्सी।
- 4. भृहाचार्य, तपनशङ्कर, सम्पादक: (प्रथमभाग: 2018)। वैयाकरणसिद्धान्तकौमुद्याः समासप्रकरणम् (सूत्रवृत्ति-वङ्गानुवाद-बालमनोरमालोचनापदसाधनप्रक्रिया- सिहतम्)। कलकाता : त्रैलक्यनाथ-चतुष्पाठी।
- 5. मिश्र, विश्वनाथ, सम्पादक: (2016)। परिभाषेन्दुशेखर: (सुबोधिनी-हिन्दीव्याख्योपेत:)। वाराणसी: चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन।
- 6. शर्मा, रघुनाथ, सम्पादक: (द्वितीयो भाग: 2016)। वाक्यपदीयम् (तृतीयं काण्डम्)। वाराणसी : सम्पूर्णानन्द संस्कृतविश्वविद्यालय:।
- 7. शर्मा, गिरिधर परमेश्वरानन्द च सम्पादकौ (द्वितीयो भाग: 2017)। वैयाकरण-सिद्धान्तकौमुदी (बालमनोरमा-तत्त्वबोधिनी-सिहता)। दिल्ली: मोतिलाल बनारसीदास।
- 8. शर्मा, शिवदत्त, सम्पादकः (पुनर्मुद्रितसंस्करणम् 2014)। व्याकरणमहाभाष्यम् (भाष्यप्रदीपोद्द्योतसमुल्लसितम्)। दिल्लीः चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, द्वितीयं खण्डम्।
- 9. शर्मा, लक्ष्मी, सम्पादिका (द्वितीयो भाग: 2017)। वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी (श्रीधरमुखल्लासिनी हिन्दीव्याख्यासिहता)। वाराणसी : चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन।



पाणिनीयव्याकरणे प्रकृतिवदनुकरणे ज्ञापकानामावश्यकता

-पल्लवी-मालिक: *

ISSN: 0975-1769

शोधसारः

संस्कृतशास्त्रे स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा (1/1/68) इत्यनेन स्वरूपमेव संज्ञी। लोके उपाध्याये मृते तत्स्थानिविष्टस्य शिष्यस्य अध्यापनादिः गुरुधर्मलाभो भवित। तथापि शास्त्रे आदेशे विहिते असित स्थाने तत्र स्थानिवद्वयवहारार्थं स्थानिवदादेशोनिल्वधौ (1/1/56) इति सूत्रं कृतम्। तद्वद् मूलप्रकृतेरनुकरणे यदुच्चारितं तत्रापि अनुकार्ये यद्विधीयते तदनुकरणेऽपि करणीयम्। अनुकरणमनुकार्यतुल्यं भवित। यद्यपि तद्विषये किमिप सूत्रं नास्ति तथापि पाणिनीयव्याकरणे सूत्रान् सम्यगनुशीलनेन निश्चयते। यथा क्षियो दीर्घात् (8/2/46) इत्यादयः सूत्रे प्रकृतिवदनुकरणेन कार्याभावे क्षियः इति निर्देशः अनुपपन्नः। क्षिधातौ अचिश्नुधातु-भ्रुवां खोरियङ्गुवङौ (6/4/77) इत्यनेन विहितः इयङादेशः तदनुकरणे क्षिशब्दादाविप भवितुमर्हतीति भावः। अनुकरणे मूलप्रकृतिवद्सादृश्ये धात्वादिरिप अतिदिश्यते। पाणिनिना क्षियः इति निर्देशेन ज्ञायते अनुकरणेऽपि धात्वाद्यनुकार्यधर्मः अतिदिश्यते। एवमन्यत्रापि प्रकृतिवदनुकरणेन कार्यं भवित न वा। यदि न भवित तिर्हे किमर्थं नेति विषये समाधानं करणीयम्। लोके उभयोर्मध्ये अभेदे सित शास्त्रे तत्करणं न वेति सन्देहा जाता। सूत्रे व्यवहारं दृष्ट्वा तज्ज्ञाप्यते। ज्ञापितत्वाद् परिभाषायाः करणाकरणयोः विमतं परिलक्षितम्। अस्मिन्सन्दर्भे तिद्वषये आलोच्यते।

कुटशब्दा:

शोध:

अनुकरणम्, अनुकार्यम्, आदेश:, धातु:, प्रकृतिवद्, प्रातिपदिकम्।

संस्कृतशास्त्रे लृकारस्य प्रयोगम् अल्पमिप माहेश्वरसूत्रे तस्य पाठ: दृश्यते।

^{*} शोधच्छात्रा, संस्कृतविभागः, सिधो-कानहो-विरसा विश्वविद्यालयः, पुरुलिया, पश्चिमवङ्गः।

ऋकारस्याल्प: प्रयोगस्ततोऽप्यस्याल्पतर इत्यर्थ:। अल्पप्रयोगस्यापि कार्यार्थ उपदेश: कर्तव्य:...- ऋष्क् सूत्रस्य प्रदीपटीका।

कृप्धातो: रेफस्य कृपो रो ल: (8/2/18) इत्यनेन लकारादेशे त्रिपादीत्वात् तस्यासिद्धत्वे समुदायभूत: लुकाराश्रितं अच्कार्यं ऋकारेणैव सिद्धत्वात् ऋलुक् इति सूत्रे लुकारोपदेश: नावश्यक: । यद्यपि यद्रच्छाप्रयोगाशक्तिजानुकरणप्लुतद्विर्वचनस्वरिता-दिषु कार्यसिद्ध्यर्थं लुकारोपदेशस्य प्रयोजनम् उक्तं भाष्यकारेण²। शब्दानां चतस्र: प्रवृत्तिः जातिगुणक्रिया- यदृच्छाशब्दाः। अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् (1/2/45) इत्यनेन अव्युत्पन्नानां यद्रच्छाशब्दानामुपलब्धिः जाता। यद्रच्छया लृतकः इत्यिभप्रेत्य दध्यलुतकाय देहि, मध्वलुतकाय देहि इत्यादौ लुकारे परे अच्कार्यार्थं लुकारोपदेश: क्रियते।³ अशक्त्या ब्राह्मण्या ऋतक इत्यस्य लृतक इत्युच्चारिते तदनु0करणेन 'ब्राह्मण्यलृतक इत्याह', 'कुमारय्लृतक इत्याह' इत्यादौ लृति यण्कार्यार्थं लुकारोपदेशस्य प्रयोजनम्। न च अशक्तिजः लृतकशब्दः शास्त्रसिद्धाभावादपशब्दः। ऋतकलृतकयोः अर्थभेदात् न ऋतकः लृतकशब्दस्य निर्वर्तकः इति । अतः लृतकशब्दं न ऋतकस्य अपभ्रंशम्। यदा ह्यशक्त्या ऋतक इति प्रयोक्तव्ये ब्राह्मण्या लृतक इत्युच्चारणं तस्यानुकरणम्। अत्र अनुकार्यलृतकस्य अशक्तिजत्वात् अपशब्दत्वात् तदनुकरणः लृतकशब्दोऽपि अपशब्दः इति नाशङ्कानीया। अपशब्दपदार्थकशब्दो नापशब्दः भवति, यतस्तेन अपशब्द: इति शब्दोऽपि स्वयमपशब्दो भवतीति। तेन असाध्वर्थानां बोधकत्वेऽपि लुतकशब्दः न स्वयमपशब्दः। अतः अपशब्दलुतकशब्दपदार्थकत्वेऽपि तस्य साधुत्वात्तदर्थं उपदेशः कर्तव्यः। क्लुप् समर्थे इति धातुपठितलुकारः शास्त्रान्वितत्वात् न असाधुः। अत: तदनुकरणे साध्वलुकारमधीते, मध्वलुकारमधीते इत्यादौ संहिताकार्यार्थं लुकारोपदेश: कर्तव्य:। यद्यपि कृपो रो ल: (8/2/18) इत्यनेन ऋकारैकादेशस्य रेफस्य लत्वे क्लुप्धातुः भवति। त्रिपादीत्वात् लत्वस्यासिद्धत्वात् ऋकाराश्रयेणैव अच्कार्याणि भविष्यतिन्ति। अतः लुकारोपदेशस्य प्रयोजनं नास्ति। यद्यपि क्लुपिस्थस्य लुकारस्य सन्ध्यादिकार्यार्थं लुकारोपदेशस्यानावश्यकता तथापि तदनुकरणे प्रयोगस्थलुकारे कार्यार्थं लुकारोपदेश: प्रयोजन: । तदिप न कर्तव्यम्, यत: प्रकृतिवदनुकरणं भवित। तेन यथा क्लृपेर्लत्वस्यासिद्धत्वात् ऋकारेण लृकारस्याच्कार्यं सिद्ध्यति, तद्वद्नुकरणस्यापि इत्यर्थ:।

^{1.} यद्यपि कृपो रो ल: इत्यत्र रेफलकारयो: स्थान्यादेशभावस्तथापि तद्द्वारा ऋकारलृकारयोरपि स इति भाव:- ऋलृक् सूत्रस्य उद्द्योतटीका।

^{2.} लृकारोपदेशो यदृच्छाशक्तिजानुकरणप्लुत्याद्यर्थ:-ऋलृक् सूत्रस्य वार्तिकम्।

शिष्टप्रयुक्तानामेवाव्युत्पत्तिपक्षोऽप्यस्तीति ज्ञापनाय 'अर्थवत्-' सूत्रोपादानम्। अनुकरण-शब्दानामव्युत्पन्नत्वात्तदर्थं च।-ऋलृक् सूत्रस्य प्रदीपटीका।

^{4.} समाने चार्थे शास्त्रान्वितोऽशास्त्रान्वितस्य निवर्तको भवति। तद्यथा- देवदत्तशब्दो देवदिण्णशब्दं निवर्तयति, न गाव्यादीन्।-ऋलृक् सूत्रस्य महाभाष्यम्।

^{5.} प्रयोगस्थस्येदमनुकरणम्। प्रयोगे च 'पूर्वत्रासिद्धम्' इति नास्ति- इति भाव:।। -ऋलृक् सूत्रस्य प्रदीपटीका।

प्रकृतिवदनुकरणेन अनुकरणं प्रकृतिवदनुकार्यतुल्यञ्च भवति। तेन अनुकार्ये यत्कार्यं भवति अनुकरणेऽपि तद्भवति। अत्र अनुकार्यऋतकशब्दः, अनुकरणञ्च लृतकशब्दः। तेन अनुकार्यऋकारे परे तस्य अच्त्वात् यथा यण्कार्यं भवति, तथा अनुकरणलृतकशब्देऽपि इको यणचि (6/1/77) इत्यनेन यणादेशसिद्धे लृकारोपदेशः मास्तु इति भावः। अस्मिन्वषये ज्ञापकं तु क्षियो दीर्घात् (8/2/46) इति सूत्रे क्षियः इति निर्देशः । सूत्रे क्षिशब्दः क्षीधातोः अनुकरणम्। अनुकार्यधर्मम् अनुकरणे असत्त्वे सति अनुकरणशब्दस्य क्रियावाचित्वाभावेन धातुत्वाभावात् इयङादेशस्याप्राप्तिः स्यात्। यतः अचिश्नुधातुभुवांय्वोरियङ्क्व (6/4/77) इत्यनेन इकारान्तधातोः इयङादेशः भवति। परन्तु पाणिनिना क्षियः इति निर्देशेन ज्ञायते अनुकरणेऽपि धात्वाद्यनुकार्यधर्मः अतिदिश्यते।

एवमन्यत्रापि दरीदृश्यते। पचन्तु पचन्तु इति द्विवारं केनचिदुक्ते तस्यानुकरणे द्विः पचन्तु इति भवति। द्विः पचन्त्वत्याह इत्यनुकरणे पचन्तुशब्दे तिङन्तत्वं स्वीकृत्य तिङ्ङितिङः (8/1/28) इत्यनेन निघातस्वरः। अत्र अनुकरणे क्रियासाधनाद्यवाचकत्वात् तिङन्ताभावे तिङ्ङितिङः (8/1/28) इत्यनेन अतिङन्तात् परं तिङन्तमनुदात्तमित्येवं निघातस्वरं न प्राप्नोति। प्रकृतिवदनुकरणं भवतीति वचनस्वीकृते तु अनुकार्ये पचन्तु इति तिङन्ते परे यदेव निघातस्वरः भवति अनुकरणे पचन्तु शब्देऽपि स एव स्वरं प्राप्नोतीति फलितार्थः। एवं 'अग्नी इत्याह' इत्यनुकरणस्य अग्नीशब्दस्य ईकारं द्विवचनं स्वीकृत्य ईदूदेद्दिवचनं प्रगृह्यम् (1/1/11) इत्यनेन प्रगृह्यसंज्ञा स्यात्। अत्र अनुकरणे पचन्तु तथा अग्नि शब्दे अनुकार्यतुल्यं प्रकृतिवद्वा तिङन्तत्वाभावे द्विवचनत्वाभावे तु पचन्तु इत्यत्र निघातस्वराभावः अग्नी इत्यत्र प्रगृह्यसंज्ञाभावः स्यात्। अतः अनुकरणं मूलप्रकृतिसदृशः एव अतिदेशनीयः²।

प्रकृतिवदनुकरणं भवतीति वचनेन अनुकरणे क्षिशब्दे धातुत्वात् इयङादेशे तत्र प्रातिपदिकत्विनबन्धनसुप्विभक्तेः अप्राप्तिः, धातौ तद्दुर्लभत्वात्। क्षिशब्दस्य धातुत्वात् प्रातिपदिकत्वाभावात् पञ्चमीविभक्तेः अप्रयोगः स्यात्। परन्तु विभक्तियोजनं कृत्वा निर्देशेन ज्ञायते एषा परिभाषा अनित्या। कार्यार्थं कदाचिदनुकरणः प्रकृतिवदिप्यते, कदाचित् न। अत्र इयङादेशार्थम् अनुकार्यवृत्तिधात्वधर्मः अनुकरणे अतिदिश्यते, परन्तु प्रातिपदिकसंज्ञाकाले धातुत्वं न तिष्ठति। तेन क्षियः इत्यत्र प्रातिपदिकत्वात् सुप्विभक्तिः युज्यते। यद्यपि अधातुरिति वचनेन प्रातिपदिकसंज्ञाप्रतिषेधः स्यात्।

^{1. &#}x27;क्षियः' (सू. 6/4/59) इत्यादावियङ्नर्देशात्। -ज्ञापकसंग्रहः, पृ.2।

^{2.} एतच्च क्रियासाधनाद्यनभिधानात्तिङन्तं न भवति। एवं 'अग्नी' इत्यनुकरणं ह्यर्थानभिधानात्र द्विवचनान्तम्।। –ऋलृक् सूत्रस्य प्रदीपटीका।

अधातुः इत्यत्र पर्युदासनञः, न तु प्रसज्यप्रतिषेधः। तेन आतिदेशिकस्य धातोरन्य-त्वात्स्वाश्रया प्रातिपदिकसंज्ञा प्रवर्तते। आतिदेशिको धातोः इयङादेशः विधीयमानत्वात् तदेव भवतीति पदमञ्जरीकारमतम्। अपि च प्रकृतिवदिति वत्करणेन अनुकार्येणार्थेन अर्थवत्तात् प्रातिपदिकसंज्ञा भविष्यतीति न्यासकारमतम् ।

क्षियो दीर्घात् (8/2/46) इत्यत्र हस्वान्तस्य क्षिधातोः अनुकरणम्। क्षियः (6/4/59), निष्ठायामण्यदर्थे (6/4/60) इति सूत्रे हस्वान्तस्य दीर्घविहिते तस्मात् परं नत्वं विधीयते। हस्वान्तस्य च दीर्घत्वं विधेयम् तत्पश्चात् क्षियो दीर्घात् (8/2/46) इति सूत्रप्रवृत्तिवशादत्र तस्यैव अनुकरणम्। यतः यथाभूतस्य दीर्घत्वं विधेयं तथाभूतमेव अनुकर्तुं युक्तम्। हस्वान्तस्य दीर्घत्वं विधेयत्वेन तस्यैव इदमनुकरणमिति विज्ञायते, न तु दीर्घान्तस्य। न च हस्वान्तस्य धात्वनुकरणस्य इयङा निर्देशेन विपराभ्यां जेः (1/3/19), विभाषा चेः (7/3/58) इत्यादाविष इयङापत्तिः स्यात्। अत्र अनुकार्यावस्थितं धातुत्वं क्रियावाचित्वलक्षणमिवविक्षितत्वादत्र रूपसामान्यस्यानुकरणम्। साधारणरूपस्यानुकरणाद् विशेषनिबन्धनकार्यस्याभावः। तस्मादर्थशून्यं रूपानुकरणात् धातुत्वाभावाच्च इयङादेशो न भवतीति काशिकाकारमतम्²। अतः सर्वत्रानुकरणं न प्रकृतिवद्, यत्र विशेषधर्मेण अनुकरणं कृतं तत्रैव प्रकृतिवद् कार्यम् अनुकरणेऽिप प्राप्नोति, न तु तद्व्यतिरिक्ते। तेनािप वचनस्य अनित्यत्वं सूचितम्।

एवं **पराजेरसोढ**ः (1/4/26) इति सूत्रे जिधातोः अनुकरणम्। परापूर्वो जिः इति उत्तरपदलोपी समासः। अधातुः इत्यनेन धातौ प्रातिपदिकसंज्ञाप्रतिषेधात् असुबन्तत्वात् परस्परं समासो न प्राप्नोति। यतः प्रकृतिवदनुकरणं भवित इत्यनेन जिशब्दे धातुत्वं नास्तीति न वक्तव्यम्। अतः अधातु इत्यत्र न प्रसज्यप्रतिषेधः, अपि तु पर्युदासः। पर्युदासात् साक्षात् धातुत्वाभावात् धातुसदृशानुकरणात् न प्रातिपदिकसंज्ञाभावः। प्रातिपदिकत्वात् सुप्विभक्तिः युज्यते। अत्र पराजिः इति समुदायस्य अनुकरणम्। तेन अध्ययनात् पराजयते, अध्ययनात् पराजितमित्यत्र समुदायेऽपि पञ्चमी विहिता³।

अस्मिन्विषये हरदत्तकृतपदमञ्जरीवासुदेवकृतबालमनोरमयो: विरोधं स्पष्टम्। धाताविष सुप्विभक्तिना प्रयोगात् प्रकृतिवदनुकरणं भवित इति परिभाषाया: अनित्यत्वं प्रकाशितम्। इयङादेशार्थं प्रकृतिवद् अनुकरणेऽिष निमित्तं धातुत्वमाश्रितम्, परन्तु

^{1.} क्षियो दीर्घात् (8/2/46) सूत्रस्य न्यासटीका।

^{2.} ह्रस्वस्यापि हि धात्वनुकरणस्य इह इयङा निर्देश:। क्षिय: 'निष्ठायामण्यदर्थे' इत्यत्र दीर्घग्रहणं क्रियते। 'विपराभ्यां जे:' इत्येवमादौ तु धातुत्वमनुकार्यगतं सदप्यविवक्षितत्वात् जिरूपसामान्यानुकरणं द्रष्टव्यम्।।- क्षियो दीर्घात् (8/2/46) सूत्रस्य काशिका।

^{3.} पराजेरसोढ: (1/4/26) सूत्रस्य पदमञ्जरीटीका।

वचनस्यानित्यत्वात् धात्वधर्मः निवृत्तौ प्रातिपदिकत्वात् सुप्विभक्तिः योजितुं शक्नोतीति बालमनोरमाकारस्याशयः। परन्तु वचनस्यानित्यतामकृत्वा प्रातिपदिकसंज्ञायाम् अधातुपदे पर्युदासस्वीकारेण अनुकरणेऽपि धातुत्वात् यथा इयङादेशः सम्भवति तथा अनुकरणस्य धातुसदृशात् सुप्विभक्तिः अपि योजनीयमिति पदमञ्जरीकारमतम्। एतयोर्मध्ये ज्ञापकेन सिद्धं वचनं सर्वत्राप्रयुक्तत्वात् तस्यानित्यत्वस्वीकारे न कोऽपि हानिः। परन्तु सुप्विभक्तचर्थं पर्युदासस्वीकारेण इयङादेशकालेऽपि साक्षात् धातुत्वाभावात् इयङादेशाप्रसङ्गः।

अपि च अवाद् ग्रः (1/3/51) इति सूत्रेण अवपूर्वकं तुदादौ पठितस्य गृधातोः आत्मनेपदं विधीयते। अत्र गृधातोः अनुकरणेन सूत्रे ग्रः इत्यत्र पञ्चमीविभक्तौ पठ्यते। अत्रापि प्रकृतिवदनुकरणं भवित इति वचनात् धात्वनुकरणत्वात् ऋृलृत इद्धातोः (7/1/100) इत्यनेन धातोः लृकारस्य इत्वे रपरत्वे गिरः इत्येवं पठनीयम्। परन्तु अनुकार्यधर्मं अनुकरणे नातिदेशात् प्रकृतिवदनुकरणं भवित इत्यस्य अनित्यत्वं सूचितम्। सूत्रस्थ ग्रः इति प्रयोगं तस्यानित्यत्वे प्रमाणमिति बालमनोरमाकारमतम्। गृधातोः ग्रः इति रूपानुकरणात् धातुनिमित्तं इत्वं न भवतीति पदमञ्जरीकारमतम्।

उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु। द्वितीयाम्रेऽडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते इति वार्तिकवचने उभशब्दः उभयः शब्दस्यैकादेशानुकरणम्। संख्यावाचकात् उभशब्दात् उभादुदात्तो नित्यम् (5/2/44) इत्यनेन नित्यम् अयच् आदेशः विहितः। परन्तु अत्र अयच् आदेशं विनापि निर्देशेन ज्ञायते उभशब्दः न संख्यावाचकम् । उभशब्देनात्र असंख्यावाची उभयशब्दः लक्षणया अवगन्तव्यमिति मनोरमाकारस्याशयः। तेन तस्प्रत्ययान्तयोः उभसर्वयोः प्रयोगे द्वितीयाविभक्तिः भवति। अपरं धिग् इत्यत्र अविभक्तिकः निर्देशः क्रियते इति केचित् वदन्ति। परन्तु पदत्वाभावात् विभक्तिरहितनिर्देशः न प्रयुज्यते। अपि च पदत्वाभावात् जशत्वकार्यमपि न भवति। तस्मात् धिग् इत्यत्र विभक्त्यन्तमेव स्वीकरणीयम्। तेन प्रकृतिवदनुकरणं भवति इत्यनेन अनुकार्यस्याव्ययत्वात् अनुकरणे तद्धर्मातिदेशात् अव्ययादाप्सुपः (2/4/82) इत्यनेन सुप्विभक्तेः लोपः स्यात् । लोपेऽपि प्रत्ययलक्षणकार्यात् पदनिमित्तं जशत्वं भवितुं शक्नोति। न च अत्र धिग् इति गकारान्तः अव्ययः। धिकत् इत्यत्र कस्य च दः (5/3/72) इत्यनेन अकच्य्रत्ययान्तसंयोगे ककारस्य दकारः विधानेन धिक् इति

^{1.} प्रकृतिवदुकरणमित्यस्यानित्यत्वाद् 'घ्त इद्धातोः' इति न भवति।- अवाद् ग्रः (1/3/51) सृत्रस्य बालमनोरमा।

अत्र उभशब्दादयच् न कृतः, अनुकरणशब्दत्वेनासंख्यावाचित्वात्। -उपान्वध्याङ्वसः (1/4/48) सूत्रस्य तत्त्वबोधिनी।

^{3. &#}x27;प्रकृतिवदनुकरणम्' इत्यव्ययत्वात्सुपो लुक्। -उपान्वध्याङ्वसः (1/4/48) सूत्रस्य बालमनोरमा।

ककारान्तः अव्ययः विज्ञायते। अतः धिक् इत्यत्र अव्ययत्वारोपे सुपः लोपे जश्त्वे च धिग् इति निर्देशः उपपन्नः। प्रकृतिवदनुकरणात् अनुकरणे अनुकार्यधर्मारोपात् अव्ययत्वात् सुब्लुकि तदुद्दिश्य अविभक्तिकः निर्देशः इति कथनमुचितम्

इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (3/1/135) इति सूत्रेण इगुपधधातुभ्यो ज्ञाधातुभ्यः प्रीधातुभ्यः कृधातुभ्यः कप्रत्ययो भवति। किरः इत्यत्र सुप्प्रत्ययेन व्यवहृतम्। विक्षेपार्थकस्य कृधातोः अनुकरणम्। प्रकृतिवदनुकरणं भवति इत्यनेन कृशब्दानुकरणेऽपि धात्वधर्मं प्रसज्यते²। तेन ऋत इद्धातोः (7/1/100) इत्यनेन कृधातोः ऋतरस्य इत्त्वे रपरत्वे च किरिति रूपं भवति। परिभाषया यथा अनुकार्यस्य धातुत्वं कृशब्दे अनुकरणत्वात् तिन्निमत्तं इत्त्वं भवति, तथा तस्यानित्यत्वात् धातुत्वमपगते सुप्प्रत्ययनिमित्तात् प्रातिपदिकत्वात् किरित्यत्र प्रथमायाः एकवचने किरः इति सिद्धचित। किरः इति प्रयोगेन परिभाषायाः ज्ञापकत्वं स्वीकृतम्।

वोताप्योः (3/3/141) इत्यधिकारसूत्रे वा आ उताप्योः इति छेदः। अत्र आङिति मर्यादार्थे, न तु अभिविध्यर्थे। यतः उताप्योः समर्थयोर्लिङ् (3/3/152) इति सूत्रेण नित्यं लिङ् इष्यते, न तु वैकल्पिकम् अनिष्टापित्तभावात्। तेन उताप्योः समर्थयोर्लिङ् (3/3/152) इत्यतः प्राग् यानि सूत्राणि विधीयन्ते सर्वत्रेव भूते लिङ्निमत्ते क्रियातिपत्तौ लृङ् वा भवतीत्यस्य अधिकारः बोध्यम्। उताप्योः इत्यत्र अविधत्वेन सप्तमी विधीयते। आ उताप्योः इत्यत्र पूर्वं परेण आद्गुणः इत्यनेन गुणे कृते ओताप्योः इति जाते वा ओताप्योः इत्यत्र वृद्धिरेचि (6/1/88) इत्यनेन वृद्धयेकादेशे प्राप्ते तद्बाधित्वो ओमाङोश्च (6/1/95) इत्यनेन पररूपैकादेशे वोताप्योः इति रूपं भवति। अत्र पञ्चम्यपाङ्परिभिः (2/3/10) इत्यनेन आङो योगे पञ्चमी विधीयते। उताप्योः इत्यत्रैव पञ्चमी एव विहितव्या, न तु सप्तमी। परन्तु तद्विधानेन ज्ञायते प्रकृतिवदनुकरणं भवति इति परिभाषया अधिकारमविधत्वं च बोधनार्थं प्रकृतिवदनुकरणेन सविभक्तिकः निर्देशः क्रियते। उताप्योः इत्यत्र प्रत्ययान्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञाभावः, अप्रत्ययः इति प्रतिषेधात्। तेन आङ्योगेऽपि पुनः पञ्चमी न विहिता। सप्तम्यन्तपदत्वात् आङो योगे न पञ्चमी भवति। पदस्य प्रातिपदिकसंज्ञा निषेधार्थम् अप्रत्ययः इत्यस्य योजनम् ।

- यदि तु धिगित्यविभक्तिको निर्देश इत्येतावानेव प्राचां ग्रन्थस्तदा सम्यगेव। अव्ययत्वात्सुपो लुक्यविभक्तिको निर्देश इति वक्तुं शक्यत्वात्। -उपान्वध्याङ्वस: (1/4/48) सूत्रस्य तत्त्वबोधिनी।
- 2. कृशब्दस्य धात्वनुकरणत्वेन प्रकृतिवदनुकरणमित्यदेशाद् 'ॠत इद्धातोः' इति इत्वम्।-इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (3/1/135) सूत्रस्य तत्त्वबोधिनी।
- 3. अत्रोताप्यो: समर्थयोरिति यत्सप्तम्यन्तं तदवधित्वेनोपादीयते, तत्र प्रकृतिवदनुकरणं भवतीत्यनुकरणस्याप्यप्रत्यय इति प्रतिषेधेनाप्रतिपदिकत्वादाङोऽपि योगे पञ्चम्यभावः।– वोताप्यो: (3/3/141) सूत्रस्य पदमञ्जरी।

विभाषाऽग्रेप्रथमपूर्वेषु (3/4/24) इति सूत्रे विभाषा, अग्रेप्रथमपूर्वेषु इति पदद्वयं वर्तते। द्वितीये समासे अग्रे इत्यव्ययम्। प्रकृतिवदनुकरणम् इति परिभाषया अव्ययस्यानुकरणे अग्रशब्दः विहितव्यः। परन्तु परिभाषायाः अनित्यत्वात् वैकल्पिक-त्वाच्च विभक्तेर्लुङ् न कृतः। एवं समुदायगुणीभूतस्यैकदेशस्य पृथक्कृत्यानुकरणं भवति, यथा अस्य वाम इति वाक्यखण्डस्य अस्यवामीयम् इत्युक्ते शब्दस्व-रूपस्यानुकरणे विभक्तेर्लुङ् न क्रियते । अग्रे इत्यत्रापि सप्तम्यन्तस्यानुकरणत्वात् विभक्तर्लुगभावः। अस्य समाधानावसरे बालमनोरमाकारेण परिभाषायाः अनित्यत्वं नोक्तम्, अपि तु अग्रे इत्यस्य एदन्तं निपातनात्।

तिर्यच्यपवर्गे (3/4/60) इति सूत्रेण तिर्यक्शब्दे उपपदे कुधातो: क्ताणमुलौ स्तः अपवर्गे समाप्तौ गम्यमाने। यथा तिर्यक्कृत्य गतः, तिर्यक्कृत्वा गतः। तिरस् अञ्च क्विन् इत्यत्र क्विन्प्रत्ययस्य सम्पूर्णलोपेऽपि तिन्निमित्ते तिरस् अञ्च इत्यस्य प्रातिपदिकसंज्ञायां अनिदितां हल: उपधाया: विङत्ति (6/4/24) इत्यनेन अञ्च इत्यस्य जकारस्य लोपे तिरस् अच् इति प्रातिपदिकं भवति। सप्तम्येकवचने तिरस् अच् ङि इत्यत्र अनुबन्धलोपे अजादिविभक्तौ **यचि भम्** (1/4/18) इत्यनेन अङ्गस्य भसंज्ञायां अचः (6/4/138) इत्यनेन लुप्तनकारस्य भसंज्ञकस्य अञ्चतेः अकारस्य लोपे श्चुत्वे तिरस् च् इ. तिरश्चि इति रूपं सिद्ध्यिति। तर्हि सूत्रे तिर्यचि इति निर्देश: अयुक्त:। प्रकृतिवदनुकरणेन भसंज्ञायां सत्याम् अच: इत्यनेन अकारलोपे तिरिश्च इत्येव भवितव्यम्। अत्र तिर्यवशब्दस्य रूपानुकरणम्, न तु लौकिकार्थवत्त्वस्य। अञ्चे: स्वार्थे वर्तमाने अल्लोपो भविष्यति। अत्र तिरश्चि इति प्रयोगे यादुशं रूपानुकरणिमष्टं तादृशं न प्रतीयते। तेनात्र प्रकृतिवदनुकरणे कार्यं न भविष्यतीति पदमञ्जरीकारमतम्। सर्वदा अनुकरणे प्रकृतिवद् कार्ये अनुक्रियमाणस्य रूपविनाश-प्रसङ्गः। यथा एतदोऽश् (5/3/5), **अदसो मात्** (1/1/12) इत्यत्र एतदः, अदसः इति सर्वनामे प्रकृतिवद् कार्ये सति षष्ठ्येकवचने एतस्य, अमुष्य इति रूपं स्यात्²। पुन: गवाश्वप्रभृतीनि च (2/4/11) इति सूत्रे गोशब्दस्य प्रकृतिवदनुकरणे अवादेश:, पटिति करोति इत्यादौ अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ (6/1/98) इत्यनेन इति परे अतु इत्यस्य पररूपैकादेशे अनुकरणे प्रकृतिवदु कार्ये अनुक्रियमाणस्य रूपविनाशेऽपि अनुकार्यस्य प्रतिपादकं भवति। अतः क्वचिद्नुकरणं प्रकृतिवद्भवति, क्वचिन्नेति पदमञ्जरीकारमतम्। शब्दरूपमात्रस्य अर्थपदार्थस्य चेति द्विविधमनुकरणम्। अत्र

^{1. &#}x27;प्रकृतिवदनुकरणम्' इत्यस्य वैकल्पिकत्वाद्विभक्तेर्लुङ् न कृतः अस्यवामीयमितिवत्-विभाषाऽग्रेप्रथमपूर्वेष् (3/4/24) सूत्रस्य तत्त्वबोधिनी।

^{2. &#}x27;तिर्यचि' इति शब्दानुकरणम्। न च प्रकृतिवदनुकरणेन भवितव्यम्; अनुक्रियमाणरूप-विनाशप्रसङ्गात्- 'एतदोऽश', 'अदसो मात्' इति।। -तिर्यच्यपवर्गे (3/4/60) सूत्रस्य काशिका।

शब्दपदार्थको तिर्यक्छब्दस्यानुकरणम्, न तु स एव। तेन शब्दान्तरत्वादकारलोपो न भवति। अत्रापि प्रकृतिवदनुकरणे कार्ये कृताकारलोपे यादृशः तिर्यक्शब्दः इष्टः, तादृशं न प्रतीयते। अतः प्रकृतिवदनुकरणं तत्रैव भवति यत्र अर्थपदार्थस्यानुकरणं भवति। अर्थपदार्थस्यानुकरणे प्रकृतिवद् कार्यं भवति। तिर्यचि इत्यत्रापि शब्दपदार्थ-कस्यानुकरणे प्रकृतिवदनुकरणेन कार्यं न भवतीति न्यासकारमतम्। परिभाषायाः किमपि विचारमकृत्वा सौत्रनिर्देशात् तिर्यचि इत्येवं भवतीति भाष्यकारेणोक्तम्। अतः क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः इत्येवं व्यवहाराद् परिभाषायाः अनित्यतां ज्ञापयति।

अन्वच्यानुलोम्ये (3/4/64) इति सूत्रेण अन्वक्शब्दे उपपदे भूधातोः क्त्वाणमुलौ स्तः आनुकूल्ये गम्यमाने। यथा- अन्वग्भूय आस्ते, अन्वग्भूत्वा आस्ते। अत्र अनुपूर्वके अञ्चधातोः क्विन्प्रत्यये धातोनकारलोपे प्रत्ययलोपे च अनु अच् इति स्थिते सप्तम्येकवचने अचः (6/4/138) इत्यनेन अकारलोपे चौ (6/3/138) इत्यनेन उकारस्य दीर्घादेशे अनूचीति रूपं निर्देष्टव्यम्। द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत् (4/2/101) इति सूत्रे प्रतीचः इतिवत् प्रयोगमुचितम्। न चात्र लोके अर्थप्रसिद्धत्वात् शास्त्रे अनुकरणे अनुकार्यवद् प्रकृतिवद्वा कार्याभावः इति वक्तव्यम्। तथा सित क्षियो दीर्घात् (8/2/46), द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत् (4/2/101) इत्यादौ इयङादेशादयः न सिद्ध्यन्ति। तेन प्रकृतिवदनुकरणमित्यस्य वैकल्पिकत्वात् सर्वत्र तस्या प्रयोगो न भवति। तेन अन्वचि, तिर्यचि इत्यादौ न दोषः अस्मिन् पक्षे परिभाषायाः प्रयोगाभावे अनुकरणं न अनुकार्यतुल्यो। अनुकरणं न मूलशब्दः। द्वयोः भिन्नत्वात् प्रकृतिवद् कार्यस्यापि अप्राप्तिः।

डिगाप्रातिपदिकात् (4/1/1) इति सूत्रे ङीश्च आप्च प्रातिपदिकञ्चेति विग्रहे समाहारद्वन्द्वे ङ्याप्प्रातिपदिकम् इति भवति। इतरेतरयोगिनवृत्त्यर्थं समासान्तर-निवृत्त्यर्थञ्च समाहारनिर्देशः। अप्रत्ययः इत्यनेन प्रत्यये प्रातिपदिकसंज्ञाप्रतिषेधात् ङीश्च इत्यत्र कथं विभक्तिरुत्पत्तिः। अत्र ङीति न स्वयं प्रत्ययः, अपि तु प्रत्ययस्यानुकरणत्वात् अप्रत्ययः इति निषेधस्याप्रवृत्तिः इति वक्तुं न शक्यते। प्रकृतिवद्नुकरणं भवति इत्यनेन अनुकरणं प्रकृतिवद्भावात् प्रत्ययत्वादप्रत्ययः इति प्रतिषेधे ङी इत्यत्र प्रातिपदिकाभावात् विभक्तिः न स्यात्। वस्तुतः अर्थमात्रं शब्दमात्रञ्चेति अनुकरणं द्विविधः। अर्थवदनुकरणे प्रकृतिवद्भावः भवति। यतः परिव्यवेभ्यः क्रियः (1/3/18) इत्यत्र कृधात्वनुकरणात् इयङादेशः अपरं विपराभ्यां जेः (1/3/19) इत्यत्र इयङादेशाभावात् अनुकरणस्य द्वैविध्यं ज्ञायते। अत्रापि शब्दमात्रस्यानु-

वस्तुतस्तु 'प्रकृतिवदनुकरण'मित्यस्य वैकिल्पकत्वादन्वचीत्यादिनिर्देशे तु न दोष:। वैकिल्पकत्वं च 'यत्तदेतेभ्यः' इति सूत्रे त्यदाद्यत्वस्य करणादेकशेषाऽभावदर्शनाच्च निर्णीयत इति प्रागेव प्रपञ्चितम्। –अन्वच्यानुलोम्ये (3/4/64) सूत्रस्य तत्त्वबोधिनी।

करणत्वात् प्रकृतिवदितदेशः न भवति। तेनाप्रत्ययत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञाप्रतिषेधः न स्यात्। तेन प्रातिपदिकात् विभक्तिरुत्पत्तौ ङीश्च इत्येवं भवति, न त् ङीमात्रम्। न च व्यपदेशिवद्भावेन ङचन्तात् हल्ङचाङभ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल् (6/1/68) इत्यनेन विसर्गस्य लोपप्राप्ति:। यत: व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन¹ इति परिभाषया प्रातिपदिके व्यपदेशिवद्भावो निषद्ध्यते। अत्र **पूर्वादिनिः** (5/2/86), **सपूर्वाच्य** (5/2/87) इति पृथक्सूत्रकरणं ज्ञापकम्। पूर्वात्सपूर्वादिनि इत्येकसूत्रकरणेनैव व्यपदेशिवद्भावाश्रयणेन केवलपूर्वशब्दाद्पि प्रत्ययविधानं कर्तुं शक्नोति। पूर्वादिनि (5/2/86) इत्यस्यावश्यकता नास्ति। तथापि आचार्येण पृथग्योगकरणात् ज्ञायते प्रातिपदिकग्रहणे व्यपदेशिवद्भावो न स्वीक्रियते²। तेन ङीत्यत्र प्रातिपदिकात् विभक्तचलोप:। प्रत्ययविधौ एव प्रातिपदिके व्यपदेशिवद्भावप्रतिषेध: प्रवर्तितत्वात् सुलोपशास्त्रे सः अप्रयुक्तः। तेनात्र प्रातिपदिकेऽपि व्यपदेशिवद्भावेन सुलोपे ङी चेति रूपं भवति, सामान्येन परिभाषाप्रवृत्तिमाश्रित्य प्रातिपदिकत्वात् व्यपदेशिवद्भावाप्राप्तौ सुलोपाभावे ङीश्च इत्येवं भवितुमर्हतीति न्यासकारमतम् । प्रयोगे गौरीकुमारीतिवत् अत्रानुकृता ङीत्यत्रैव लुप्तविभक्तिक: निर्देश: इति केचिदाहु:। न ङिसम्बुद्ध्यो: (8/2/8) इति ज्ञापकात् प्रत्ययलक्षणमाश्रित्य अप्रत्यय: इत्यनेन प्रातिपदिकसंज्ञा न प्रतिषिध्यते। तेनात्रानुकरणे अर्थवत्त्वेन प्रातिपदिकत्वात् पुनः विभक्तिरुत्पत्तेः शङ्का स्यात्। तस्मान् ङीश्च इत्येवं भवति। नैतदस्ति, नलोपविषये एतज्ज्ञापकम्। तेनात्र प्रत्ययलक्षणमाश्रित्य अप्रत्यय: इत्यनेन प्रातिपदिकसंज्ञाया: प्रतिषिद्धत्वात पुन: विभक्तिरुत्पत्तिः न भवति।

सर्वपुरुषाभ्यां णढञौ (5/1/10) इति सूत्रेण हितार्थे सर्वपुरुषाभ्यां णढञौ प्रत्ययौ भवत:। तेन सर्वेभ्यो हितम् सार्वम्। परन्तु सर्वाण्णस्य वा वचनम् इति वार्तिकेन सर्वशब्दात् केवलं विकल्पेन णप्रत्ययः भवति, न नित्यम्। प्रकृतसूत्रेण नित्ये विहिते वार्तिकेन वैकल्पिकत्वं विधीयते। तेन पक्षे छप्रत्यये सर्वेषां हितम् सर्वीयम्। अत्र सर्वशब्दस्य सर्वनामत्वात् सर्वस्माद् इत्येवं कथनमुचितम्। प्रकृतिवदनुकरणेन सर्वनामवद् व्यवहारमुचितम्। परन्तु शब्दमात्रस्यानुकरणत्वात्र प्रकृतिवदतिदेशः सर्वनामानां अन्वर्थसंज्ञासिद्धाद् अर्थाश्रितानुकरणाभावाद्

^{1.} परिभाषेन्दुशेखरः, शास्त्रत्वसम्पादकप्रकरणम्, 32

^{2.} पूर्वात्सपूर्वादिनिरित्येकयोगे एव कर्त्तव्ये पृथग्योगकरणमस्या ज्ञापकम्। -परिभाषेन्दुशेखरः, शास्त्रत्वसम्पादकप्रकरणम्, 32

^{3.} अत: सुलोपेन भवितव्यम्- ङी चेति। सामान्येन परिभाषाप्रवृत्तिमाश्रित्य ङीश्चेति विग्रह:।- ङ्याप्प्रातिपदिकात् (4/1/1) सूत्रस्य न्यासटीका।

^{4.} स्वरूपपरत्वात्र सर्वनामकार्यम्।- सर्वपुरुषाभ्यां णढञौ (5/1/10) सूत्रस्य बालमनोरमा।

सर्वनामकार्याभावः । अपि च अनुकरणशब्दः मूलशब्दाद् भिन्नत्वात् सर्वनाम-कार्याभावः ।

यत्र शब्दानुकरणत्वाद् प्रकृतिवद् कार्याभावः उच्यते, तत्रानुकरणं प्रकृतिवदिप स्वरूपपरत्वात् तिन्निमत्तं कार्याभावः। अपरं तु केवलं अनुकरणत्वात् कार्याभावः इत्युक्तं तत्रानुकरणं न प्रकृतिवद्। मूलप्रकृत्यनुकरणोर्मध्ये भेदः अस्ति। परन्तु प्रथमे मते तयोर्मध्ये भेदः नास्ति। अनुकरणं तत्र प्रकृतिवद् शब्दानुकरणम्। तस्माद् कार्याभावः। परमते उभयोभिन्नत्वात् कार्याभावः इति उभयोर्मध्ये सुक्ष्मभेदः।

मतौ छः सूक्तसाम्नोः (5/2/59) इति सूत्रेण मत्वर्थे प्रातिपदिकात् छप्रत्ययो भवति सूक्तसाम्नोः अभिधेये। तेन अच्छावाकशब्दोऽस्मिन्निति अच्छावाकीयं सूक्तम्, अस्यवाम इत्यस्मिन्नस्तीति अस्यवामीयम्। अत्र षष्ठीविभक्ते: दर्शनात् पदसमुदायोऽयम्। पदसमुदायात्मकस्य समासस्यैव प्रातिपदिकसंज्ञा सिद्ध्यतीत्यत्र समासग्रहणं नियमार्थम्। तेन अस्यवामशब्दस्य प्रातिपदिकत्वाभावात् प्रत्ययो न प्राप्नोति। अत्र अनुकरणस्वरूपं न विवक्षितम्, अपि त् अनुकार्यस्वरूपम्। गवादौ यथा सास्नादिमदाकृतिमर्थे मतुप्प्रत्यये गोमान्, वृक्षवानिति पदं भवति। तथैव अनुकरणशब्दाः समर्थप्रथमान्ताः स्वेनानुकार्य-विदित्यर्थे छप्रत्ययो भविति । अनुकार्यशब्दाः पदसमुदायः, न तु अनुकरणशब्दाः। द्वयोः रूपभेदाभावादपि अर्थभेदोऽस्ति। अनुकार्यस्य बाह्यार्थः, अनुकरणस्य तु तदेवानुकार्यम्। तेन अस्यवामीयमित्यत्र विभक्तचर्थप्रतिपादनाभावात् सुप्त्वाभावात् षष्ठ्याः लुग् न भवति। अत्र प्रकृतिवद् परिभाषायाः अनित्यत्वमाश्रित्य सुबलुकः 4। अत्र अनेकपदत्वं नास्ति यत: अस्य वामस्य इति वेदे यत्पठितं तदेकदेशस्य अस्यवामशब्दस्य प्रतिपादकः भवति छप्रत्ययप्रकृतिरस्यवामशब्दः। प्रतिपादकत्वादर्थवत्त्वे सित पदसमुदायत्वाभावात् प्रातिपदिकत्वात् छप्रत्यये अस्यवामीयमिति रूपं भवतीति पदमञ्जरीकारमतम्। अनुकरणशब्दाः स्वरूपमात्रप्रधानत्वादर्थवत्त्वे प्रत्ययकार्यं सिद्ध्यिति। अस्यवामशब्दस्यानुकरणात् वाक्यत्वं न स्वीकरणीयम्⁵।

^{1. &#}x27;सर्वनामानि' इत्यन्वर्थसंज्ञाविज्ञानात् 'प्रकृतिवदनुकरणम्' इत्यपि सर्वनामत्वं न भविति; अनाश्रितार्थस्य शब्दरूपस्यानुकरणात्।- सर्वपुरुषाभ्यां णढञौ (5/1/10) सूत्रस्य पदमञ्जरी।

^{2.} अनुकरणत्वासर्वनामकार्याभाव:।- सर्वपुरुषाभ्यां णढञौ (5/1/10) सूत्रस्य तत्त्वबोधिनी।

^{3.} इह हि प्रथमासमर्थादस्तिना समानाधिकरणात् प्रत्ययो विधीयते।- मतौ छ: सूक्तसाम्नो: (5/2/59) सूत्रस्य न्यासटीका।

^{4. &#}x27;अस्यवामस्य' इत्यस्य एकदेशानुकरणमस्यवामेति। तस्माच्छः। अस्यवामशब्दसंयुक्तमित्यर्थः। प्रकृतिवदनुकरणमित्यस्यानित्यत्वात्सुपो लुक्।- मतौ छः सूक्तसाम्नोः (5/2/59) सूत्रस्य बालमनोरमा।

न चास्यवामप्रभृतीनां वाक्यत्वम्; अनुकरणशब्दत्वात्। नाप्यनर्थकत्वम्; स्वरूपमात्रेणार्थव-त्वात्।- मतौ छ: सूक्तसाम्नो: (5/2/59) सूत्रस्य न्यासटीका।

साज्ञाद् द्रष्टिर संज्ञायाम् (5/2/91) इति सूत्रेण द्रष्टार्थे साक्षात्शब्दादिनि प्रत्ययो भवित संज्ञार्थे अवगम्ये। अत्र संज्ञार्थे साक्षात् इति शब्दग्रहणात् उपद्रष्टेव बोध्यते न तु दाता, ग्रहीता वा। साक्षात्शब्दोऽत्र अव्ययत्वात् प्रकृतिवदनुकरणत्वात् पञ्चम्या लुक् भविति । उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य (8/4/61), अवाच्चालम्बना-विदूर्ययोः (8/3/68) इत्यादौ प्रकृतिवदनुकरणम् इत्यतिदेशस्य वैकिल्पकत्वेनाव्यया-भावात् सुबलुकः। यथा साक्षाद् द्रष्टा साक्षी। अत्र अव्ययानां भमात्रे टिलोपः भवित। स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षि (2/3/39) इत्यत्र नकारान्तस्य साक्षिशब्दस्य प्रयोगः निपातनात् सिद्धः। उपद्रष्टार्थे नकारान्तः साक्षिशब्दः नािभप्रेतः।

एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हिल (6/1/132) इति सूत्रे एतत्तदोः पदे प्रकृतिवदनुकरणेन कार्यं न भवित। यतः त्यदादीनामः (7/2/102) सूत्रेण त्यदादिगणस्य शब्दानाम् दकारस्याकारेशः न क्रियते। प्रकृतिवदनुकरणस्य वैकल्पिकत्वादत्र अत्वं न। अपि च 'त्यदादीनां मिथः सहोक्तौ यत्परं तिच्छिष्यते' इत्यनेन एकशेषं न क्रियते सौत्रत्वात्। अत्रैकशेषस्य त्यदाद्यत्वस्य चाभाव आर्षप्रयोगः इति बालमनोरमाकारमतम्।

वस्तुतः प्रकृवदनुकरणं भवित इत्यनेन प्रकृतिवदितदेशः वैकिल्पकः। तेन कृ विक्षेपे, तृ प्लवनतरणयोः इत्यनयोः धातुपितयोः अनुकरणे प्रकृतिवदनुकरणात् धात्वधर्मं विविक्षिते ऋृत इद्धातोः (7/1/100) इत्यनेन इत्वं रपरत्वं च भवित। पुनः अनुकार्याभ्यां अनुकरणयोरर्थवत्त्वेन प्रातिपिदकात् सुबुत्पित्तः। न च प्रकितवदनु—करणादनुकरणयोः धातुत्वे अधातुरिति पर्युदासात् प्रातिपिदकत्वाभावः। यतः क्विचत् पिरभाषया प्रकृतिवद् कार्यं सिद्ध्यित, क्विचन्ने। तेन कीः, किरौ, किरः इत्यादौ अतिदेशभावमादाय धातुत्वादित्त्वम्, अपरं अतिदेशाभावपक्षे धातुत्वाभावात् प्रातिपिदकाच्च सुबुत्पित्तःः। सूत्रे वैपरीत्यिनर्देशेन परिभाषायाः वैकिल्पकत्वं सूचितम् अपि च परिभाषायाः अनित्यत्वात् 'नुमिचरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन' इत्यत्र अचीत्यस्य समासे निविष्टऽपि न विभक्तेः लुक् भवित।

साक्षादित्यव्ययम्, इह शब्दस्वरूपपरं लुप्तपञ्चमीकम्। -साक्षाद्वष्टिर संज्ञायाम् (5/2/91) सूत्रस्य बालमनोरमा।

^{2. &#}x27;यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्' इत्यत्र त्यदाद्यत्वनिर्देशात् 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्' इत्येक-शेषाकरणाद् 'ग्रो यङि' 'क्षियो दीर्घात्' इत्यादौ धात्वनुकरणे विभक्तिनिर्देशाच्च प्रकृतिवदनुकरणमिति पाक्षिकम्। -नृ च (6/4/6) सूत्रस्य बालमनोरमा।

^{3. &#}x27;कॄ''तॄ' अनयोरनुकरणे 'प्रकृतिवदनुकरणम्' इति वैकल्पिकातिदेशादित्त्वे रपरत्वे की:, किरौ, किरः। ती:, तिरौ, तिर इत्यादि गीर्वत्। -नृ च (6/4/6) सूत्रस्य सिद्धान्तकौमुदी।

^{4. &#}x27;यत्तदेतेभ्यः परिमाणे' इति निर्देशोऽत्र लिङ्गम्। भविति हि तत्र त्यदाद्यत्वकरणादनुकरणस्य प्रकृतिवत्त्वम्, एकशेषाभावदर्शनाच्च वैकल्पिकत्विमिति।- नृ च (6/4/6) सूत्रस्य तत्त्वबोधिनी।

^{5.} रात्सस्य (8/2/24) सूत्रस्य वार्तिकम्।

सन्दर्भसूची

- 1. जोशी, भार्गव शास्त्री भिकाजी, सम्पादक: (प्रथमभाग: 2014)। व्याकरण-महाभाष्यम् (भाष्यप्रदीपोद्द्योतसमुल्लसितम्)। दिल्ली: चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान।
- 2. ताताचार्य, एन्.एस्. रामानुज, सम्पादक: (2002)। ज्ञापकसंग्रह: (विवृति-सिंहता)। तिरुपति: राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ।
- त्रिपाठी, जयशङ्करलाल, सुधाकरमालवीय च सम्पादकौ (प्रथमभाग: 2016)।
 काशिका (न्यास-पदमञ्जरी-भावबोधिनी सिंहता)। वाराणसी: तारा बुक एजेन्सी।
- 4. पञ्चोली, बालकृष्ण, सम्पादक: (प्रथमभाग: 1966)। वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी (लक्ष्मीव्याख्या सहिता)। दिल्ली: मोतिलाल बनारसी दास।
- 5. शर्मा, गिरिधर परमेश्वरानन्द च सम्पादकौ (प्रथमभाग: 2010)। वैयाकरण-सिद्धान्तकौमुदी (बालमनोरमा-तत्त्वबोधिनी-सिहता)। दिल्ली: मोतीलाल बनाररसीदास।
- 6. शर्मा, अमिता, सम्पादक: (1995)। ज्ञापकसमुच्चय। दिल्ली: नाग प्रकाशक।



स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा इति सूत्रस्य समीक्षणम्

-डा. मलयपोडे*

ISSN: 0975-1769

शोधसार: -

लौकिकव्यवहारे प्रयुक्तानां शब्दानां शिष्टत्वसम्पादकेषु व्याकरणशास्त्रेषु लोकवेदोभयोपकारित्वात् पाणिनीयं व्याकरणं सर्वातिशायि। तत्र शब्दान्वाख्यानवेलायां शब्दादर्थप्रतीते: 'अग्नेर्ढक्' इत्यादिषु सूत्रेषु 'अग्न्यर्थात् ढक्' इत्याद्यर्थः स्यादित्याक्षेपाद् अग्निराजादिवाचकात् पर्यायमात्रात्क्रमशो ढग्यदादिप्राप्तेः तिन्नवृत्तिपरकमनुशासनं प्रोक्तं पाणिनिना 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' इति। अत्र स्वपदेन अर्थस्य रूपपदेन शब्दस्वरूपस्य ग्रहणम्। अशब्दसंज्ञा नाम शब्दशास्त्रे या संज्ञा तां विना इति। इत्थं पर्यालोचनेन सूत्रार्थः समागतः शब्दस्य बोध्यः संज्ञी भवति अर्थविशिष्टः शब्दः (अर्थविशिष्टं रूपम्), शब्दशास्त्रीयसंज्ञां वर्जियत्वा।

अर्थविशिष्टस्य शब्दरूपस्य संज्ञित्वाद् अर्थविशिष्टस्यैव शब्दस्य शास्त्रे ग्रहणं नानर्थकस्य। एतेन "अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम्" इति परिभाषा सिद्धा, अतः परिभाषा न कर्तव्या। नागेशनये तु अनेन सूत्रेणार्थवत्परिभाषा, गौणमुख्यन्यायः, अभिव्यक्तपदार्थन्यायश्च सिद्धो भवति। सूत्रमिदं नियमसूत्रं परिभाषां संज्ञासूत्रं वा इति विचार्यमाणे तत्र निष्कर्षः समायातः यद् लिङ्गवती लिङ्गाभावात् विध्यन्तरशेषभावात् नेयं परिभाषा नापि नियमः अपि तु संज्ञासूत्रम् इदम्। विशिष्टरूपोपादाने अस्य सूत्रस्य प्रवृत्तिः।

शब्दानां शब्दे अर्थे च पृथक् पृथक् शक्तिः इति स्वीकारात् सूत्रमिदं महाभाष्ये प्रत्याख्यातम्। नागेशभट्टः काशिकाकारादयः अपि प्रत्याख्यानपक्षम् अवलम्बन्ते, अतः सूत्राभावेऽपि अर्थवत्पिरभाषादिसिद्धिः, सूत्राभावे लाघवं, तत्सत्त्वे गौरवञ्च नागेशेन प्रतिपादितम्। सूत्रस्याभावे अपि लक्ष्यानुसारिव्याख्यानादेव सर्वं सिध्यित। वस्तुतस्तु लक्ष्यैकचक्षुष्काणां नये सूत्रं नापेक्षते परन्तु लक्षणैकचक्षुष्काणां नये पाणिनिप्रणीतसूत्रस्य कस्यचिदिप वर्णस्य महाभाष्यकारेण आनर्थक्या-स्वीकारात् सूत्रम् अपेक्षते एव इति शिवम्।

^{*} सहायकप्राध्यापकः, राणीबाँधसर्वकारीयमहाविद्यालयः, बाँकुडा - ७२२१३५, पश्चिमबङ्गः

प्रमुखशब्दा: - अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम्, अशब्दसंज्ञा, गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्यय:, ज्ञापकानित्यत्विवचार:, विशिष्टरूपोपादानम्, शब्दे अर्थे च शक्ति:, सूत्राभावे लाघवम्, सूत्रपक्षे गौरवम् स्वं रूपम्।

1. उपोद्घातः-

लौकिकव्यवहारे प्रयुक्तानां शब्दानां शिष्टत्वसंरक्षणाय हि प्रकृतिप्रत्ययविभागद्वारा शब्दान्वाख्यायकं व्याकरणशास्त्रं प्रवृत्तम्। प्रवृत्तेषु व्याकरणशास्त्रेषु लोकवेदोभयोपकारित्वात् पाणिनीयं व्याकरणं सर्वाणि व्याकरणान्यतिशेते। अत्र शब्दान्वाख्यायकम् अनुशासनं भवति पाणिनिप्रणीता अष्टाध्यायी। भिन्नेष्वर्थेषु प्रत्ययविधानाय भिन्नानि सूत्राणि प्रणीतानि। तत्रैवाक्षेपः समायाति यत् लोके अग्निमानय, राजानं पश्येत्यादिप्रयोगाद् अग्निराजरूपार्थस्य प्रतीतिर्भवति। एवं व्याकरणे 'अग्नेर्ढक्', 'राजश्वशुराद्यत्' इत्यादिषु सूत्रेषु 'अग्न्यर्थात् ढक्', 'राजश्वशुराद्यर्थाद्यत्' इत्याद्यर्धः स्यात्। आक्षेपस्योत्तरमुच्यते यद् व्याकरणे तथा न सिध्यति, ढको यतश्च शब्दत्वेनार्थात्परत्वासम्भवात् 'प्रातिपदिकात्' इत्यधिकारस्यार्थेन सहान्वयाभावात् सूत्रवैयर्थ्यापत्तेः। एवञ्चेद् अग्निराजादिवाचकात् पर्यायमात्रात् क्रमशो ढग्यदादयो भवन्तु इत्यभिप्राये सञ्जाते, तन्निवृत्तिपरकमनुशासनं प्रोक्तं पाणिनिना 'स्वं रूपम्' इति। संज्ञासूत्रमिदं पाणिनिप्रणीताया अष्टाध्याय्याः प्रथमाध्यायस्य प्रथमपादस्य अष्टाषच्तिनमं सूत्रम्।

2. सूत्रव्याख्यानम्-

स्वं रूपं शब्दस्येति एकं वाक्यम्। अशब्दसंज्ञा इति द्वितीयं वाक्यम्। सूत्रमिदं पदचतुष्टयात्मकम्। बोध्यमित्यध्याह्वियते। बोध्यमित्यस्याध्याहारः कथिमिति चेदुच्यते–तत्पदाभावे 'वृद्धिरादैच्' इत्यादिसूत्रवत् समानविभक्तिकत्वाभावात् संज्ञासूत्रं न स्यात्, तिसद्धये बोध्यमित्यस्याध्याहारः। एवं शब्दस्य स्वं रूपं संज्ञि बोध्यत्वात्, संज्ञा शब्दो बोधकत्वाच्च। ननु संज्ञासंज्ञिनोर्मध्ये बोध्यबोधकभावसम्बन्धसत्त्वात् कथं सिध्यति सामानाधिकरण्यमिति चेदुच्यते– यद्यपि वस्तुस्थित्या बोध्यबोधकभावापत्रयोः सामानाधिकरण्यं नोपपद्यते, किन्तु शब्दार्थयोस्तादात्म्य–स्वीकारात्सूत्रकारेण "अदेङ् गुणः" "भूवादयो धातवः" इत्येवंक्रमेणोपन्यासः कृतः।

शब्दस्येत्यत्र 'कृत्यानां कर्तिर वा' इत्यनेन कर्तिर षष्ठी। अत्र षष्ठी वास्तवभेदासत्त्वेऽपि बौद्धिकभेदमाश्रित्य किल्पतेति न्यासकारस्य मतम्। तथाह्युक्तं तेन- "स्वं रूपं शब्दस्य स्वभावः।....असत्यिप तु वास्तवे भेदे बुद्धिविरचितं भेदमाश्रित्य षष्ठी भवति। बुद्धिर्हि स्वबीजपरिपाकवशादाकारिवशेषपरिग्रहवत्युप-जायमाना वस्तुनोऽसत्यिप भेदे भेदमापादयित, यथा राहोः शिरः, स्वस्य स्वभावः।" इति।

^{1.} न्यासपदमञ्जरीसहिता काशिका, न्यास:, पृ 209

सकलशास्त्रपारावारिणा वैयाकरणकेसिरणा पण्डितसभापितशर्मोपाध्यायेन संज्ञासिज्ञिविषये अत्र स्वािभप्रायः स्वरचितायां लक्ष्मीटीकायां प्रस्तुतः। तस्य मते तु शब्दस्य संज्ञात्वे "प्रत्युच्चारणं शब्दा भिद्यन्ते" इति न्यायेन संज्ञाभूता सूत्रस्था शब्दरूपा व्यक्तिरनेका तथा लक्ष्यस्था संज्ञिभूता अपि अनेका स्यात्। तेन च "अनाकृतिः संज्ञा, आकृतिमन्तः संज्ञिनः" इति एका संज्ञा अनेके संज्ञिन इत्येतत्तात्पर्यकस्य भाष्यस्य विरोध आपद्येत। अतः सूत्रे शब्दस्येत्यत्र शब्दगतजातेरित्यर्थः स्वीकार्यः। तेन शब्दगता जाितः संज्ञा, जातेरेकत्वादिति न भाष्यविरोधः। अत्र च हिरिप्रमाणं–

संज्ञिनीं व्यक्तिमिच्छन्ति सूत्रग्राह्यामथापरे। जातिप्रत्यायिता व्यक्तिः प्रदेशेषुपतिष्ठते॥ इति।

2.1. स्वं रूपं शब्दस्येत्यंशतात्पर्यविचार:-

रूपं नाम शब्दस्वरूपम् आनुपूर्वी वा। शब्दस्य स्वमेव रूपं भवति। स्वशब्देन रूपमेव ग्राह्मम्। स्वशब्देनार्थस्य ग्रहणं नैव सिध्यति। अत्र हि कारणत्रयमस्ति³-

- 1) शक्तिज्ञानाधीना भवति अर्थोपस्थिति:। शक्तिज्ञानमनपेक्ष्यैव स्वरूपज्ञानं सिध्यतीति अर्थादन्तरङ्गं भवति शब्दस्वरूपम्।
- 2) पर्यायैरपि अर्थस्योपस्थितिर्भवति। यथा राजन्पर्यायै: नृप-नृपति-भूपालादिशब्दैरपि सम्राड्रूपार्थस्य प्रतीतिर्भवति। एवमर्थः स्वपरसाधारणः। किन्तु स्वरूपं न स्वपरसाधारणम्, तद्भ्यसाधारणम्।
- 3) अभेदानुकरणस्थले हि सादृश्येन प्रतीतिर्भवति। तत्र स्वरूपमुपस्थितं भवति किन्तु अर्थो नोपतिष्ठत इति अर्थो रूपापेक्षया नियतोपस्थितिक:।

एवञ्च कारणत्रयसत्त्वात् स्वशब्देन रूपस्यैव ग्रहणं कार्यं न शब्दस्येति सिध्यति। प्रदीपे चोक्तं- "प्रतीतावुपदेशानपेक्षत्वादन्तरङ्गत्वादहेयत्वादसाधारणत्वाच्च रूपमेव ग्रहीष्यते"⁴ इति।

एवं स्वशब्देन रूपग्रहणे सिद्धे रूपग्रहणं किमर्थमिति प्रश्न: समायाति। अत्रोत्तरमुच्यते स्वशब्देन बहिरङ्गस्य साधारणस्यानियतोपस्थिकस्यापि अर्थस्य ग्रहणार्थं रूपग्रहणं चिरतार्थम्। अत्रोक्तं भाष्यकृता- "एवं तर्हि सिद्धे सित यद्रूपग्रहणं करोति

^{1.} वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी लक्ष्मीटीका, पृ. 67

^{2.} वाक्यपदीयं ब्रह्मकाण्डम्, कारिका- 69

^{3.} वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी लक्ष्मीटीका, पृ. 68

^{4.} न्यासपदमञ्जरीसहिता काशिका, न्यास:, पृ. 210

तज्ज्ञापयत्याचार्य:- अस्त्यन्यद् रूपात्स्वं शब्दस्येति। किं पुनस्तत्। अर्थः।" इति। एवञ्च स्वशब्देनात्मीयवाचिना सूत्रे अर्थस्य ग्रहणम्। रूपं च शब्दस्वरूपम्। उक्तं हि दीक्षितवृत्तौ- "शब्दस्य स्वं रूपं संज्ञि स्यात्।" इति। अर्थस्य हि प्रत्ययेन सह पौर्वापर्याभावाद् व्याकरणे शब्दस्यैव प्राधान्यादत्र अर्थरूपयोर्मध्ये अर्थस्य विशेषणत्वं शब्दस्य विशेष्यत्विमिति राद्धान्तो भाष्यकृत्-कैयट-दीक्षित-नागेशाभिमतः।

काशिकाकृता तु वृत्तौ- "शास्त्रे स्वमेव रूपं ग्राह्यं बोध्यं प्रत्याय्यं भवित, न बाह्योऽर्थः, शब्दसंज्ञां वर्जियत्वा।" इत्यर्थों लिखितः। अत्र स्वमेव रूपिमत्यत्राव-धारणार्थकस्य एवशब्दस्य प्रयोगात् स्वं रूपं च तस्य मते समानिमिति भाित। तत्र न्यासे तदुक्तिस्वारस्यमुक्तं- "अग्निशब्दादौ शब्दान्तरैः साधारणमिप रूपमिस्त शब्दत्वादि, असाधारणमिप अग्निशब्दत्वादि, तत्र साधारणरूप-व्युदासेनासाधारणस्याग्नि-शब्दत्वादिरूपस्य परिग्रहार्थं स्वंग्रहणम्।" इति। एवं तन्मते तिद्ध शब्दस्य स्वं रूपम्, इतरत् पुनः परस्यापि। आसन्नत्वात्, असाधारणत्वात्, प्रतीतिं प्रत्यनुपदेशात्, अहेयत्वात्, तिन्नत्यसम्बन्धित्वाच्च शब्दस्य स्वरूपमेवासन्नम्, नार्थः। तच्चासाधारणं रूपं अग्निशब्दत्वादिकं, न हि शब्दत्वम्। किञ्च, पदमञ्जरीकृतोक्तं- "रूपशब्देन चेहाग्नित्वादिकं शुक्तसारिकापुरुषादिभिरुदीरितासु भिन्नासु शब्दव्यक्तिषु समवेतं सामान्यमभिधीयते।" इति। यथा, "अग्नेर्ढक्" इति सूत्रकारेण या व्यक्तिरुच्चारिता, तस्याः सर्वोच्चारणेष्वनुगतं भवित सामान्यम्। सामान्यस्य कार्ययोगो व्यक्तिद्वारक इति तेन तेनोच्चारितायास्तस्यास्तस्या व्यक्तेर्ढंग् भवितित्यर्थः सम्पद्यते इति तत्तात्पर्यम्।

2.2 सूत्रेण अर्थवत्परिभाषादिसिद्धिः-

एवं शब्दिनिष्ठवाचकतानिरूपिता या वाच्यता सा अर्थे स्वरूपे चास्ति। एवञ्च कदाचिद्रूपस्य कदाचिद्र्थस्य विशेष्यत्वम्। एवम् "अग्नेढंक्" इति सूत्राद् अग्निशब्दवाच्यदाहशक्तिमत्पदार्थाद् ढक्, दाहशक्तिमत्पदार्थवाचकाग्निशब्दाद् ढिगित्यर्थद्वयम्। तत्र प्रथमार्थस्य शास्त्रे बाधनात् स्वरूपयोर्मध्ये रूपस्यैव विशेष्यत्वं स्वस्य च विशेषणत्विमिति अर्थविशिष्टं रूपं अर्थविशिष्टा आनुपूर्वी वा संक्षिप्तत्वेन गृह्यते। एवमर्थविशिष्टं शब्दरूपं संज्ञीति अतः अर्थविशिष्टस्यैव शब्दस्य शास्त्रे ग्रहणं नानर्थकस्य। एतस्यैवार्थस्यानुवादिका भवति– "अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम्" इति परिभाषा। एतत्सूत्रेणैव सिद्धे परिभाषार्थे परिभाषा अनपेक्षिता भवति। अत एवोक्तं महाभाष्यकृता– "अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्योष्ठा परिभाषा न कर्तव्या भवति"

^{1.} महाभाष्यम् (1म-भागः), पृ. 548

^{2.} न्यासपदमञ्जरीसहिता काशिका, न्यास:, पृ. 210

^{3.} न्यासपदमञ्जरीसहिता पदमञ्जरी, पृ. 209

^{4.} महाभाष्यम् (1म-भागः), पृ. 547

170 संस्कृतविमर्शः

इति।

न्यासे प्रोक्तं तु- "ततश्च स्वग्रहणादेव रूपपरिग्रहे सिद्धे व्याकरणे रूपवदर्थः अप्यङ्गीक्रियते इति ज्ञापनार्थं रूपग्रहणम्। तेन अर्थवत्परिभाषा उपपन्ना भवति।" इति।

अर्थवतो ग्रहणात् काशे कुशे इत्यत्र शे इति प्रगृह्यसंज्ञा न भवति। "प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु" इत्यनेन प्रौढ इत्यत्र वृद्धिः, न तु प्रोढवानित्यत्र। "जराया जरसन्यतरस्याम्" इति सूत्रस्थजराशब्देन लक्ष्यस्थार्थवज्जराशब्दस्योपस्थितिः। तेन चार्थवज्जराशब्दस्येव जरसादेशः। न तु अजं रातीति विग्रहे निष्पन्नस्याजरशब्दस्य जरसादेशः। अत्रार्थशब्देन किल्पतान्वयव्यतिरेककिल्पतः प्रकृतिप्रत्ययादिबोध्यः शास्त्रीयोऽर्थो गृह्यते। यथा रामं पश्येत्यत्रामः कर्मत्वमर्थः। सोऽर्थः हि मुख्यः अनारोपितः प्रसिद्धश्च गृह्यते।

नागेशनये तु अनेन सूत्रेणार्थवत्परिभाषा, गौणमुख्यन्याय:, अभिव्यक्तपदार्थन्यायश्च सिद्धो भवति। तेन हि "गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्यय:" इति परिभाषा सिध्यति। अनया परिभाषया हि गौणे मुख्ये च कार्ये प्रसक्ते मुख्ये एव कार्यस्य विधानं भवति। अभिव्यक्तन्यायस्य सम्पूर्णं स्वरूपं तावद्-

"अभिव्यक्तपदार्था ये ये स्वतन्त्रा लोकविश्रुताः।

शास्त्रार्थस्तेषु कर्तव्यः शब्देषु न तदुक्तिषु॥" इति। किञ्च, सादृश्यमिहम्ना आरोपितराजत्वविशिष्टात्, व्यक्तिविशेषे संकेतितराजशब्दाच्च राजश्वशुराद्यत् इति यत्प्रत्ययो न।

2.3 अशब्दसंज्ञेत्यंशविवेक:-

अशब्दसंज्ञा इत्यत्र न शब्दसंज्ञा इति नञ्समासः। शब्दसंज्ञां वर्जयित्वा इत्यर्थः। नन् अत्र शब्दस्य संज्ञा शब्दे संज्ञा वा समास इति सन्देहः।

शब्दस्य संज्ञा इत्यर्थस्वीकारे "आद् गुणः" इत्यादिषु सूत्रेषु गुणस्य शब्दसंज्ञात्वाद् अर्थिविशिष्टरूपस्य भानं न भवित, तेन हि गुणशब्देनादेङ्रूपार्थस्य ग्रहणं सिध्यित। परन्तु "कर्तुरीप्सिततमं कर्म" इत्यनेन कर्मसंज्ञा तु अर्थसंज्ञा, सामर्थ्याभावादेव "कर्मणि द्वितीया" इति शब्दाद् भवित। एवं "कर्मण्यण्" "करणे हनः" इत्यादिषु सूत्रेषु कर्म-करणादीनामर्थसंज्ञा तया तत्र "स्वं रूपम्" इति सूत्रस्य प्रवृत्त्या कर्मकार इत्यादिसिद्धाविप कुम्भकारः पादघातम् इत्यादिप्रयोगाः न सिध्यन्ति। अत्र समाधानं तावद् अशब्दसंज्ञा इति षष्ठीतत्पुरुषो न, अपि तु सप्तमीतत्पुरुषः। एवञ्च शब्दे

^{1.} न्यासपदमञ्जरीसहिता काशिका, न्यास:, पृ-210

^{2.} लघुशब्देन्दुशेखर: संज्ञापरिभाषाप्रकरणे, पृ 184

संज्ञा शब्दसंज्ञा इति विग्रहः। न शब्दसंज्ञा अशब्दसंज्ञेति नञ्समासः। अत्र शब्दपदं हि शब्दशास्त्रपरम्। शब्दशास्त्रे या संज्ञा सा हि संज्ञिनमर्थविशिष्टं शब्दं न बोधयित, अपि त्वर्थं बोधयित। शब्दशास्त्रे तु कर्मादिसंज्ञाः सन्ति, तासामर्थसंज्ञात्वे अपि नास्ति दोषः। ता ह्यर्थमेव बोधयन्ति। तेन कुम्भकारः पादघातमित्यादिप्रयोगाः सिध्यन्ति।

अशब्दसंज्ञेत्यस्य प्रयोजनमुक्तं- "दाधा घ्वदाप् तरप्तमपौ घ:- घुग्रहणेषु घग्रहणेषु च संज्ञिनां ग्रहणम्, न संज्ञाया:।" इति। "उपसर्गे घो: िक" इति घुसंज्ञकेभ्यो दाधाभ्यो यथा स्यात्, स्वरूपाद् घुधातोर्मा भूदिति ज्ञानाय अशब्दसंज्ञेति ग्रहणम्।

न्यासे अस्मिन् प्रसङ्गे प्रोक्तं- "शब्दानुशासनप्रस्तावादेव शब्दस्येति सिद्धे शब्दग्रहणं यत्र शब्दपरो निर्देशस्तत्र स्वरूपं गृह्यते, नार्थपरो निर्देश इति ज्ञापनार्थम्।"² इति

एवं शब्दस्य बोध्यः संज्ञी भवति अर्थविशिष्टः शब्दः (अर्थविशिष्टं रूपम्), शब्दशास्त्रीयसंज्ञां वर्जियत्वा। तदुक्तं दीक्षितवृत्तौ- "शब्दस्य स्वं रूपं संज्ञि स्यात् शब्दशास्त्री या संज्ञा, तां विना" इति।

2.4 सूत्रप्रकार:-

सूत्रस्यास्य प्रयोजनं वर्णयता भाष्यकारेणोक्तं- "शब्देनार्थगतेरर्थे कार्यस्यासम्भवात् तद्वाचिन: संज्ञाप्रतिषेधार्थं स्वंरूपवचनम्" इति। तस्या एव पङ्क्तेस्तात्पर्यावगाहनेन इदं संज्ञासूत्रं, परिभाषासूत्रं, नियमसूत्रञ्चेति मतत्रयं विद्विद्भरुपन्यस्तम्।

- क) नियमसूत्रम्- नागेशेनास्य सूत्रस्य नियमसूत्रत्वं संज्ञासूत्रत्वञ्चाङ्गीकृतम्। तेनोक्तं- "राज्ञो यदि"त्यादौ लौकिकव्युत्पत्त्या उपस्थापितस्यार्थस्य प्रत्ययेन पौर्वापर्यासम्भवात् प्रातिपदिकाद् इत्यनेनान्वयसम्भवाच्च तदर्थकशब्दमात्रग्रहणापत्तौ नियमार्थं सूत्रम्। इति। "सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय कल्पते" इति नियमलक्षणम्। एवञ्च अग्निपर्यायेभ्यस्तच्छाच्च ढकः "अग्नेर्ढक्" इत्यनेन प्रसक्तौ अग्निशब्दादेवेति नियमो विधीयते सूत्रेणानेन। एतस्य सूत्रस्य नियमत्वं बालमनोरमान्यासकृदादयः अपि अभ्युपगच्छन्ति।
- ख) परिभाषासूत्रम् "अनियमे नियमकारिणी परिभाषा" इति परिभाषालक्षणम्। "अग्नेर्ढक्" इत्यनेनाग्निपर्यायेभ्यो वाग्निशब्दाद् ढक् स्यादित्यनियमे प्रसक्ते अग्नि-शब्दादेवेति नियमनादेषा परिभाषा इति न्यासकृदादयः।

^{1.} न्यासपदमञ्जरीसहिता काशिका, पृ-211

^{2.} न्यासपदमञ्जरीसहिता काशिका, न्यास:, पृ-210

^{3.} वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी बालमनोरमातत्त्वबोधिनीव्याख्योपेता (1म-भाग:), पृ-35

ग) संज्ञासूत्रम् – "शक्तिग्राहकत्वं संज्ञासूत्रत्वम्" इति सामान्यं लक्षणम्। पिण्डतसभापितशर्मोपाध्याययस्य नये तु भाष्योक्तेरस्य संज्ञासूत्रत्वमेव स्पष्टं प्रतीयते। लिङ्गवती पिरभाषा भवति, यथा "इको गुणवृद्धी" इति गुणवृद्धी लिङ्गम्। विध्यन्तरशेषभूता वा "विप्रतिषेधे परं कार्यीमे ति परस्य विध्यन्तरस्य शेषभावमापद्यते। न चास्याः लिङ्गं विध्यन्तरशेषभावो वा विद्यत इति संज्ञासूत्रमिदमिति केषाञ्चिन्मतिमिति न्यासे उपन्यस्तम्। किञ्च, काशिकास्वारस्यं वर्णयता तत्र न्यासकृतोक्तं– "यद्यपि वृत्तौ संज्ञाशब्दो नोच्चारितः, तथापि स्वमेवं रूपं ग्राह्यमित्येव ब्रुवता वृत्तिकारेण संज्ञैवेत्याख्यातं भवति।" इति।

2.5 सूत्रप्रवृत्तिस्थलम्-

इदं सूत्रं यत्र विशिष्टरूपोपादानं भवित तत्रैव प्रवर्तते। विशिष्टरूपोपादानत्वं नाम आनुपूर्व्यवच्छित्रविषयताप्रयोजकत्वम्। अर्थात् सार्थकानुपूर्वी। यथा "अग्नेर्ढक्", "राज्ञो यदि"त्यादौ अग्ने: राज्ञ इत्यादि विशिष्टरूपोपादानमस्ति। "अत इज्", "एरच्" इत्यादौ विशिष्टरूपोपादानाभावादस्य सूत्रस्य प्रवृत्तिर्न भवित। एवं च वर्णग्रहणेषु नेदं प्रवर्तते। यथा वर्णग्रहणेषु अनर्थकत्वात्तत्रैतस्य सूत्रस्य नास्ति प्रवृत्तिरिति कैयटनागेशसमय:।²

2.6 सूत्रप्रयोजनम्-

एतस्य सूत्रस्य प्रयोजनमाह भाष्यकार:- "शब्देनार्थगतेरथें कार्यस्यासम्भवात् तद्वाचिनः संज्ञाप्रतिषेधार्थं स्वंरूपवचनम्" इति। उच्चारितेन हि शब्देनार्थः प्रतीयते। यथा गामानाय दध्यशानेत्युक्तं लोकं गोशब्दार्थों दिधशब्दार्थश्चानीयते। व्याकरणे हि अर्थे कार्यं न सिध्यति। यथा "अग्नेर्ढक्" इत्यनेनाग्न्यर्थात् ढक् न सिध्यति। शब्दादर्थप्रतीताविष व्याकरणे अर्थे कार्यस्यासम्भवाद् अग्निवाचकंभ्यः अग्निव्बह्यङ्गारादिभ्यः सर्वेभ्यः शब्देभ्यः ढक् प्राप्नोति। एवमनियमे प्रसक्तं अग्न्यर्थवाचकादग्निशब्दादेव ढक् यथा स्यादित्येवमर्थं सूत्रमिदमारब्थम्। एवं भाष्यस्वारस्यादेव। एतस्य संज्ञात्वं परिभाषात्वं नियमत्वं वा विद्वदिभः प्रकल्पितम्।

सामूहिकपर्यालोचनेन सूत्रस्यास्य त्रीणि प्रयोजनानीति वक्तुं शक्यते-

- क) शब्दस्य संज्ञी भवति अर्थविशिष्ट: शब्द:।
- ख) अनेनैव सूत्रेणार्थवत्परिभाषा सिद्धा।

^{1.} न्यासपदमञ्जरीसहिता काशिका, न्यास:, पृ-210

^{2.} महाभाष्यम् (1म-भागः), प्रदीपः, पृ-547; लघुशब्देन्दुशेखरः संज्ञापरिभाषाप्रकरणे, पृ 184

ग) शब्दशास्त्रे इयं संज्ञा न प्रवर्तते।

2.7 सूत्रप्रत्याख्यानम्-

सूत्रमिदं महाभाष्यकृता प्रत्याख्यातम्। सामान्यतया शास्त्रेषु शब्दस्यार्थविषये पक्षचतुष्टयमङ्गीक्रियते –

- क) प्रथमपक्षः- शब्दानामर्थे शक्तिः शब्दे लक्षणा। यथा घटमानयेत्यत्र शक्त्या घटशब्देन घटरूपः कम्बुग्रीवादिमान् अर्थः बुध्यते। एवमेव घटमुच्चारयेत्यत्रापि घटशब्देन शक्त्या घटरूपस्यार्थस्योपस्थितिः। परन्तु उच्चारणिक्रयायां तस्यान्वयासम्भवाद् अन्वयानुपपत्त्या लक्षणा स्वीक्रियते। लक्षणया हि घटशब्दो घटशब्दं प्रतिपादयति। स्ववाच्यवाचकत्वसम्बन्धेन घटशब्दस्य घटशब्दं लक्षणाङ्गीक्रियते। स्वं घटशब्दः तद्वाच्यो घटरूपः अर्थः, तद्वाचको घटशब्दः।
- ख) द्वितीयपक्ष:- शब्दानां शब्दे शक्तिरर्थे लक्षणा। यथा "घटमुच्चारये"त्यत्र शक्त्र्या घटशब्द: घटशब्दं बोधयित। परन्तु घटमानयेत्यत्र घटशब्दस्यानयना-सम्भवाद् अन्वयानुपपत्त्या घटशब्दस्य कम्बुग्रीवादिमद्घटपदार्थे लक्षणा।
- ग) तृतीयपक्षः- शब्दानामार्थविशिष्टे शब्दे, शब्दिविशिष्टे अर्थे च शक्तिः। घटमुच्चारयेत्यत्र घटार्थस्योच्चारणक्रियान्वयासम्भवाद् घटशब्दस्यार्थिविशिष्टे शब्दे शक्तिः स्वीक्रियते। तेन घटार्थिविशिष्टघटशब्दमुच्चारयेति प्रतीतिः। एवमेव घटमानयेत्यत्र घटशब्दस्यानयनिक्रयायाम् अन्वयाभावाद् घटशब्दिविशिष्टे अर्थे शक्तिः स्वीक्रियते। अत्र घटशब्दिविशिष्टं घटार्थमानयेति प्रतीतिः।
- घ) चतुर्थपक्ष:- शब्दानां शब्दे अर्थे च पृथक् पृथक् शक्ति:। अत्र कदाचिच्छब्दो विशेष्य: अर्थो विशेषणम्, कदाचिदर्थो विशेष्य: शब्दश्च विशेषणम्।

2.8 वैयाकरणाभिसम्मतः चतुर्थपक्षः, सूत्रखण्डनं च-

प्रथमतः पक्षत्रयं गौरवग्रस्तम्। तत्र प्रथमपक्षे शब्दे द्वितीये चार्थे लक्षणाङ्गीकारात् लक्षणाया जघन्यवृत्तित्वाद् भवित गौरवम्। तृतीये च पक्षे अस्ति गौरवद्वयम्-प्रकरणाद्यपेक्षा शक्यतावच्छेदकगौरवं च। प्रकरणादिना एव क्वचित् शब्दिविशिष्टे अर्थे क्वचिच्चार्थिविशिष्टे शब्दे शक्तिः कल्पनीया। किञ्च, यदा शब्दिविशिष्टः अर्थः शक्यस्तदा शक्यतावच्छेदकं शब्दिविशिष्टार्थत्वं, यदा चार्थिविशिष्टः शब्दः शक्यस्तदा शक्यतावच्छेदकं शब्दिविशिष्टार्थत्वं, यदा चार्थिविशिष्टः शब्दः शक्यस्तदा शक्यतावच्छेदकमर्थिविशिष्टशब्दत्विमिति शक्यतावच्छेदकद्वयकल्पनात् महद् गौरवम्। अतः पक्षत्रयमनादृत्य वैयाकरणैः शब्दानां शब्दे अर्थे च पृथक् पृथक् शक्तिरित्येवंभूतः चतुर्थपक्षः समादृतः। तथाह्युक्तं भर्तृहरिणा–

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुबद्धिमव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥ इति।

शब्दस्यैव विशेष्यत्वं सित सम्भवं स्वीकार्यं, शब्दस्य लोकं अर्थबोधनाय उच्चिरितत्वात्। एवञ्च व्याकरणं अर्थे कार्यस्य बाधे "अग्नेर्ढक्", "राज्ञो यदिष्त्यादौ उपस्थितः अग्निशब्दः राजन्शब्दः च कार्यभाक्। अर्थे तु ढगादिकार्यं न सम्भवित। अर्थे कार्यस्यासम्भवत्वेऽिप शब्दे विशेषणतयार्थस्यान्वयः सम्भवित। एवञ्च शब्दो विशेष्यः अर्थश्च विशेषणम्। एवम् अग्नर्थवाचकाद् अग्निशब्दाद् ढक् इत्येवं क्रमेणार्थः समायातीति सूत्रेण न किमिप विशिष्टं साध्यते। अतः सूत्राभावे सूत्रकार्यसम्भवात् सूत्रमिदं प्रत्याख्यातम्।

अत एवोक्तं भाष्ये- "न वा शब्दपूर्वको ह्यर्थे संप्रत्ययस्तस्मादर्थनिवृत्ति:।"² इति। एतस्य तात्पर्यं तावत् शब्दपूर्वकमर्थज्ञानं भवति। लोके हि शब्देनाहूयते, यदा च प्रतीतिर्न जायते तदा- िकं भवानाहेति पृच्छिति। एवं हि व्याकरणे शब्दे कार्यं सिध्यति, अर्थे च कार्याभावादर्थस्य निवृत्तिर्भवतीति सूत्रं नापेक्षते।

सूत्रारम्भवादिना तु तदा सूत्रस्यान्यत्कारणं प्रदत्तम्- "इदं तर्हि प्रयोजनम्-अशब्दसंज्ञेति वक्ष्यामीति। इह मा भूत्- "दाधा घ्वदाप्", "तरप्तमपौ घः" इति। अर्थात् शब्दशास्त्रीयसंज्ञायां स्वंरूपग्रहणवारणायेदं सूत्रम्। तेन घुघप्रभृतिभिः शब्दैः शब्दस्वरूपस्य ग्रहणं न भवति, अपि तु संज्ञिनां धातूनां ग्रहणं भवति।

अस्मिन् प्रसङ्गे सूत्रारम्भमपाकुर्वता नागेशेनोक्तं- "लक्ष्यानुरोधात्ततत्संज्ञाकरण-ज्ञानरूप-प्रकरणाच्च षान्तसंख्यावाचकषष्शब्दस्य षट्संज्ञाकरणेन शब्दशास्त्रीयसंज्ञायां स्वरूपाग्रहणज्ञापनाच्च- "उपसर्गे घो: कि"त्यादावदोषेणाशब्दसंज्ञेत्यिप व्यर्थमित्युक्तम्।" इति। अत्र हि कारणद्वयमुपन्यस्तं- 1) लक्ष्यानुरोधात्तत्त्संज्ञाकरणज्ञानरूपप्रकरणम्, 2) षान्तसंख्यावाचकषष्शब्दस्य षट्संज्ञाकरणेन शब्दशास्त्रीयसंज्ञायां स्वरूपाग्रहण-ज्ञापनञ्च। कारणद्वयमधो वर्ण्यते-

क) शब्दस्यार्थनिर्णयाय प्रकरणं महत्त्वपूर्णं भवित। यथा सैन्धवमानयेति वाक्ये सैन्धवपदं भोजनप्रकरणे लवणपरं, युद्धप्रकरणे चाश्वपरम्। व्याकरणशास्त्रे तत्तत्संज्ञाकरणं ज्ञानरूपं प्रकरणमस्ति। एवं प्रकरणादेव "दाधा घ्वदाप्", "उपसर्गे घो: कि" इत्यादौ घुपदं न स्वरूपबोधकमि तु संज्ञिबोधकिमिति ज्ञायते। अत: अशब्दसंज्ञा इत्यस्य नास्ति प्रयोजनम्। एवं गुणशब्दे "अदेङ्

^{1.} वाक्यपदीयम्, कारिका- 123

^{2.} महाभाष्यम् (1म-भागः), पृ. 548

^{3.} महाभाष्यम् (1म-भागः), पृ. 549

^{4.} लघुशब्देन्द्रशेखर: संज्ञापरिभाषाप्रकरणे, पृ. 188

गुणः" इत्यनेनादङ्नरूपिता शक्तिस्तिष्ठति। गुणशब्दे गुणशब्दनिरूपिता शक्तिः। अत्र प्रकरणाद् "आद् गुणः" इत्यत्र गुणशब्देनादेङो ग्रहणम्।

ख) "ष्णान्ता षट्" इत्यनेन षान्तसंख्यावाचकषष्णब्दस्य षट्संज्ञाकरणेन शब्दशास्त्रीय-संज्ञायां स्वरूपविधिर्न भवतीति ज्ञाप्यते। अत्र भाष्यकृता फणिमणिनोक्तं-आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयितशब्दसंज्ञायां न स्वरूपविधिर्भवतीति। यदयं "ष्णान्ता षट्" इति षकारान्तायाः संख्यायाः षट्संज्ञां शास्ति।" इति। यदि च शब्दशास्त्रे स्वरूपविधिः प्रवर्तते तर्हि षष् इत्यनेन एव षकारान्तस्य षट्संज्ञा सिध्यति। एवं चेत् नान्ता षट् इति वचनेनैव नान्तस्यापि षट्संज्ञा सिध्यति। एवं स्वरूपविधिना षान्तस्य वचनेन नान्तस्य च षट्संज्ञायां सिद्धायां षकारग्रहणं व्यर्थम्। तद् व्यर्थीभूय ज्ञापयित स्वरूपविधिनं प्रवर्तते इति नास्त्येतस्य सूत्रस्य किमपि प्रयोजनिमति सूत्रिमदं प्रत्याख्यातं भाष्यकृता। काशिकाकृतापि भाष्यसिद्धं सूत्रस्यास्य प्रत्याख्यानमङ्गीकृतम्।

2.9 ज्ञापकानित्यत्वविचार:-

ननु अत्र केषाञ्चित् शङ्का भवति "ई हल्यघोः" इत्यत्र अघोरित्यनेन शब्दशास्त्रीयसंज्ञायाः स्वरूपबोधनिषेधात् "परेश्च घाङ्कयोः" "नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः" इत्युभयत्र कथं स्वरूपग्रहणम्। अत्र समाधानं तावत् ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र। तस्यानित्यत्वादेव द्वयोः सूत्रयोः स्वरूपग्रहणम्। अनित्यत्वादेव ज्ञापकसिद्धस्य भाष्यकारेण अशब्दसंज्ञा इति प्रत्याख्यातम्।

2.10 सूत्राभावेऽपि अर्थवत्परिभाषासिद्धिः-

किञ्च, सूत्राभावेऽपि अर्थवत्परिभाषा तु स्वतःसिद्धा भवित। नागेशमते तु शास्त्रे शब्देन अर्थविशिष्टस्यैव शब्दस्य बोधाद् व्याकरणे अर्थवतः शब्दस्य ग्रहणे न भवत्यनर्थकस्य ग्रहणम्। तेन "प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु" इत्यस्मिन् वार्तिके अर्थवत ऊढशब्दस्य ग्रहणात् प्र ऊढ इति स्थिते एव वृद्धिः, प्र ऊढवान् इति स्थिते न वृद्धिरिति प्रौढः, प्रोढवानिति च रूपद्वयं सिध्यति।

भट्टोजिदीक्षितनये तु परिभाषेयं ज्ञापकसिद्धा। "व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः" (8-2-36) इत्यस्मिन् सूत्रे राजेः पृथक्तया यद्भ्राजिग्रहणं विहितं तद् ज्ञापयित-"अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम्" इति।

^{1.} महाभाष्यम् (1म-भागः), प्- 549

^{2.} लघुशब्देन्दुशेखर: संज्ञापरिभाषाप्रकरणे, पृ 188

^{3.} वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी बालमनोरमातत्त्वबोधिनीव्याख्योपेता (1म-भाग:), पृ-88

2.11 स्वंरूपसूत्राभावे लाघवं, तत्सत्त्वे गौरवञ्च-

स्वंरूपसूत्राभावे लाघवं सूत्रसत्त्वे च गौरवमुपन्यस्तं नागेशेन। स्वंरूपसूत्रस्य प्रत्याख्यानादेव "सुसर्वार्द्धाज्जनपदस्य", "तस्यापत्यम्", "विभाषा वृक्षमृग", "देवताद्वन्द्वे च" इत्यादौ स्वरूपस्य ग्रहणं न भवति। तेन जनपदापत्यमृगदेवताशब्देभ्यो यथाक्रमं देश-सन्तति-मृगविशेष-देवविशेषाणां च प्रतीतिर्भवति।

किञ्च, सूत्राभावे एव लक्ष्यानुसारात् "स्वे पुष" इत्यत्र स्वशब्देन पर्यायाणां, विशेषाणां, स्वरूपस्य बोधः भवति, तेन स्वपोषम्, धनपोषम्, गोपोषमित्यादि सिध्यति। "सभा राजे"त्यत्र राजपदेन पर्यायाणामीश्वरादीनां, "पिक्षमत्स्यमृगान्हन्ती"त्यादिसूत्रेषु मृगपिक्षणोः पर्यायाणां, विशेषाणां, स्वरूपस्य, मत्स्यपदेन स्वरूपाणां विशेषाणां मीनरूपपर्यायस्य च बोधः सिध्यति। सूत्रस्य सत्त्वे तु स्व-राजन्-पिक्ष-मृग-मत्स्यशब्दैः स्वरूपस्यैव बोध आपद्येत, तेन विशेषाणां पर्यायाणां च बोधाय विशेषयत्नः कर्तव्यः स्यादिति गौरवम्।

न केवलमेतद् गौरवमि तु स्वंरूपसूत्रसत्त्वे "परेश्च घाङ्कयोः" इत्यत्र घशब्दं संज्ञात्वेन स्वीकृत्य अशब्दसंज्ञा इति वचनात् अर्थपरकत्वं स्वीकुर्यात्। किन्तु घशब्दश्चात्र स्वरूपपरः अपेक्षते। तेन एव परिघः पिलघः इत्यादिकं सिध्यति। एवमेव "नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः" इत्यत्र नदीशब्देन स्वरूपग्रहणं च सूत्राभावे सिध्यति। तेन उपनदम् उपनदि इत्यादिप्रयोगाः सिध्यन्ति। एवं प्रकारेण सूत्रस्याभावे अपि लक्ष्यानुसारिव्याख्यानादेव सर्वं सिध्यति।

3. उपसंहार:-

लोके शब्दाद् अर्थस्य प्रतीतिः शास्त्रे किं शब्दाद् अर्थस्य उत शब्दस्य प्रतीतिः इत्याक्षेपसमाधानाय पाणिनिना "स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा" इति सूत्रं प्रणीतम्। स्वशब्देन बिहरङ्गस्य साधारणस्यानियतोपस्थिकस्यापि अर्थस्य ग्रहणम्। रूपं च शब्दस्वरूपम्। अत्र विचारेण ज्ञातं यद् अशब्दसंज्ञा शब्दे संज्ञा शब्दसंज्ञा इति सप्तमीतत्पुरुषः। न शब्दसंज्ञा अशब्दसंज्ञेति नञ्समासः। अत्र शब्दपदं हि शब्दशास्त्रपरम्। शब्दशास्त्रे या संज्ञा सा हि संज्ञिनम् अर्थविशिष्टं शब्दं न बोधयित, अपि त्वर्थं बोधयित। एवं शब्दस्य बोध्यः संज्ञी भवित अर्थविशिष्टः शब्दः (अर्थविशिष्टं रूपम्), शब्दशास्त्रीयसंज्ञां वर्जियत्वा। अनेन सूत्रेण एव "अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम्" इति परिभाषा सिध्यित अतः परिभाषा अनपेक्षिता। नागेशनये तु अनेन सूत्रेणार्थवत्परिभाषा, गौणमुख्यन्यायः, अभिव्यक्तपदार्थन्यायश्च सिद्धो भवित। यत्र विशिष्टरूपोपादानं भवित तत्रैव अस्य सूत्रस्य प्रवृत्तिः दृश्यते। शब्दस्य संज्ञी भवित अर्थविशिष्टः शब्दः, अनेनैव सूत्रेणार्थवत्परिभाषा सिद्धा शब्दशास्त्रे इयं संज्ञा न प्रवर्तते इत्येतानि अस्य सुत्रस्य प्रयोजनानि।

परन्तु वैयाकरणैः शब्दानां शब्दे अर्थे च पृथक् पृथक् शक्तिः इति पक्षस्य स्वीकाराद् व्याकरणे अर्थे कार्यस्य बाधे "अग्नेर्ढक्", "राज्ञो यदि" त्यादौ उपस्थितः अग्निशब्दः राजन्शब्दः च कार्यभाक् विशेष्यः अर्थश्च विशेषणम्। एवम् अग्नर्थवाचकाद् अग्निशब्दाद् ढक् इत्येवंक्रमेणार्थः समायातीति सूत्राभावे सूत्रकार्यसम्भवात् सूत्रमिदं महाभाष्ये प्रत्याख्यातम्। अयं प्रत्याख्यानपक्षः सूत्राभावे लाघवताप्रदर्शनेन अर्थवत्परिभाषादर्शनेन नागेशभट्टेन समादृतः। लक्ष्यानुसारिव्याख्यानात् सर्वत्र यथायोग्य-प्रतीतेः स्वीकारात् सर्वं सिद्धम्।

मम तु अयम् अभिप्रायो यद् लक्ष्यैकचक्षुष्काः ये भवन्ति तेषां नये सूत्राभावे अपि लक्ष्यानुसारिव्याख्यानात् सूत्रकार्यसिद्धेः सूत्रं नापेक्षते। परन्तु लक्षणेकचतुष्काणां कृते सूत्रमिदम् अवश्यम् अपेक्षते। किञ्च, पाणिनिना प्रणीतस्य एकस्यापि वर्णस्य महाभाष्यकारेण आनर्थक्यं न स्वीकृतम्। अतः सूत्रम् अनर्थकम् इति वक्तुम् अशक्यम् इत्यलं विस्तरेणेति शिवम्।

सन्दर्भाः

- पतञ्जिल:। शास्त्री, श्रीभार्गव: (सम्पा०) (2012)। व्याकरणमहाभाष्यम् (1म-खण्ड:)। चौखम्बासंस्कृतप्रतिष्ठानम्। दिल्ली।
- 2. भट्ट:, नागेश:। आचार्य: शर्मा, विश्वनाथ: (व्याख्या०) (2012)। लघुशब्देन्दुशेखर: संज्ञापरिभाषाप्रकरणे। चौखम्बा-सुरभारती-प्रकाशनम्।
- 3. भट्टोजिदीक्षित:। शर्मा, गिरिधर:; शर्मा, परमेश्वरानन्द: च (सम्पा०) (2004)। वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी बालमनोरमातत्त्वबोधिनीव्याख्योपेता (1म-भाग:)। मोतीलाल बनारसीदास।
- 4. भट्टोजिदीक्षितः। पञ्चोली, बालकृष्णः (सम्पा०) (1966)। वैयाकरणसिद्धान्त-कौमुदी पण्डितसभापतिशर्मोपाध्यायविरचितया लक्ष्मीटीकया सिहता (प्रथमांशः)। मोतीलाल बनारसीदास।
- 5. भर्तृहरि:। पद्मश्री: शर्मा, पण्डितरघुनाथ: (सम्पा॰) (2006)। वाक्यपदीयम् (ब्रह्मकाण्डम्) अम्बाकर्त्रीस्वोपज्ञवृत्तिव्याख्याद्वयोपेतम्। सम्पूर्णानन्दसंस्कृत-विश्वविद्यालय:। वाराणसी।
- 6. वामनजयादित्यौ। त्रिपाठी, जयशङ्करलालः; मालबीयः, सुधाकरः (सम्पा०) (1985)। काशिका न्यास-पदमञ्जरी-भावबोधिनी-सहिता (प्रथमो भागः)। तारा बुक एजेन्सी। वाराणसी।

स्त्रीधनविषये प्राचीनधर्मशास्त्रेण सहार्वाचीनहिन्दुविधेस्तुलनात्मकमध्ययनम्

-डॉ. अञ्जन-दासः*

ISSN: 0975-1769

शोधसार:- स्मृतिकारै: धर्मशास्त्रसाहित्यं बहुधा विभज्य तेषु व्यवहारस्य कृते गुरुत्वपूर्णं स्थानं प्रदत्तम्। तत्र अष्टादशव्यवहारपदेषु दायभागोऽतीव विशिष्टं स्थानमलंकरोति। तत्रापि च सर्वै: स्मार्तै: धनान्तरापेक्षया स्त्रीधनविषये विचार: कृत: सयुक्त्या। शोधनिबन्धे मया स्त्रीधनस्य स्वरूपं, तस्याधिकार:, अपि च अर्वाचीन-हिन्दुविधिना सह तुलनात्मकमध्ययनमालोचितम्। मृताया: स्त्रीया धनस्य अधिकारी क: भवेत् तद्विस्तरेण सतथ्यमालोचितम्। अर्वाचीनहिन्दुविधिनापि तस्य धनस्य अधिकारी को भवेत् तदिप सम्यक्त्वेन परिस्फुटितं मया।

कूटशब्दा:- व्यवहार:, स्त्रीधनम्, हिन्दुविधि:, Hindu Succession Act.

धर्मशास्त्रगगने प्रामुख्येन आचार-व्यवहार-प्रायश्चित्तत्वेन अध्यायत्रयोल्लेखो दृश्यते। वस्तुतः तत्र स्मृतिकारैः सूत्रकारैश्च स्वस्विवचारितेषु ग्रन्थेषु प्रायशोऽयमेव नियमः संस्थापितः। मिताक्षराकारेण श्रीमता विज्ञानेश्वरेण कृत्स्नमिप धर्मशास्त्रं षोढा विभज्य तेषामन्तर्भावस्त्रिषु अध्यायेषु वै कृतः। तद्यथा- आचाराध्याये वर्णधर्मः, आश्रमधर्मः, वर्णाश्रमधर्मः, साधारणधर्मश्चेति। व्यवहाराध्याये शास्त्रीयाभिषेकादिगुणयुक्तस्य राज्ञः प्रजापालनादिरूपो गुणधर्मः। प्रायश्चित्ते चाध्याये निमित्तधर्मो वर्णितः। अत्रेदं स्मर्तव्यं यत् बहुभिः स्मार्तेरिप धर्मशास्त्रसाहित्यं बहुधा विभज्य तेषु व्यवहारस्य कृते गुरुत्वपूर्णं स्थानं प्रदत्तम्। स च व्यवहारशब्दो 'वि' उपसर्गात् 'अव' उपसर्गाच्च 'हृ' धातोः 'घव्' प्रत्यये निष्पद्यते। अस्यार्थः कात्यायनेनेत्थं प्रतिपादितः-

विनानार्थेऽव सन्देहे हरणं हार उच्यते। नानासन्देहहरणाद्व्यवहार इति स्मृतः॥ इति।

याज्ञवल्क्येन कथितं धर्मशास्त्रसमाचारविरुद्धेन मार्गेण परैरभिभूतो यद्राज्ञे प्राडविवाकाय वा विज्ञापयित तदेव व्यवहारपदवाच्यं भवेत्। परन्तु विज्ञानेश्वरेण 'अन्यविरोधेन स्वात्मसम्बन्धितया कथनं व्यवहार' इत्युक्तम्। यथा- कश्चिदिदं

^{*} सहाचार्य:, संस्कृतविभाग:, रामकृष्णमिशन्-विद्यामन्दिरम्, पश्चिमबङ्गप्रदेश:।

^{1.} कात्यायनस्मृति:- 26

^{2.} मिताक्षरा, पू.- 103

क्षेत्रं मदीयमिति कथयति, अन्योऽपि तद्विरोधेन मदीयमिति प्रतिपादयति तदा तत्र व्यवहारो भवति। तर्हि राजा व्यवहारदर्शनं कथं कुर्यादित्युक्तं भगवता मनुना-

> व्यवहारान्दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः स पार्थिवः। मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चौव विनीतः प्रविशेत्सभाम्॥ इति।

योगीवरयाज्ञवल्क्यमतमप्यत्र स्मरणीयं-

व्यवहारात्रृपः पश्येद्विद्विद्भर्बाह्मणैः सह। धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवर्जितः॥ इति।

अत्र व्यवहारदर्शने विद्वांसः सर्वधर्मविच्च ब्राह्मणो नियोक्तव्य इति योगीवरस्याभि-प्रायः। स च व्यवहारो भाषा-उत्तर-क्रिया-साध्यसिद्धिभेदात् पादचतुष्टयात्मकः।³ तत्र प्रत्यर्थिनोऽग्रतो लेख्यमिति भाषापादः। श्रुतार्थस्योत्तरं लेख्यमिति उत्तरपादः। ततोऽर्थी लेखयेत् सद्य इति क्रियापादः। तित्सद्धौ सिद्धिमाप्नोतीति साध्यसिद्धिपादश्चेति। स च प्रतिज्ञा-उत्तर-संशय-हेतु-परामर्श-प्रमाण-निर्णय-प्रयोजनात्मको व्यवहारः तस्य पदं विषयः व्यवहारपदिमत्युच्यते। स च द्विविधः शंकाभियोगस्तत्त्वाभियोगश्चेति। स पुनश्च अष्टादशधा इत्युक्तं भगवता मनुना-

तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः।
संभूय च समृत्थानं दत्तस्यानपकर्म च॥
वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः।
क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः॥
सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके।
स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसंग्रहणमेव॥
स्त्रीपुंधर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वय एव च।
पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह॥
ईति।

अत एव दृश्यते धर्मशास्त्रे विचारितेषु अष्टादशव्यवहारपदेषु दायभागोऽतीव विशिष्टं स्थानमलंकरोति। तत्रापि च सर्वै: स्मार्तै: धनान्तरापेक्षया स्त्रीधनविषये विचार: कृत: सयुक्त्या। स्त्रीधनमित्ययं शब्द: विभिन्नरूपेण गृहीत: मुख्यदायभागकारै:।

^{1.} द्विवेदी, गिरिजाप्रसाद (1915)। मनुसंहिता। लखनौ: नवल किशोर विद्यालय, श्लोकसंख्या- 3/1

^{2.} सेट्लार, जास्टिस् एस्. एस्. (2007)। याज्ञवल्क्यसंहिता। तिरुपति: राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान्, श्लोकसंख्या- 2/1

^{3.} तदेव- 2/7-8

^{4.} द्विवेदी, गिरिजाप्रसाद(1915)। मनुसंहिता। प्रागेव, श्लोकसंख्या- 8/4-7

तत्र विज्ञानेश्वरमते स्त्रीधनशब्दो यौगिक: न पारिभाषिक: योगसम्भवे परिभाषाया अयुक्तत्वात्। अत एव स्त्रीस्वामिकं धनं स्त्रीधनमिति। तथा च विभिन्नानि वचनानि स्त्रीधनपरकाण्युदाह्वियन्ते। यथा न्यूनातिन्यूनं षड्विधमित्युक्तं भगवता मनुना-

अध्यग्न्यध्यवाहनिकं दत्तञ्च प्रीतिकर्मणि। भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम्॥ इति।

नारदेनाप्यनुरूपं मतं प्रकाशितम्। अत्र तु स्त्रीधनस्य यत् षड्विधत्वमुक्तं तन्न्यूनसंख्याव्युदासार्थं नाधिकसंख्याव्यवच्छेदाय इति विज्ञानेश्वरमतम्। यतः षडितिरिक्तानि अन्वाधेयाधिवेदिनकादिनी स्त्रीधनानि स्मृतिकारान्तरैः प्रदर्शितानि। यथा याज्ञवल्क्येन कथितम्

पितृमातृपतिभ्रातृदत्तमध्यग्न्युपागतम्। आधिवेदनिकाद्यञ्च स्त्रीधनं परिकीर्तितम्॥ बन्धुदत्तं तथाशुल्कमन्वाधेयकमेव च॥³ इति।

इदानीं षड्विधानामध्यग्न्यादीनां स्त्रीधनानां लक्षणं प्रदर्श्यते। तत्र प्रथमं तावद् अध्यग्न्या लक्षणम्-

विवाहकाले यत्स्त्रीभ्यो दीयते ह्यग्निसन्निधौ। तद्थ्यग्निकृतं सद्भिः स्त्रीधनं परिकीर्तितम्॥ इति।

अर्थात् विवाहकाले अग्निसन्निधौ यत्पित्रादिदत्तं तदध्यग्निस्त्रीधनम्। यत्तु पितृगृहाद्भर्तृगृहं नीयमानया लब्धं तदध्यावाहनिकम्-

यत्पुनर्लभते नारी नीयमाना पितृगृहात्। अध्यावाहनिकं नाम तत्स्त्रीधनमुदाहृतम्॥ इति।

यतु प्रीतिहेतुकर्मणि भर्त्रादिदत्तं तथा भ्राता पित्रा च समयान्तरे यद्दत्तम्। प्रीतिदत्तस्य तु परिभाषा हि-

प्रीत्या दत्तं तु यत्किञ्चिच्छ्वश्वा वा श्वशुरेण वा। पादबन्दनिकं चैव प्रीतिदत्तं तदुच्यते॥ इति।

^{1.} तदेव- 9/194

^{2.} नारदीयस्मृति:- 4/13/8

^{3.} सेट्लार, जास्टिस् एस्.एस्. (2007)। याज्ञवल्क्यसंहिता। प्रागेव, श्लोकसंख्या- 2/143

^{4.} कात्यायनस्मृति:- 895

^{5.} तदेव- 896

^{6.} तदेव- 897

अथ सौदायिकस्त्रीधनं हि-

ऊढया कन्यया वापि पत्युः पितृगृहेऽपि वा। भ्रातुः सकाशातिपत्रोर्वा लब्धं सौदायिकं स्मृतम्॥ इति।

अर्थात् विवाहितकन्यायाः पितगृहे पितृगृहे वा भर्त्तुः सकाशात् पितुः सकाशाद्वा यद्धनं लभ्यते तद्धनं सौदायिकमित्युच्यते।

जीमूतवाहनमते स्त्रीधनशब्दस्तु पारिभाषिक:, न तु यौगिक:। यस्माद्धि स्त्रिया: धनमित्यन्वये स्त्रीधनं नोपयुज्यते। यथा भगवता मनुना भणितम्-

> भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः। यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम्॥² इति।

अतः मनुवचनानुसारं स्त्रिया धनं न स्त्रीधनमस्वतन्त्र्यादिति। अपि तु-

पितृमातृसुतभ्रातृदत्तमध्यग्न्युपागतम्। आधिवेदनिकं बन्धुदत्तं शुक्लान्वाधेयकम्॥ इति।

विष्णुवचनाद्धनविशेषे स्त्रीधनं पारिभाषिकरूपेणाभिधीयते।

वस्तुतः आधुनिकहिन्दुमते स्त्रीस्वामिकं धनं स्त्रीधनम्। अर्थात् यस्मिन् धने केवलं स्त्रिया एव स्वाम्यं तदेव धनं स्त्रीधनम्। तद्धनं मुख्यतः त्रिषु अवस्थासु प्राप्यते। यथा अविवाहितावस्थायां पितृमातृकुलाद् यल्लभ्यते, वागदतावस्थायामुपहाररूपेण यत्प्राप्यते। विवाहकाले भर्तृगृहगमनावस्थायाम् स्वजनानां पक्षतश्च यद्धनं प्राप्तिर्भवित तत्सर्वं स्त्रीधनमिति। एतासु त्रिषु अवस्थासु 'प्रीभि-काउनिस्ल्' इत्यनेन प्राप्तं स्त्रीधनमिप एकादशविधं भवित- पितृदत्तं, मातृदत्तं, भ्रातृदत्तं, भर्तृकुलाल्लब्धं, अग्न्युपागतम्, अध्यावाहनिकम्, आधिवेदनिकमन्वाधेयं, पादवन्दनादिकं, शुल्कं, पुत्रदत्तमिति। एतेषु स्त्रीधनेषु स्त्रियाः सम्पूर्णाधिकारो विद्यते। परन्तु 1956 ख्रीष्टाब्दात्प्राक् उत्तराधिकारसूत्रेण लब्धे धने तस्याः सम्पूर्णाधिकारो नास्ति। वस्तुतः चतुर्दशधाराबलेन अधिकारोऽयं प्राप्तः 4-Property of a female Hindu to be her absolute property-

1. Any property possessed by a female Hindu, whether acquired before or after the commencement of this Act, shall be held by her

2. द्विवेदी, गिरिजाप्रसाद (1915)। मनुसंहिता। प्रागेव, श्लोकसंख्या- 8/416

^{1.} तदेव- 902

^{3.} शास्त्री, अ. सुब्रह्मण्य(2015)। जीमूतवाहनविरचित: दायभाग:। दिल्ली: मोतीलाल बनारसी दास पावलिशार्स्प्राइवेट् लिमिटेड्, पु.- 23

^{4.} Hindu Succession Act of India 1956

182 संस्कृतविमर्शः

as full owner thereof and not as a limited owner-Explanation—In this sub-section, property, includes both movable and immovable property acquired by a female Hindu by inheritance or devise, or at a partition, or in lieu of maintenance or arrears of maintenance, or by gift from any person, whether a relative or not, before, at or after her marriage, or by her own skill or exertion, or by purchase or by prescription, or in any other manner whatsoever, and also any such property held by her as STRIDHANA immediately before the commencement of this Act.

2. Nothing contained in sub-section (1) shall apply to any property acquired by way of gift or under a will or any other instrument or under a decree or order of a civil court or under an award where the terms of the gift, will or other instrument or the decree, order or award prescribe a restricted estate in such property.

वस्तुतः प्राचीनधर्मशास्त्रेऽपि दृश्यते स्त्रियाः जीवद्दशायां तस्मिन् स्त्रीधने अन्यस्य कस्यापि अधिकारो नास्ति। परन्तु तन्मरणानन्तरं तत् स्त्रीधनं कः ग्रहीतुमधिकारी वा तस्मिन् धने के वा अधिकारिणः इत्येतेषां प्रश्नानामुत्तरं प्रदत्तम्। मातिर मृतायां स्त्रीधने प्रथमं दुहितॄणामधिकारः, दुहितृषु ऊढाऽनूढासमवाये प्रथममिववाहिता, तदभावे विवाहिता इति। विवाहितासु प्रथमं पुत्रवती, तदभावे सम्भावितपुत्रा, तदभावे च बन्ध्याविधवाविपर्ययस्तपुत्रादयो गृह्णीयुरिति जीमूतवाहनमतम्। योगीवरमतानुसारम् दुहित्रभावे दौहित्र्यः, धनहारिण्यो भवन्ति। दुहितृ-दौहित्र्यं समवाये दौहित्रीणां कृते किंचिदेव दातव्यम्। भगवन्मनुमते दौहित्रीणामप्यभावे दौहित्रा धनहारिणः भवन्ति-

यास्तासां स्युर्दुहितरस्तासामि यथार्हतः। मातामह्या धनात् किंचित् प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम्॥ इति।

तथापि 'ताभ्यः ऋतेऽन्वयः' इति याज्ञवल्क्यवचनादवगम्यते तद् दौहित्रीणामभावे पौत्रादयो धनभाजो भवन्ति। नारदेनाप्यनुरूपं मतं प्रकाशितम्– 'मातुर्दुहितरोऽभावे दुहितृणां तदन्वयः'। इति। अत्र च नव्यस्मार्तरघुनन्दनमतमपि स्मरणीयम्– तन्मते स्त्रीधनाधिकारक्रमः पिण्डदानक्रमानुसारं प्रदर्शितः। तत्र प्रथमो देवरस्तत् पिण्डभर्तृदेय-पूर्वित्रपुरुषिपण्डदातृत्वात्। तदभावे तद्भर्तृमातृसुता तदभावे स्वभगिनीपुत्रः मातृष्व-सृधनेऽधिकारी। तदभावे स्वभर्तृभगिन्योः मातुलानीधनेऽधिकारो भवति। तदभावे भ्रातृसुतः, तस्याप्यभावे श्वशुरयोः पिण्डदानात् जामाता धनाधिकारो भवति।

^{1.} सेट्लार, जास्टिस् एस्.एस्. (2007)। याज्ञवल्क्यसंहिता। प्रागेव, श्लोकसंख्या- 2/135-136

^{2.} द्विवेदी, गिरिजाप्रसाद (1915)। मनुसंहिता। प्रागेव, श्लोकसंख्या- 9.193

^{3.} नारदीयस्मृति:- 2/23

अथ अप्रजसः स्त्रीधने कस्याधिकार इति प्रसंगे अप्रजस्त्रीधनं भर्तुः ब्राह्मादिषु चतुर्ष्विप इति योगीवरयाज्ञवल्क्यमतम्-

अप्रजस्त्रीधनं भर्तुब्राह्मादिषु चतुर्ष्विप। दुहितृणां प्रसूता चेच्छेषेषु पितृगामि तत्॥ इति।

परिशेषे वक्तुं शक्यते अर्वाचीनिहन्दुविधौ मृतायाः स्त्रियाः धने केषामिधकारो भवेदिति विषये यिल्लिखतं तेन सह प्राचीनधर्मशास्त्रस्य सायुज्यं सर्वत्र नास्ति। यथा- पञ्चदशधारायामुक्तर् मुल्लामहोदयेन उत्तराधिकारिसूत्रेण हिन्दुनारी पित्रोः सकाशाद् यां सम्पत्तिं लब्धवती सा, तत्पुत्रकन्यानामभावे (पूर्वमृतपुत्रकन्यानां सन्तानैः सह) तित्पतुरुत्तराधिकारिणां सिवधे यास्यित। पुनश्च हिन्दुनारी भर्तृश्वशुरादिभ्यः सकाशादुत्तराधिकारिसूत्रेण यां सम्पत्तिं लब्धवती सा सर्वा स्वपुत्रकन्यानामभावे (पूर्वमृतपुत्रकन्यानां सन्तानैः सह) तद्भर्तुरुत्तराधिकारिणां सिवधे यास्यित। षोडश-धारामस्ति यदि मृतकस्य पुत्रः कन्या वा स्वपुत्रकन्यादिकमृत्पाद्य मृताः, उत्पन्नाः पुत्रकन्याश्च विभागकाले जीविताः, तिर्हि ते पुत्रकन्यादयस्तं तमंशं परस्परं विभज्य नेष्यिन्त, मृतकस्य मरणकाले जीविताः तित्पतरो मातरश्च यं यमंशमलप्स्यन्। अतः प्राचीनकाले यो नियमः प्रचिततः आसीत् स तिस्मन्समये कृते, अद्य यो नियमोऽस्ति स अस्मिन्समये कृते इति शम्।



^{1.} सेट्लार, जास्टिस् एस्.एस्. (2007)। याज्ञवल्क्यसंहिता। प्रागेव, श्लोकसंख्या- 2/144

Notwithstanding anything contained in sub§ion (1)—

- a) Any property inherited by a female Hindu from her father or mother shall devolve, in the absence of any son or daughter of the deceased (including the children of any pre-deceased son or daughter) not upon the other heirs referred to in sub-section (1) in the order specified therein, but upon the heirs of the father and
- b) Any property inherited by a female Hindu from her husband or from her father-in-law shall devolve, in the absence of any son or daughter of the deceased (including the children of any pre-deceased son or daughter) not upon the other heirs referred to in sub-section (1) in the order specified therein, but upon the heirs of the husband.

3. Hindu Succession Act 1956

If any son or daughter of the intestate had pre&deceased the intestate leaving his or her own children alive at the time of the intestate's death] the children of such son or daughter shall take between them the share which such son or daughter would have taken if living at the intestate's death.

^{2.} Hindu Succession Act of India-1956

उपनिषत्सु निहितप्रमुखतत्त्वानां विवेचनम्

-डॉ. विशम्बरदासः*

ISSN: 0975-1769

शोधसार: - उपनिषद् 'ब्रह्मविद्या' परमात्मविषयिणी 'पराविद्या' वेति व्यपदिश्यते। अत्र तु गत्यर्थकात् प्राप्त्यर्थकाद्वा सद्धातोर्निष्पन्नोऽयं शब्द:। लौकिकैरुपायैरनिधगतं तत्त्वं येनोपायेन विद्यते ज्ञायते, स उपाय एव 'विद्या'। सा च द्विविधा, परा अपरा च। येनोपायेन परमं तत्त्वमधिगम्यते, यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति, ज्ञातव्यं च नावशिष्यते, स एव 'पराविद्या', तद्भिन्ना विद्या तु 'अपरा'। धर्माधर्मयो: स्वरूपतत्साधन-फलविषयिणी 'अपराविद्या'। तथा हि विषयनिवृत्तिहेतोर्मोक्षसाधनपरा अध्यात्मविद्यैव पराविद्या। विषयप्रवृत्तिहेतोर्बन्धनकारणभूता कर्मकाण्डात्मिका वेदविद्या तु अपराविद्या। अधिगतोपनिषद्रपाध्यात्मविद्यया 'अहं कर्त्ता' 'अहं भोक्ता' इत्यहङ्कारबुद्धिर्निवर्तते, तथा 'मम पुत्रः' 'मम भार्या' 'मम ऐश्वर्यम्' इत्येवं ममत्वबुद्धिश्च नाशमर्हति। अहङ्कारो ममत्वबुद्धिश्च बन्धनस्य कारणम्। अहङ्कारं ममत्वबोधं च प्रति आत्मविषयकम्, अज्ञानं कारणम्। अत आत्मज्ञानेन अज्ञाननाशे सति अहङ्कारममत्वबोधयोर्नाशाद् बन्धनस्य सम्यक्तया नाशो भवति। अनात्मविषयिण्या अपराविद्यया तु अहङ्कारम-मत्वबोधयोरुद्दीपनं भवति, न तूच्छेद इति विशेष:। तस्माद् ब्रह्मतत्त्वप्रतिपादनपरा उपनिषदेव पराविद्या, वेदवेदाङ्गादीनि तु धर्मतत्त्वप्रतिपादकानि अपराविद्या इति कीर्त्यते। इयमुपनिषद्विद्या न केवलं मुमुक्षुणाम् आरण्यकानां सन्न्यासिनाञ्च कृते समृद्दिष्टा, किन्तु संसारिणां ब्रह्मचर्यगार्हस्थ्याश्रमिणां साधारणजनानां प्रात्याहिकजीवनेऽपि नितरामुपयुक्ता। अस्माकं व्यावहारिकजीवनम् अध्यात्मभावनया सम्पृक्तम्। जीवनस्य नैतिकमुल्यबोधो धर्मबोधो वा अध्यात्मबोधे प्रतिष्ठित:। सर्वात्मबुद्धिम्विना प्रकृतधर्मबोधो न जागर्त्ति। अत एव अपराविद्यया संसारसागरं तीर्त्वा पराविद्यया मोक्षपदं प्रापणीयम्-

प्रमुखशब्दाः - अपराविद्या, उपनिषद्, पराविद्या, रहस्यविद्या।

संस्कृतस्य वाङ्मयं द्विविधं लौकिकं वैदिकञ्चेति। वैदिकवाङ्मयं च संस्कृतसाहित्यस्यामूलनिधि:। तत्र वैदिकवाङ्मयान्तर्गता खलु 'उपनिषत्'। उपनिषद् शब्द: उप+नि+शद्लृ+क्विप् प्रत्ययपूर्वकात् निष्पद्यते षदलृ विशरणगत्यव-सादनेष्वित्यनुसारेण षदलृ धातु: विशरणगतिशिथिलीकरणेति त्रिष्वर्थेषु प्रयुक्तो भवति।

^{*} सहायक-आचार्य:, बाबू-अनन्त-राम-जनता-महाविद्यालय:, कौल-किपस्थलम्, हरियाणा।

कठोपनिषदि शांकरभाष्ये जगदगुरुशंकराचार्येण त्रयाणामर्थानां विवेचनं प्रस्तुतम्। सांसारिक विशरणातु.....उपनिषद् इत्युच्यते अर्थात् जगतः प्रपंचस्य हेतुभृतायाः अविद्यायाः नष्टत्वात् विशरणम्, परमानन्दस्य हेतुभूतायाः ब्रह्मज्योतेः प्राप्तित्वात् गति: तथा च ब्रह्मज्योत्या जन्ममरणादिदु:खत्रयाणां शमनत्वात् अवसादनिमत्यादय: त्रयो ह्यर्था: अपेक्षिता: वर्तन्ते। अस्ति तावद् वेदस्य अंशद्वयं मन्त्रो ब्राह्मणञ्चेति। तत्र मन्त्रव्याख्यानरूपस्य ब्राह्मणस्य प्रथमांशे मन्त्राणां यागादिकर्मस् विनियोगः प्रदर्शितः, स च भागो मन्त्रसंहितासहित: कर्मकाण्डात्मक एवेति सुप्रसिद्ध:। द्वितीयांशे आरण्यकानि अरण्ये कृत्यानि ज्ञानकर्मणोः समन्वयसाधकानि श्रूयन्ते। तृतीयांशस्तु ज्ञानकाण्डात्म-कोपनिषन्निचयोऽस्माकमत्र ज्ञातव्यविषय:। एतस्माद् कारणाद् सम्पूर्णवेदानां सारभूता उपनिषद् वेदस्यान्तर्भृतत्वाद् 'वेदान्त' इति नाम्ना प्रसिद्धा। उपनिषत् खलु वेदान्तस्य श्रुतिप्रस्थानरूपा। उपनिषद् इति शब्दः श्रुतावेव बहुवारं प्रयुक्तः। श्रीमद्भगवद्गीता च पुनरस्य स्मृतिप्रस्थानभूता गीताया उपनिषद्रपता च विद्वद्भिः सर्वैः परिज्ञाता, यतोहि गीतायाः प्रत्येकाध्यायान्ते पुष्पिकायां 'भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायाम्' इति सन्दर्भेण सङ्कीर्त्तनात्। वेदान्तस्य न्यायप्रस्थानं बादरायणवेदव्यासप्रणीतं पञ्चपञ्चाशदुत्तर-पञ्चशतसूत्रोपबृंहितं प्रथितमस्ति लोके। विवक्षितञ्च जगद्गुरुशङ्कराचार्येण 'वेदान्त-वाक्यक्स्मग्रथनार्थत्वात् सूत्राणाम् ¹² इति वाक्ये यद् उपनिषद्वाक्यानि समुपजीव्यैव लब्धसत्त्वानि सर्वाणि वेदान्तसूत्राणि प्रवृत्तानि। उपनिषद्वाक्यं प्रकृतेः जीवपरमात्मनोः रहस्यमुद्घाटयति।

सेयमुपनिषत् विद्वद्भिः 'रहस्यविद्या' इति नाम्ना ज्ञायते। उपनिषदुपदिष्टब्रह्म-तत्त्वस्य अतीव दुरूहत्वाद् रहसि गुरुमुखादेव इयं विद्या अधिगन्तव्या। यथा लिखितमस्ति छान्दोग्योपनिषदि-

'पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसम्पद्येत एवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेद " । अत्र स्थित्यर्थकसद्धातोर्व्युत्पादित एवोपनिषच्छब्द:। गुरुशिष्ययो: अवस्थानिनिमत्तका इयं विद्या इति तदर्थ:।

अस्मिन् उपक्रमे ब्रह्मविद्याचार्येण अङ्गिरसा स्वशिष्याय शौनकाय उपिदष्टोऽयं सन्देशः। अस्मिन् सन्देशे वेदान्तस्य महत्त्वम्, व्यापकता, विशिष्टता च सूच्यन्ते। अस्मिन् विशाले प्रपञ्चे शताधिकाः विद्याः सन्ति। यथा वेदिवद्या, वेदान्तविद्या, तर्कः, व्याकरणम्, मीमांसा, ज्योतिषम्, अस्त्रम्, शस्त्रम्, वैद्यम्, हस्तसामुद्रिकम्, नक्षत्रविद्याद्याः, अथ आधुनिकतान्त्रिकविद्याः, आभिः सह ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या च।

^{1.} कठोपनिषद्-शांकरभाष्यम्, प्रस्तावना

^{2.} ब्रह्मसूत्रशारीरकभाष्यम्, 5.1.2

^{3.} छान्दाग्योपनिषद्, 6.14.2

सर्वा अपि एता: विद्या: अत्र द्वेधा विभज्यन्ते। अनयो: द्वयोरेव विद्ययो: सर्वा अपि विद्या: अन्तर्भवन्ति। यथा च कथितं मुण्डकोपनिषदि ऋषिभि: –

'द्वे विद्ये वेदितव्ये।.....परा चैवापरा चेति। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्यौतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते'।

अपि च, अज्ञाननिवर्तका मोक्षतत्त्वप्रतिपादिका खलूपनिषद्विद्या। यस्यामुत्पद्य-मानायामिवद्या नाशमर्हति सा विवेककारिणी बुद्धिस्तत्त्वतः 'विद्या' इत्यिभधीयते। तथा च श्रुतिः – 'सा विद्या या विमुक्तये। अयं भावः – मूलीभूता आत्मविषयिणी अविद्यैव बन्धनस्योपादानम्। सम्यगात्मज्ञानं विना तस्या निवृत्ति भवितुं नार्हति। तत्र श्रवणमननिदिध्यासनैः सम्यगात्मज्ञानं भवित। तथा च श्रुतिः– आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः²।

तत्र मननेन आत्मविषयक संशयनाशः, निर्दिध्यासनेन च आत्मविषयक-विपरीतबुद्धिनाशो भवति। ततश्चात्मदर्शनम्, आत्मदर्शनेन चाज्ञाननिवृत्तौ मुक्तिर्भवति। तदुक्तम् -

स्वात्माज्ञानं कारणं बन्धनेऽस्य। स्वात्मज्ञानं तन्निवृत्तिश्च मोक्षः।

अस्मिन् कल्पे अवसादनार्थकान्निवृत्त्यर्थकाद्वा उत्पन्न उपनिषच्छब्दः। इदन्त्व-वधेयम्, स्वस्वरूपप्राप्तिर्नित्यनिरितशयसिच्चदानन्दस्वरूपाभिव्यक्तिर्वा मोक्षः। अत्र ज्ञानसमानकालीना अज्ञानिवृत्तिः, तत्समानकालीनस्वयम्प्रकाशनित्यनिरितशय-भूमानन्दाभिव्यक्तिः। नास्त्यत्र कार्यकारणभावः साध्यसाधनभावो वा। अतोऽत्र स्वस्वरूपप्राप्तिरूपाया मुक्तेरिनत्यतापित्तर्नापति। नित्यनिरितशयभूमानन्दभूतं मोक्षतत्त्वं श्रुतिस्मृतिन्यायप्रेक्षावदनुभवैश्चाभ्युपगतं भवति। तथा चात्र श्रुतिस्मृतिन्यायाः -

यो वै भूमा तत् सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति¹⁴, 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति¹⁵, 'ब्रह्मभावश्च मोक्षः⁶। अत्र 'सदा मे सुखं भूयात्, दुःखं मा भूत्' इति सर्वजनीनानु– भवश्चास्ति। उक्तञ्च

^{1.} मुण्डकोपनिषद्, प्रथममुण्डक, 5

^{2.} बृहदारण्यकोपनिषद्, 2.4.5

^{3.} संक्षेपशारीरकम् 1

^{4.} छान्दाग्योपनिषद्, 7.23.1

^{5.} मुण्डकोपनिषद्, 3.2

^{6.} शारीरकभाष्यम्, 1.1.4

देशकालानवच्छिन्नसुखाद्यर्थित्वदर्शनात् ।

अत्र नित्यनिरतिशयसुखं यदि न स्यात्, तर्हि तत्प्राप्त्यभिलाषितापि न स्यात्। न हि आकाशकुसुमाद्यसद्वस्तुविषयिणी अभीप्सा कस्यचिद् दृश्यते। अतः सर्वेषामानन्त्याभिमुखिप्रवृत्तिदर्शनान्मोक्षसुखमस्तीति को नाम अपलपेत्? अत एव ऋषीणामाशंसनम्-

असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मा अमृतं गमय²।

इदमत्र वक्तव्यं यद्, मुक्तिपदमभीप्सुभि: सन्त्याससिहता ब्रह्मविद्यैव नूनमपेक्ष्यते, न पुन: विषयासिक्तसमुपेतकर्मानुष्ठानिमत्युपनिषदामनुशासनम्। तथा च श्रुति: –

"न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः³" 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'⁴। 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय⁵'।

यस्तु सन्न्याससिहतात्मबुद्धेरनिधकारी, स खलु शास्त्रोक्ताग्निहोत्रादिकर्माणि यावज्जीवनं सम्पादयेदिति उपनिषद: परामर्श:। तथा च मन्त्र:

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्विय नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

अर्थात् मनुष्य आलस्यं विहाय सर्वस्य द्रष्टारं न्यायाधीशं परमात्मानं कर्तुमर्हा तदाज्ञां च मत्वा शुभानि कर्माणि कुर्वन्तोऽशुभानि त्यजन्तो शतवार्षिकमायुः प्राप्नुवन्ति। सन्न्यासग्रहणासामर्थ्ये सित, कर्मकरणस्य अवश्यम्भावित्वात् शुभकर्मानुष्ठानादन्यः प्रकारो नास्ति। तच्च कर्म निष्काममवश्यं भवेद् इत्याशयवान् आह श्रुतिरत्र – 'न कर्म लिप्यते नरे'। साधकः कर्मयोगी कर्मणः पापपुण्यादिफलेन नैव युज्येत। गीतोपनिषदि भगवता भूयो भूयोऽभिहितमेतत्।

कथं तर्हि वेदे सकामकर्मोपदेश: ? शङ्कायामस्यामेवमुच्यते, 'रोचनार्था फलश्रुति: इति भागवतोक्ते: श्रोतु: रुचिसम्पादनार्थमेव वेदे फलश्रवणम्। श्रुतेरत्र फलविशेषनिर्देशे न तात्पर्यम्, किन्तु अनासक्ततया कर्मसम्पादन एव तात्पर्यम्।

शास्त्रीयरीत्या सकामकर्मकारिणस्तु मृत्युमवाप्य दक्षिणायनपथा विचरन् कर्मानुसारेण पुन: पुन: जन्म लभन्ते। निष्कामकर्मकारिणस्तु नैष्कर्म्यं लब्ध्वा अन्ते

^{1.} बृहदारण्यकभाष्यवार्तिकम्, 290

^{2.} बृहदारण्यकोपनिषद्, 1.3.28

^{3.} कैवल्योपनिषद्, 1.2

^{4.} तैत्तिरीयोपनिषद्, 2.1

^{5.} श्वेताश्वतरोपनिषद्, 3.8

^{6.} ईशावास्योपनिषद्, 2

च स्वस्वरूपोपलिब्धं कृत्वा मुक्तकल्पा जीवन्मुक्ता भवन्ति। ये पुन: शास्त्रोक्तानि कर्माणि परित्यज्य केवलं रागतः प्राप्तानि शास्त्रनिषिद्धानि कर्माणि अनुतिष्ठन्ति ते तु अधोगच्छन्त्येव नियतम्।

अयमुपनिषदां परामर्शः, अविद्यासम्भूतानि शास्त्रीयाणि अग्निहोत्रादीनि सकामकर्माणि ये सम्पादयन्ति, ते खलु जन्ममरणचक्रेणावर्त्तिताः सन्तो गाढान्धकारं प्रविशन्ति। श्रुतिराह-

अत्र अविद्याशब्दः अग्निहोत्रादिकर्मपरः। 'विद्याया अन्याऽविद्या कर्मेत्यर्थः। कर्मणो विद्याविरोधित्वात् इति भाष्यसन्दर्भः। ये च तावद् देवतास्वरूपज्ञानपरायणाः, ते तु कर्मोपासनया यादृशं तमो लभ्यते ततोऽप्यधिकं तमो लभन्ते। अयं भावः, ऐहिकामुष्मिकफलकामनां हातुं ये न प्रभवन्ति, ते खल्वशुद्धचित्ताः कर्मण्येवाधिकारिणः स्युः, न तु ते कथमपि कर्म परित्यक्तुमर्हन्ति। सत्यपि कर्माधिकारे कर्मत्यागात्ते प्रत्यवायभाजो भवन्ति। ते च देवतातत्त्वानधिकारिणो विद्योपासनया कदापि देवलोकं प्राप्तुं न शक्नुवन्ति किन्तु पतिताः सन्तो भूयो भूयो दुःखमनुभवन्ति। अत एवाम्नायते,

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः।

अथ शङ्क्यते एवं सित कथं श्रुत्यन्तरेषु ज्ञानकर्मणोः पृथक् पृथग् अभ्युदयफलश्रवणम् 'विद्यया तद्धिरोहन्ति', विद्यया देवलोकः कर्मणा पितृलोकः इति? तत्रोच्यते, उभयोः एकैकानुष्ठानिनन्दा एवात्र क्रियते। निन्दया चोभयोः समुच्चय एव प्रशस्यते। अतो ज्ञानसमुचितकर्मानुष्ठानमेव कर्तव्यम्, न तूभयोरे-कैकानुष्ठानिमत्याशयवानाह आचार्यशङ्करः –

'तयोर्ज्ञानकर्मणोरिहैकैकानुष्ठाननिन्दा समुच्चिचीषया न निन्दापरैव, एकैकस्य पृथक्फलश्रवणात्'।²

तत्तद् ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानफलमपि स्फुटमुक्तमीशोपनिषदि-

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥

अर्थात् विद्यां च अविद्यां च देवताज्ञानं कर्म चेत्यर्थः। यस्तत् एतदुभयं सह एकेन पुरुषेण अनुष्ठेयं वेद तस्यैव समुच्चयकारिण एकैकपुरुषार्थसम्बन्धः क्रमेण स्यादित्युच्यते - अविद्यया कर्मणा अग्निहोत्रादिना मृत्युम्, स्वाभाविकं कर्म ज्ञानं च

^{1.} ईशोपनिषद्, 9

^{2.} तदेव, 9 शांकरभाष्यम्

^{3.} ईशावास्योपनिषद्, 11

मृत्युशब्दवाच्यम्, तदुभयं तीर्त्वा अतिक्रम्य विद्यया देवताज्ञानेन अमृतं देवतात्मभावम् प्राप्नोति। अत्र मृत्युपदेन स्वाभाविकं रागतः प्राप्तमनर्थकरं ज्ञानं कर्म च प्रतीयते। 'अमृत' पदेन चापेक्षिकममृतत्वं भूतसम्प्लवकालपर्यन्तमेककल्पं यावद् वा अवस्थान-मवगम्यते 'आभूतसंप्तवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते' इति विष्णुपुराण वचनप्रामाण्यात्। तदत्र अग्निहोत्रादिलक्षणाविद्यया स्वाभाविकज्ञानकर्मरूपमृत्यूत्तरणं भवति, न तु महामृत्यूत्तरणम्। देवतातत्त्वविद्यया च नैव परमानन्दभूत मोक्षतत्त्वलाभः, किन्तु आपेक्षिकैहिकसुखाधिकसुखलाभ इति ज्ञातव्यम्। अस्मद्गमनवदनुचिन्तनादिषु सदा एकरूपता भवत्विति श्रुतेराघोषः –

सङ्गच्छध्वं संवद्ध्वं सं वो मनांसि जानताम्। समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्। समानी व आकृतिः समाना हृदयानि वः॥

गुरुशिष्ययोर्नित्यमच्छेदप्रीतिसम्पर्कोऽस्तु। यतोहि उपनिषद्काले छात्राः गृहात् दूरं उषित्वा निकषोपवसन्ति स्म। इत्यपि उपनिषद्विधानम् –

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥²

तदेवं प्रकृतसाम्यवादपरिपोषकवेदोपनिषदाद्यध्यात्मशास्त्राध्ययनेन यदा सर्वेषु एकतासम्प्रीतिसम्पादकं स्वपरकल्याणकरं धर्मतत्त्वं विज्ञायते, ततश्च जागर्ति हृदये हिंसाविरोधवर्जिता यथार्था साम्यभावना, तदैव खलु वयं साम्प्रतिकभयङ्कर-सम्प्रदायादिविरोधसङ्कटात् सर्वथा मुक्ता भवेम। इयमेव हि नित्यवेदोपनिषदनुशीलनस्य व्यावहारिककार्यकारिता।

सम्प्रति समन्तात् समग्रे विश्वे या हिंसा या च विच्छिन्नता दृश्यते, तत्र प्रकृतधर्मिचिन्ताया अभाव एव कारणम्। प्रकृतधर्मस्वरूपमविजानत एव हि एवंविधः सम्प्रदायविरोधः। स एव प्रकृतो धर्मः, यस्तु बहुधा भिन्नानिप मानवान् एकतासूत्रेण सम्बद्धीकरोति। यस्तु जीवेषु मिथो विरोधं जनयित, हिंसावृत्तिञ्च वर्द्धयित, न स धर्मः। धर्मेण चित्तमुदारं भवित, न तु सङ्क्षीणम्। अपि च सम्प्रति भारतीयसनातनसंस्कृतेः सङ्कटकालः। स्वाधीनतोत्तर पञ्चाशद्वर्षभ्यः परमिप वयं न स्वाधीनचेतसो जाताः। अस्माकं चेतः सुपाश्चात्यदेशीयभावदास्यिमदानीमिप विचरित। पाश्चात्यानां भोगसर्वस्व-भावनया वयमितमात्रं प्रभाविताः। किन्त्वापातसुखकरोऽधिकाधिकविषयभोगोऽस्मद्भृदयेषु दुःखं प्रभूतमुत्पादयित। प्रेतं सुखं तु विषयवैराग्यादेव सम्पद्यते। तस्मात् संन्यास-

2. कठोपनिषद्-शान्तिवचनम्

^{1.} ऋग्वेद:, 5.10

190 संस्कृतविमर्शः

सिंहता अध्यात्मभावनैव परमसुखप्राप्तेर्निदानम्। धनैश्वर्यपुत्रकलत्रादिविषयभोगस्तु अनिष्टकरत्वाद् भारतीयानामपसंस्कृतिरेव अतस्त्यागधर्म एव वरणीय:, न तु भोगधर्म इत्येव हि भारतीयसंस्कृतेर्वेशिष्ट्यम्। अस्य च सम्यगवगतये उपनिषदध्ययनमावश्यकम्। औपनिषदिका उपदिशन्ति-

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:, मा गृध: कस्यस्विद् धनम्।

तस्मादपसंस्कृतेरपसारणपुर:सरं कल्याणकरभारतीयसंस्कृते: संरक्षणाय, साम्प्रतिकसम्प्रदायविरोधविनाशपूर्वकसर्वजनीनसम्प्रीतिसंविधानाय तथा सकलदु:ख-समुच्छेदपूर्वकपरमशान्तिलाभाय चोपनिषदध्ययनपमेक्ष्यत एकान्ततया इति स्थितम्।



^{1.} ईशावास्योपनिषद्, 1

प्राचीन भारतीय मूल्यांकन प्रणाली विमर्श

-प्रो. लीना सक्करवाल*

ISSN: 0975-1769

सारांश- शिक्षा जीवन पर्यन्त चलने वाली वह गत्यात्मक प्रक्रिया है जो व्यक्ति के बहुमुखी विकास से जुड़ी है। मनुष्यों के जीवन के चार स्तर- भौतिक, बौद्धिक, मानसिक और आध्यात्मिकता के चहुँमुखी विकास के रूप में इन्हीं चारों स्तरों में प्रत्येक बच्चे की छुपी हुई सम्भाव्यता का अनुकूलन करना आवश्यक होता है। और यह अनुकूलनता कक्षा में होने वाले निरन्तर अभ्यास जिसमें सतत मृल्यांकन की अवधारणा में निहित है, उसके माध्यम से ही प्राय: सम्भव हो सकता है। जो छात्र के व्यापक मूल्यांकन का आधार होगा तथा उसके द्वारा निश्चित किये गये छात्रों के परिणामात्मक मुल्य का भी निर्धारण करेगा। प्रस्तुत शोधपत्र में मूल्यांकन की इसी अवधारणा का विमर्श करते हुए मूल्यांकन आकलन के भेदों का वर्णन किया है और भारतीय परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन के सम्प्रत्यय का विचार विश्लेषण करते हुए प्राचीन भारतीय वाङ्मय के वैदिक-उपनिषद्काल के यम-नचिकेता संवाद, आदिकाव्य रामायण-महाभारत काल के यक्ष-युधिष्ठिर, रावण-सीता संवाद से लेकर संस्कृत साहित्य के उमा-महेश, राजा दिलीप के रघुवंश के विभिन्न प्रसङ्घो से भी आगे मूल्यांकन का विविध परिप्रेक्ष्यों में अवलोकन किया गया है। साथ ही गुरुकुल शिक्षा पद्धति की मूल्यांकन प्रणालियों की प्रासङ्गिकता को भी संस्तुत किया है।

मुख्यिबन्दुः- आकलन, मूल्यांकन, सतत मूल्यांकन, व्यापक मूल्यांकन, शलाकापद्धति, शास्त्रार्थ।

प्रस्तावना

मनुष्य के विकास के महत्त्वपूर्ण आधारों में शिक्षा की अहम भूमिका होती है। यदि हम शिक्षा को एक वैज्ञानिक प्रक्रिया बनाना चाहते हैं तो हमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाना होगा। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से तात्पर्य है कि हम प्राप्त परिणामों के ज्ञान के आधार पर वर्तमान क्रियाकलापों में परिवर्तन करें। वस्तुत: यह प्राप्त परिणाम विद्यार्थी के अधिगम की स्थित को दर्शाते हैं। जो यह बताते

^{*} शिक्षाशास्त्रविद्याशाखा, केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालय, जयपुर परिसर, राजस्थान।

192 संस्कृतविमर्शः

हैं कि विद्यार्थी का अपने विषय में क्या उपलब्धि स्तर है और बेहतर अधिगम के लिए क्या सम्भावनाएँ हो सकती है। **वायगाँस्की** की अधिगम के लिए रचनावादी दृष्टिकोण की अवधारणा इस बात पर जोर देती है कि आकलन केवल विद्यार्थी की उपलब्धि का ही नहीं है अपितु यह विद्यार्थी को अपने अधिगम को बढ़ाने में भी सहायता देता है। परिणामों के ज्ञान की ओर उदासीन बना रहना वैसा ही है जैसे हम एक भवन निर्माण के लिए सामग्री, श्रम एवं धन व्यय करें पर यह न देखें कि आखिर यह भवन किस प्रकार का बना है, क्या यह हमारी अपेक्षा के अनुकूल है, क्या जितनी पूँजी इसमें लगी है उसके अनुरूप ही प्रतीत होता है या नहीं। 2

इन परिणामों को जानने के पक्ष को लेकर ही, न केवल वर्तमान शिक्षा प्रणाली में अपित् प्राचीन भारतीय शिक्षा व्यवस्था में मुल्यांकन को एक सम्पूर्ण शैक्षिक-प्रक्रिया में परिवर्तन लाने का एक महत्त्वपूर्ण साधन माना है। मुल्यांकन की अवधारणा में किसी व्यक्ति के मापित मुल्य जैसे उसका ज्ञान, व्यवहार, आचार-विचार व्यक्तित्व, आत्मविश्वास इत्यादि का अवलोकन कर उसकी उपयुक्तता तथा उसके मूल्य का निर्णय किया जाता है। ग्रोन लुण्ड अपनी पुस्तक "Measurement of Evaluation in Teaching" में कहते हैं कि मूल्यांकन के अन्तर्गत छात्र व्यवहार परिमाणात्मक तथा गुणात्मक व्यवहार का अध्ययन एवं उसके मूल्य निर्धारण की प्रक्रिया मूल्यांकन कहलाती है।³ दाण्डेकर मूल्यांकन को इस प्रकार परिभाषित करते हुए कहते हैं कि- मूल्यांकन हमें यह बताता है कि बालक ने किस सीमा तक किन उद्देश्यों को प्राप्त किया है।⁴ **कोठारी** आयोग में मुल्यांकन को एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया कहा है जो शिक्षा प्रणाली का एक अभिन्न अङ्ग है। इससे छात्र की अध्ययन आदतों का शिक्षक की शिक्षण पद्धति पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। मूल्यांकन की प्रविधियाँ वांछित दिशाओं में छात्र के विकास विषय में प्रमाण संग्रहित करने के साधन हैं। 5 शिक्षणपद्धति में परिष्कार की दृष्टि से मूल्यांकन के साथ आकलन की अवधारणा को भी जोडा गया है। आकलन जिसे अंग्रेजी में assessment कहते हैं, एक सतत प्रिक्रिया है जो कि सीखने को सुधारने के लिए निर्धारित की गयी है। इसी को ही शिक्षण अधिगम प्रक्रिया में सतत मूल्यांकन भी कहा जाता है। सतत का

^{1.} पृष्ठ 67- इकाई- 12 सतत एवं व्यापक मूल्यांकन egyankosh.in

^{2.} पृष्ठ 6- शिक्षा में मापन एवं मूल्यांकन, डॉ. शिरीष बालिया।

^{3.} মৃত 6, Measurement & Evaluation in Teaching, Gronlund, N.E.

^{4.} पृष्ठ 50, Evaluation in school, Dandekar

^{5.} Kothari Commission Report (1966): Reference in complete

तात्पर्य निरन्तरता से है, जिसमें आकलन को शिक्षण अधिगम प्रक्रिया में एक नियमित गतिविधि बनाना है। इसके अन्तर्गत छात्रों के प्रदर्शन को औपचारिक और अनौपचारिक तरीकों से आँका जाता है। और यह शिक्षण के साथ चलने वाली प्रक्रिया है। छात्रों के प्रदर्शन आकलन करने के लिए शिक्षक अवलोकन, साक्षात्कार, स्व तथा सहपाठी आकलन, समूह कार्य, परियोजना आदि विभिन्न तकनीकों का प्रयोग करते है। आकलन शिक्षण अधिगम से जुड़ा होने के कारण इकाई, त्रैमासिक, अर्द्धवार्षिक तथा वार्षिक परिक्षाओं के माध्यम से संपन्न किया जाता है। सतत आकलन का मुख्य उद्देश्य ही छात्रों को उनके अध्ययन में नियमित रूप से शामिल करना तथा उन्हें अपने अधिगम में अपनी प्रगति को समझने में सहायता करना है।

यदि शिक्षक का उद्देश्य छात्रों के अधिगम व्यवहार को बेहतर बनाने तथा उन्हें अर्थपूर्ण अधिगम अनुभव देने के लिए शिक्षण रणनीतियों में बदलाव लाने का है तो सतत आकलन आवश्यक है। इसी क्रम में व्यापक मूल्यांकन की अवधारणा विद्यार्थी के सम्पूर्ण व्यक्तित्त्व के सर्वाङ्गीण विकास के आकलन का ध्यान रखता है। इस आकलन का उद्देश्य केवल किसी विषय विरोध में जिसमें विद्यार्थी पढ़ रहा है, उसके ज्ञान को आकना नहीं है बल्कि ज्ञान के अन्य क्षेत्रों जैसे कि कला तथा शिल्प शिक्षा, स्वास्थ्य तथा शारीरिक शिक्षा, शान्ति के लिए शिक्षा, जीवन कौशलों आदि में भी उसकी सहभागिता को आँकना है।

प्राचीन कालमें मूल्यांकन की अवधारणा

मूल्यांकन की यह सतत व्यापक अवधारणा न केवल वर्तमान शिक्षा प्रणाली में संशोधन हेतु प्रेरित करती है, अपितु यह सम्प्रत्यय प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली का निरन्तर ही अभिन्न अङ्ग रहा है। सैद्धान्तिक रूप से मूल्यांकन का यह सम्प्रत्यय प्राय: संवादों के रूप में शास्त्रार्थों के द्वारा, प्रवेश परीक्षा की विभिन्न विधियों, शलाका परीक्षा, वाद-विवाद के स्वरूप में, वेदों, उपनिषदों, दर्शनों, रामायण, महाभारत तथा संस्कृत साहित्य के विभिन्न काव्यों में विविध प्रसङ्गो में उद्धृत हुआ है। जिसके विश्लेषण द्वारा यह ज्ञात होता है कि मूल्यांकन का स्वरूप जिस तरह प्राचीन काल के ग्रन्थों में प्रमाणरूप में उपलब्ध है वह अत्यन्त सूक्ष्म तथा गम्भीर अर्थों को व्यक्त करते हैं।

मूल्यांकन की अवधारणा के **एक उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में** कठोपनिषद् का यमराज-नचिकेता संवाद प्राप्त होता है। आत्मतत्त्व को

^{16.} पृष्ठ 69, इकाई- 12 सतत एवं व्यापक मूल्यांकन egyankosh.in

ग्रहण करने की पात्रता का मुल्यांकन करने हेतु यमराज द्वारा निचकेता को पूछे गए प्रश्न ज्ञान की पात्रता की अर्हता के आकलन का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करता है। यमराज निचकेता की आत्मतत्त्व के ज्ञान के प्रति जिज्ञासा देखकर प्रसन्न तो हैं. परन्त वह यह जाँचना चाहते हैं कि वास्तव में निचकेता उस ज्ञान को ग्रहण करने की पात्रता रखते भी हैं या नहीं। अत: तत्त्व की कठिनता का वर्णन करके यमराज नचिकेता का ध्यान हटाना चाहते हैं। किन्तु नचिकेता आत्मतत्त्व प्राप्ति की दुर्लभता को सुनकर भी तनिक नहीं घबराते. और न ही उनका उत्साह किसी भी प्रकार से मन्द होता है। यमराज ने आत्मतत्त्व ज्ञान को **'न हि सुविज्ञेयमण्रेष धर्मः**' कहकर अत्यन्त सुक्ष्म बताया है। परन्तु निचकेता यमराज के कथनों का सन्तोषपरक उत्तर देते चले जाते हैं। नचिकेता कहते हैं कि यदि विषय अत्यन्त सूक्ष्म है तो इसका महत्त्व और अधिक बढ जाता है- 'नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् " यमराज निचकेता को सभी प्रकार के सांसारिक सुखों का प्रलोभन परीक्षा की दृष्टि से उनके सम्मुख रखते हैं किन्तु निचकेता अपने निश्चय पर अटल रहें। तब यमराज ने स्वर्ग के दैवी भोगों का भी प्रलोभन दिया किन्तु निचकेता ने इन सभी भोगों को क्षणभङ्गुर बताकर ठुकरा दिया।² जब पूरी तरह परीक्षा कर तथा प्रत्येक प्रकार से निचकेता के मन:स्थिति का मुल्यांकन कर यमराज ने यह जान लिया कि निचकेता दुढ निश्चयी, परम वैराग्यवान एवं निर्भीक है. तब उन्होंने ब्रह्मविद्या का उत्तम उत्तराधिकारी जानकर उपदेश आरम्भ किया। इस प्रसङ्घ से हम यह जान पाते हैं कि कठोपनिषद् का यमराज निचकेता संवाद किसी विद्यार्थी के ज्ञानप्राप्ति की अर्हता के मुल्याङ्कन का सजीव चित्रण प्रस्तत करता है। संवाद का यह चित्रण इस बात का संद्धेत करता है कि अमुक क्षेत्र के अमुक विषय के अर्ह व्यक्ति को ही ज्ञानप्राप्त होना चाहिए। क्योंकि ऐसा योग्य व्यक्ति ही ज्ञान के संरक्षण तथा सम्प्रसारण में महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकेगा।

इसी प्रकार **छान्दोग्योपनिषद्** की **सत्यकाम जाबाल** की कथा भी प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली के मूल्यांकन का एक अनूठा उदाहरण प्रस्तुत करती है। सुन्दर कथा प्रतीकात्मक रूप में मूल्यांकन द्वारा सत्यता के महत्त्व को बतलाती है। समृद्धशाली परिवारों में परिचारिका के कार्य से जीवन निर्वाह करने वाली एक स्त्री जिसका नाम जबाला था। उसे यौवन वयस में एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका

^{1. &#}x27;न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः'- कठोपनिषद् प्रथम वल्ली- 21

^{2. &#}x27;नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित्'- कठोपनिषद् प्रथम वल्ली- 22

^{3.} शतायुष: पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून पशून- कठोपनिषद् प्रथम वल्ली- 23

नाम सत्यकाम था। जबाला के पुत्र सत्यकाम ने गुरुकुल के लिए प्रस्थान करने से पूर्व जबाला से अपना गोत्र पूछा। जवाब में उसकी माँ ने बताया कि वह अतिथि सत्कार करने वाली परिचारिणी थी, वहीं उसे पुत्र की प्राप्ति हुई थी, गोत्र क्या वह नहीं जानती। साथ ही माँ ने कहा कि तुम मेरे पुत्र हो, अपना नाम 'सत्यकाम जाबाल' बताना। सत्यकाम हारिद्रुमत गौतम के आश्रम में पहुँचा। आचार्य गौतम के पूछने पर उसने माँ की कही बात ज्यों की त्यों दोहरा दी। आचार्य ने कहा 'इतना स्पष्टवादी बालक ब्राह्मण के अतिरिक्त कौन हो सकता है।' कहानी प्रतीकात्मक है किन्तु मूल्यांकन के मानक को निर्धारित करती है। सत्यकाम की स्पष्टवादिता उसके तेजस्वी होने का प्रमाण गौतम को दे देती है। और वे तुरन्त ब्राह्मण की संज्ञा (तेजस्विता) से सम्बोधित करते हुए सत्यकाम का प्रवेश आश्रम में कर लेते हैं।

मूल्यांकन की कसौटी का एक प्रसंग महाभारत के आदिपर्व की कथा से भी प्राप्त होता है। जहाँ बाल्यकाल में पाँच पाण्डव तथा कौरव द्रोणाचार्य के आश्रम में शस्त्र-कौशल में प्रशिक्षण प्राप्त करने आते हैं। धनुर्विद्या सिखाने से पूर्व द्रोणाचार्य सभी पाण्डवों का मूल्यांकन इस दृष्टि से करते हैं कि क्या वे सभी धनुर्विद्या सीखने के अधिकारी हैं भी या नहीं। वे एक-एक करके सभी पाण्डवों से प्रश्न करते हैं तथा उनसे लकड़ी की चिड़िया की आँख बींधने के सम्बन्ध में प्रश्न पूछते हैं। सभी के उत्तरों में से अर्जुन के सटीक उत्तर पाकर, जहाँ अर्जुन केवल अपने लक्ष्य पर केन्द्रित था, जिसे

एवमुक्तः सव्यसाची मण्डलीकृतकार्मुकः।
तस्थौ भासं समुद्दिश्य गुरुवाक्यप्रचोदितः।।३।।
मुहूर्तादिव तं द्रोणस्थैव समभाषत।
पश्यस्येनं स्थितं भासं द्रुमं मामिष चार्जुन।।४।।
पश्याम्येकं भासिमिति द्रोणं पार्थोऽभ्यभाषत।
न तु वृक्षं भवन्तं वा पश्यामिति च भारत।।ऽ।।
ततः प्रीतमना द्रोणो मुहूर्तादिव तं पुनः।
प्रत्यभाषत दुर्धर्षः पाण्डवानां महारथम्।।६।।
भासं पश्यसि यद्येनं तथा ब्रूहि पुनर्वचः।
शिरः पश्यामि भासस्य न गात्रमिति सोऽब्रवीत्।।७।।
अर्जुनेनैवमुक्तस्तु द्रोणो हृष्टतनूरुहः।
मुञ्चस्वेत्यब्रवीत् पार्थं स मुमोचाविचारयन्।।।।।

^{1.} Bharatdiscovery.org

^{2. 132} वाँ अध्याय महाभारत (प्रथम खण्ड) आदिपर्व और सभापर्व, गीताप्रेस, गोरखपुर kindle edition

चिडिया की आँख के अतिरिक्त और कुछ न दिखायी दे रहा था। जब कि उसके अन्य भाईयों के चिडिया के साथ-साथ वृक्ष, पेड, फल, फुल इत्यादि सब दिख रहे थे। द्रोणाचार्य अर्जुन के इस उत्तर से सन्तुष्ट हो, उसके महानधनुर्धर होने की सम्भावना को परख लेते हैं। कहानी सिखाती है कि मूल्यांकन की एक कसौटी लक्ष्य की केन्द्रियता तथा सटीक उत्तरों का देना भी होता है। प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में मुल्यांकन कसौटी, परीक्षा, चर्चा के स्वरूप में प्राप्त होता है, अर्थात् विविध संवादो जैसे यम- निचकेता संवाद, यक्ष-युधिष्ठिर संवाद, सीता-रावण संवाद, द्रोणाचार्य-पाण्डव संवाद इत्यादि द्वारा कसौटी पर कसने के बाद ही व्यक्ति उस अमुक् ज्ञान का अधिकारी है या नहीं यह जाने बिना ज्ञान नहीं दिया जाता था। बहुत से ऐसे प्रसङ्ग है जहाँ संवाद के माध्यम से, प्रश्नोत्तर रीति के द्वारा परीक्षक ज्ञान के स्तर का अङ्कन करता है। इसी का ही एक उदाहरण महाभारत के वन पर्व का यक्ष-युधिष्ठिर संवाद है जो मूल्यांकन का बेजोड़ नमूना है। यक्ष द्वारा पूछे गये युधिष्ठिर को प्रश्न जिनका सही उत्तर देकर युधिष्ठिर अपने मृत भाईयों को जीवित कर यक्ष की मूल्यांकन दृष्टि में खरा उतर अपने भाईयों को पुन: उनकी जीवित अवस्था में प्राप्त किया। कथा कहती है कि पाण्डव जब वन में घूम रहे थे तब द्रौपदी के प्यास लगने पर उसने जल मांगा। जल ढुंढने के लिए एक-एक करके सभी पाण्डव समीप सरोवर से जल लाने गये। मगर जल लेकर लौटे नहीं। अन्त में युधिष्ठिर द्वारा यह देखे जाने पर उनके सारे भाई प्राणहीन हुए भूमि पर गिरे हैं, और एक विशालकाय यक्ष जो कि उस तालाब का मालिक है. वह कहता है कि प्रश्नों के उत्तर दिये बिना, तालाब का पानी पीने की अर्हता नहीं है। प्रतीकात्मक रूप में यह कथा यही बताने का प्रयास करती है कि कसौटी पर कसे बिना, यदि मनुष्य को किसी स्थान, पद या उपाधि की प्राप्ति हो जाती है तो वह उस प्राप्ति को पचा न सकेगा। वह प्राणहीन होकर उसी प्रकार नष्ट हो जायेंगे जैसे यधिष्ठिर के भाई यक्ष के प्रश्नों की कसौटी पर खरे उतरे बिना तालाब का जल ले जाना चाहते थे. अत: यह कथा व्यक्ति की योग्यता के मुल्यांकन के निकष को प्रस्तुत करती है। युधिष्ठिर द्वारा दिये गये उत्तरों से सन्तुष्ट हो जाने पर ही यक्ष सहर्ष उन्हें तालाब का पानी ग्रहण करने को कहते हैं। मूल्यांकन कर्ता की प्राप्त उत्तरों से सहर्षता, संतोष भाव, मनुष्य को उसकी क्षमता, योग्यता का दर्पण दिखाता है। युधिष्ठिर ने एक-एक करके सभी प्रश्नों का संतुष्टिपरक उत्तर देकर यक्ष को संतुष्ट व प्रसन्न किया। यक्ष-यधिष्ठिर संवाद एक नमूना हम इस प्रकार देख सकते हैं।

^{1.} आरेण्यपर्व 312,313 महाभारत (द्वितीय खण्ड) वनपर्व और विराटपर्व, गीताप्रेस, गोरखपुर Kindle edition

यक्ष उवाच

केनस्विच्छ्रोत्रियो भवति केनस्विद्विन्दते महत्। केन द्वितीयान्भवति राजन् केन च बुद्धिमान्॥

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतेन श्रोत्रियो भवति, तपसा विन्दते महत्। धृत्या द्वितीयान्भवति, बुद्धिमान्वृद्धसेवया॥

यक्ष उवाच

किंस्विद् गुरुतरं भूमेः किंस्विदुच्चतरं च खात्। किंस्विच्छीग्नतरं वायोः किंस्विद् बहुतरं तृणात्॥

युधिष्ठिर उवाच

माता गुरुतरा भूमेः खात्पितोच्चरतस्तथा। मनः शीघ्रतरं वाताच्चिन्ता बहुतरी तृणात्॥

इसी प्रकार रामायण में सीता रावण संवाद सीता के चिरत्र के मूल्यांकन का दृश्य प्रस्तुत करता है जहाँ सीता रावण द्वारा दिये गये प्रत्येक प्रलोभन को ठुकराकर प्रभुराम में ही प्रीति का सुन्दर चारित्रिक उदाहरण प्रस्तुत करती है तथा सीता की अग्निपरीक्षा का प्रसंग भी उनकी चारित्रिक मूल्यांकन के निकष को प्रस्तुत करता है। अग्निपरीक्षा प्रतीकात्मक रूप में जहाँ अग्नि अर्थात् कठिनाई को जो दर्शाये। किन्तु सीता की पतिव्रता तथा सच्चाई उस अग्निपरीक्षा में भी खरी उतरती है। मूल्यांकन का एक और निकष चारित्रिक पवित्रता तथा सत्यनिष्ठा भी इस घटना से सभी के समक्ष आता है। इस तरह के मूल्यांकन को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से व्यवहार के अन्तर्गत भी रख सकते है।

 ⁴⁷ सर्ग (सप्तचत्वारिंश: सर्ग:) श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण (प्रथम खण्ड), गीताप्रेस, गोरखपुर

पञ्चदास्यः सहस्राणि सर्वाभरणभूषिताः। सीते परिचरिष्यन्ति भार्यां भवसि मे यदि।।31॥ रावणेनैवमुक्ता तु कुपिता जनकात्मजा। प्रत्युवाचानवद्याङ्गी तमनादृत्य राक्षसम्।।32॥ महागिरिमिवाकम्प्यं महेन्द्रसदृशं पतिम्। महोदिधिमिवाक्षोभ्यमहं राममनुव्रता।।33॥

198 संस्कृतविमर्शः

मूल्यांकन की अवधारणा के विविध दृष्टान्त उदाहरण संस्कृत वाङ्मय के ग्रन्थों में प्रचुरमात्रा में उपलब्ध मिलते हैं। गीता में आत्मज्ञान की प्राप्ति हेतु कृष्ण द्वारा दिया गया पात्र की अर्हता का पद्य भी मूल्यांकन का सजीव उदाहरण प्रस्तुत करता है।

योगिनामि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ (6.41)

उसी प्रकार योगदर्शन में भी समाधि तक पहुँचने में सात सोपान यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि मूल्यांकन के स्वरूप को ही बतलाते हैं। इसी प्रकार संस्कृत साहित्य में भी मूल्यांकन दृष्टि से प्रचुरमात्रा में उदाहरण उपलब्ध होते हैं जैसे कालिदास के कुमारसम्भव में तपस्या करती हुई पार्वती की परीक्षा लेने स्वयं शिव अन्य पुरुष का वेशधारण कर पहुँचते है। उनके तप में कितना बल और कितनी निष्ठा है, उसका मूल्यांकन करने हेतु स्वयं शिव ही अपनी निन्दा करते है। किन्तु शिव के प्रति सच्ची निष्ठा रखने वाली पार्वती को एक क्षण के लिए भी विचलित नहीं कर पाते। आकलन की कसौटी का बेजोड़ नमूना है। इसके अतिरिक्त रघुवंश में राजा दिलीप की भक्ति की परीक्षा भी मूल्यांकन की पराकाष्ठा को प्रस्तुत करती है। जहाँ नन्दिनी गाय की सेवा में समर्पित वे स्वयं सिंह के आगे भोजनरूप में उपस्थित हो जाते हैं।

पृष्ठ 75, कालिदासिवरिचत कुमारसम्भवम् पञ्चम् सर्ग वपुर्विरुपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु।
 वरेषु यद् बालमृगािक्ष! मृग्यते तदिस्ति किं व्यस्तमिपि त्रिलोचने।।72।।
 निवर्तयास्मादसदीिप्सतान्मनः क्व तिद्वधस्त्वं क्व च पुण्यलक्षणा।
 अपेक्ष्यते साधुजनेन वैदिकी श्मशानशूलस्य न यूपसित्क्रया।।73।।
 इति द्विजातौ प्रतिकूलवािदिन प्रवेपमानाक्षरलक्ष्यकोपया। विकुञ्चित श्रूलतमािहते तया
 विलोचने तिर्यगुपान्तलोिहते
 उवाच चौनं परमार्थतो हरं न वेत्सि नूनं यत एवमात्य माम्।।74।।
 अलोकसामान्यमिचन्त्यहेतुकं द्वेषन्ति मन्दाश्चिरतं महात्मनाम्।।75।।

^{2.} पृष्ठ 37, द्वितीय सर्गः, रघुवंश महाकाव्यम्, स पाटलायां गिव तस्थिवांसं धनुर्धरः केसिरणं ददर्श। अधित्यकायामिव धातुमय्यां लोध्रद्वुभं सातुमतः प्रफुल्लम्।।29।। ततो मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रनामी दधाय वध्यस्य शरं शरण्यः। जाताभिषङ्को नृपतिर्निषङ्गादुद्धर्तुमैच्छत्प्रसमोद्भतारिः।।30।।

इसी प्रकार राजा शिबि के दानवीर, परोपकारी, रक्षार्थी होने की कथा का भी मूल्यांकन या परीक्षा का अद्भुत उदाहरण है। जहाँ वह कबूतर की रक्षा में बाज को अपना हाथ काटकर तराजू में रखते है और फिर अन्त में सम्पूर्ण शरीर समर्पित कर देते है।

प्राचीन विश्वविद्यालयों में मूल्यांकन पद्धतियों का स्वरूप

विविध उदाहरण, दुष्टान्त, घटनायें मूल्यांकन की अवधारणा के सम्बन्ध में प्राप्त होते हैं। केवल इतना ही नहीं प्राचीन भारतीय मुल्यांकन पद्धति का क्रियान्वित स्वरूप भी हमें तत्कालीन विश्वविद्यालयों जैसे नालन्दा. तक्षशिला में अध्ययन हेत्, प्रवेश मुल्यांकन पद्धित के रूप में प्राप्त होता है। यद्यपि प्राचीन शैक्षिक संस्थाओं में प्रवेश परीक्षा के विषय में बहुत थोड़ी सूचना प्राप्त होती है। तथापि इतना तो उपलब्ध होता है कि छात्रों का उच्च शैक्षिक संस्थानों में अमुक् विषय की कक्षा में प्रवेश हेत् गम्भीर परीक्षाओं से गुजरना होता था। छात्रों की मेधाशक्ति को ज्ञान की कसौटी पर गम्भीर ढंग से मल्यांकित किया जाता था। उस समय किसी भी प्रकार के प्रवजन प्रमाण पत्र, उपाधियों इत्यादि नहीं होती थी जिनके आश्रय में छात्र अन्य किसी शैक्षिक संस्थान में प्रवेश ले सके। इस बात को प्रमाणित करते हुए **यॉन चॉग (Youn Chwang)** कहते हैं कि¹ उस समय प्राचीन नालंदा विश्वविद्यालय में प्रवेश हेतु मात्र दस में से दो या तीन छात्रों का प्रवेश हो पाता था। नालंदा, विक्रमशिला विश्वविद्यालयों के द्वारपाल प्रत्येक द्वार पर इसलिए ही नियुक्त होते थे ताकि वे मेधावी छात्रों की विद्वत्ता की जाँच कर उनको प्रवेश दे सकें। उनका कार्य ही छात्रों की शैक्षिक योग्यताओं तथा क्षमताओं को जाँचता था और प्राय: प्रवेश परीक्षा का यह मूल्यांकन का सिद्धान्त अन्य सभी शैक्षिक संस्थाओं तथा विश्वविद्यालयों में अपनाया जाता रहा होगा। फिर भी सटीक रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता।

प्राचीन भारत में नालन्दा विश्वविद्यालय उच्च शैक्षिक संस्था के रूप में विख्यात था। यह शैक्षिक संस्था विश्वविद्यालय की आखिरी स्तर का शिक्षा की समस्याओं का समाधान देने में, वाद-विवाद तथा जनसमूह में भाषण देने का प्रशिक्षण दिया करता था। इसलिए Hiren Tsang (Walterm ii, 165) कहता है² कि विदेशी छात्र अपनी शैक्षिक समस्याओं के समाधान को प्राप्त कर अत्यन्त प्रसन्न तथा उत्सवपूर्ण हो जाया करते थे। ये विदेशी विद्यार्थी मंगोलिया, चीन,

^{1.} पृष्ठ संख्या 62-63, Altekar AS, Education in Ancient India

^{2.} पृष्ठ- 563-564, डववामतरप, Radha Kumud, Ancient Indian Education, Brahmanical and Buddhist

कोरिया, तिब्बत, तोखरा इत्यादि देशों से भारत में नालन्दा विश्वविद्यालय में पढ़ने आया करते थे। ये विद्यार्थी अपनी शिक्षा के बल पर प्रसिद्धि प्राप्त करने भी आते थे। ये विद्वान विद्यार्थी जनसमूहों में अपने वाद-विवाद शास्त्रार्थ द्वारा अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन कर तथा प्रमाणित सुधीजनों से विद्वत्ता की प्रमाणिकता प्राप्त कर प्रसिद्धि प्राप्त करते थे। इसलिए नालन्दा एक वस्तुत: शोधसंस्थान था जहाँ विलक्षण तथा बौद्धिक प्रतिभा से सम्पन्न विद्यार्थी शोधकार्य करने आया करते थे।

राधाकुमुदमुखर्जी अपनी पुस्तक Ancient Indian Education, Brahmanical and Buddhist में लिखती है कि उस समय सर्वोच्च फैलोशिप नालन्दा की ही मानी जाती थी। अत: नालन्दा विश्वविद्यालय में प्रवेश भी आसानी से नहीं होता था। वहाँ की प्रवेश परीक्षा अत्यन्त कठिन थी। मैट्रिक स्तर पर अनुत्तीर्ण छात्रों की संख्या बहुत अधिक हुआ करती थी। Hiven Tsang के अनुसार केवल 20% विद्यार्थी ही विश्वविद्यालय के प्रवेश परीक्षा को उत्तीर्ण कर पाते थे। फिर भी पढ़ने वाले छात्रों की संख्या 10,000 हुआ करती थी। प्रवेश परीक्षा हेतु छात्र की आयु 20 वर्ष की तो होनी ही चाहिए। I-tsing के अनुसार 15 की आयु में छात्र को वृत्ति सूत्र पढ़ना चाहिए और 20 वर्ष की आयु तक समाप्त कर देना चाहिए। और उसके पश्चात् 2 या 3 वर्ष के लिए उसे उच्च शैक्षिक संस्थान जैसे नालन्दा या वलभी विश्वविद्यालयों में दर्शन का अध्ययन करना चाहिए।

प्राचीन मूल्यांकन पद्धतियों की प्रासंगिकता

पूर्व में भी इस बात की चर्चा की जा चुकी है कि प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली में वर्तमान व्यवस्था की तरह ईकाई, तिमाही, छमाही, वार्षिक परीक्षा इत्यादि नहीं हुआ करती थी। नवीन पाठ छात्र को तब ही पढ़ाया जाता था जब छात्र शिक्षक को मौखिक परीक्षा के द्वारा इस बात से संतुष्ट कर देता था कि उसे अब तक का पढ़ा हुआ सब कुछ कण्ठस्थ और अर्थसहित याद है या नहीं। किसी भी पाठ्यक्रम के अन्त में लंबी, थका देने वाली लिखित परीक्षाओं के स्थान पर छात्र अपने पाठों का मौखिक प्रस्तुतीकरण और उसकी अर्थ सहित व्याख्या किया करते थे। इन मौखिक परीक्षाओं के प्रचलित स्वरूप थे जैसे, शलाका परीक्षा, वाद-विवाद, शास्त्रार्थ, संवाद प्रश्न-प्रतिप्रश्न इत्यादि। शलाका परीक्षा के द्वारा छात्र की तीव्र बुद्धि का मूल्यांकन किया जाता था। इस परीक्षा में परीक्षणकर्ता किसी भी ग्रन्थ के तालपत्रों के पृष्ठों में शलाका रखकर

^{1.} पृष्ठ 303, संस्कृतशिक्षणं मूल्याङ्कनश्च, संस्कृतशिक्षणम् प्रो. सन्तोषमित्तल

पृष्ठिवशेष से सम्बद्ध प्रश्नों पंक्तियों के भाव इत्यादि पूछते थे। यह उस समय की एक बहुत प्रतिष्ठित परीक्षा थी, जो आज वर्तमान में भी संस्कृत गुरुकुलों, विद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में अखिल भारतीय स्तर पर आयोजित की जाती थी। जो छात्र जिस विषय में निष्णात था वह उसमें परीक्षा देता था। जैसे व्याकरण-साहित्य-न्याय-वेदान्तादि-शास्त्रों के लक्षणग्रन्थों में शलाका रखकर परीक्षा होती थी। जैसे व्याकरण शास्त्र के महाभाष्यग्रन्थ में शलाकारूप में लेने वाली परीक्षा में इस प्रकार से प्रश्न पूछे जाते थे- जैसे इस पृष्ठ में कौन सा सूत्र है। सूत्र की संख्या क्या है। सूत्र की अनुवृत्ति क्या है। सूत्र का क्या अर्थ है। सूत्र की व्याख्या कैसे करनी चाहिए। सूत्र में विशेष क्या है। इत्यादि। प्राय: शलाका के अभाव में पुस्तक हाथ में लेकर परीक्षक मण्डल का एक सदस्य पुस्तक को उद्घाटित करता है। जो पृष्ठ उद्घाटित होता है, प्रक्रिया वहीं से प्रारम्भ होती है। यह परीक्षा वर्तमान समय में भी परम्परागत प्रणाली से संस्कृत पढ़ने वाले छात्रों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। तथा जो अध्यापकों के द्वारा मौखिक परीक्षा के रूप में लाने के प्रयास में होनी चाहिए।

इसके अतिरिक्त आचार्य शिष्यों का परीक्षण शास्त्रार्थ पद्धित से भी करते थे। इसमें ग्रन्थ की कोई भी समस्या को प्रस्तुत करके उस पर छात्र अपने अपने विचारों को प्रकट करते थे। इस प्रकार तर्क-वितर्क द्वारा शिष्य अपने विचारों को प्रकट करते थे। आचार्य छात्रों के ज्ञान-उच्चारण-आत्मविश्वास इत्यादि का परीक्षण करते थे। वर्तमान समय में वाद-विवाद प्रतियोगिता के रूप में इसका स्वरूप देखने को मिलता है। परन्तु स्वरूप सर्वथा भिन्न है।

छात्रों के प्रवेश समय पर गुरु उसके पूर्वज्ञान की परीक्षा के लिए संस्कृत में वार्तालाप करते हुए लघुप्रश्नों को पूछते थे। वर्तमान समय में भी हम पाते हैं कि प्रवेश हेतु साक्षात्कार में छात्र के आधारभूत ज्ञान की परीक्षा के लिए प्रश्न पूछकर मौखिक परीक्षा ली जाती है। इसके अलावा विद्यार्थी की शिक्षा की समाप्ति पर उसके ज्ञान के मूल्यांकन हेतु स्थानीय विद्वद्जनों को आमन्त्रित किया जाता था। तथा वे लोग सभा में विद्यार्थी के ज्ञान का मूल्यांकन विभिन्न प्रश्नों द्वारा करते थे। गृह सूत्रों से यह ज्ञान होता है कि इस तरह की विद्वद्जन सभा का आयोजन समावर्तन संस्कार (कार्यक्रम) की समाप्ति के पश्चात् किया जाता है। अत: यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि विद्यार्थी की समावर्तन संस्कार हेतु योग्यता का निर्धारण विद्वानों की सभा द्वारा न होकर विद्वार्थी के शिक्षक द्वारा ही

^{1.} Dr. GrS, III 1, 26:Ap. Gr S. 1,11,5

202 संस्कृतविमर्शः

होता है, जो पूर्व में किया जा चुका होता है। काव्यमीमांसा में राजशेखर कहते है कि परीक्षाओं का आयोजन राज्यसभाओं में हुआ करता था और चरक का विमानस्थान में यह कहना कि प्रतिस्पर्धित चिकित्सकों की विद्वान सभाओं में किस प्रकार से गम्भीर शास्त्रार्थ हुआ करता था। इस प्रकार की परीक्षाएं तथा मूल्यांकन आधुनिक शिक्षा प्रणाली से सर्वथा भिन्न थे। चूँकि उस समय किसी भी प्रकार की डिग्री, डिप्लोमा हेतु परीक्षा नहीं होती थी। किन्तु, तारानाथ से यह पता चलता है कि बंगाल के पाल राजा जो उस समय विक्रमिशिला विश्वविद्यालय के संरक्षक कुलाधिपति हुआ करते थे। विद्यार्थियों की शिक्षा समाप्ति पर दीक्षान्त समारोह में डिप्लोमा दिया करते थे। मध्यकालीन बंगाल में बौद्धिक संस्थाओं द्वारा प्रसिद्ध उपाधि जैसे तारकचक्रवर्ती, तारकालंकार, विलक्षण विद्वान जैसे गदाधर तथा जगदीश को दी गयी थी। उपाधियों का इस तरह दिया जाना मध्यकालीन समय के नवाचार को दर्शाता है।

प्राचीन भारत में विद्यार्थियों को योग्यताओं को प्रमाणित करने के लिए लम्बी, थकाऊ, उबाऊ लिखित परीक्षाएँ नहीं देनी होती थी। जहाँ आधुनिक शिक्षा प्रणाली में एक स्नातक अपनी डिग्री के कारण स्नातक कहा जाता है, और शायद वह अपना अध्ययन किया हुआ शास्त्र या विषय विस्मृत भी कर दे, तब भी उपाधि प्राप्ति के कारण स्नातक या स्नातकोत्तर कहलाएगा और उसकी योग्यता पर भी कोई प्रश्न नहीं उठा सकता, वहीं प्राचीन भारत के विद्यार्थियों को कभी भी उपाधियों का आश्रय लेने का प्रावधान नहीं था। उपाधियों, प्रमाणपत्रों या सम्मानों की ओट में वे अपनी योग्यताओं को सिद्ध नहीं कर सकते थे। उन्हें अपने ज्ञान को सदा ही स्मरणीय तथा अधुनातन रखना होता था। तािक कभी भी किसी के साथ शास्त्रार्थ में अपनी बात को बोधगम्य ढंग से प्रस्तुत कर सकें। उस समय उनकी सारी विद्या जिह्वा पर नर्तन करनी चािहए। वे अपनी योग्यताओं को सिद्ध करने के लिए न तो किसी प्रकार के डिप्लोमा या उपाधि को प्रस्तुत करता था, और न ही किसी प्रकार के लिखित सन्दर्भों को देखने का समय मांगता था।

निष्कर्ष तथा प्रासंगिक चर्चा

यह तो सर्वविदित है कि प्राचीन भारतीय विश्वविद्यालय की शिक्षा पद्धित से बहुत से विलक्षण प्रतिभावान छात्रों का उदय हुआ जिसमें प्राचीन भारतीय वैज्ञानिक, चिकित्सक, गणितज्ञ, रसायनशास्त्रज्ञ इत्यादि विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ

^{1.} पृष्ठ- 55, राजशेखर प्रणीत काव्यमीमांसा

^{2.} पृष्ठ-8, चरक प्रणीत विमानस्थानम्

^{3.} पृष्ठ- 61, Bose, Indian Teachers of Buddhist Universities

शामिल थे जैसे आर्यभट्ट, चरक, सुश्रुत, श्रीधराचार्य, नागार्जुन, पिंगल, शालिहोत्र, वराहमिहिर, बोधायन, ब्रह्मगुप्त, लगध, कणाद, भास्कराचार्य, माधवकर, धन्वन्तरि, अगस्त्य, महावीर (गणितज्ञ) इत्यादि नाम किसी परिचय के मोहताज नहीं है। अन्ततोगत्वा निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि आधुनिक शिक्षा प्रणाली जिस प्रकार औपनिवेशिक परीक्षा व्यवस्था का अनुसरण करती आयी है, उस पर आज जब भारत स्वतन्त्र है यह चिन्तन आवश्यक है। ब्रिटिशकाल में परतन्त्रता की बेडियों में जकडा भारत औपनिवेशिक व्यवस्थाओं का अनुसरण करने के लिए मजबुर था। जहाँ शिक्षा व्यवस्था ब्रिटिश काल के अधिकारियों ने अपने खुद के प्रशासन को सुचारूरूप से चलाने हेतू कर रखी थी। किन्तु आजादी के 75 वें स्वतन्त्रता के अमृतमहोत्सव को मनाते हुए, भारत देश की अत्यन्त समृद्ध व सशक्त प्राचीन शिक्षा की मुल्यांकन प्रणाली का अवलोकन करना आवश्यक है। जिससे कि हम यह जान सकें कि क्यों आज की शिक्षा प्रणाली आर्यभट्ट, सुश्रुत, भास्कराचार्य जैसे मौलिकचिन्तन युक्त विद्वानों को उपलब्ध नहीं करा पा रही। क्यों आज का विद्यार्थी अपने ज्ञान को जिह्वा पर रखने पर असमर्थ सा दिखाई पडता है, क्यों उसकी मेधावी शक्ति को सींचने का काम शिक्षा व्यवस्था नहीं कर पा रही है। यद्यपि आधुनिक काल में भी विवेकानन्द, अरविन्द घोष, रविन्द्रनाथ टैगोर जैसे विद्वानों का आविर्भाव हुआ है, किन्तु मात्र इतना सोच भर लेना ही उचित नहीं कि विलक्षण प्रतिभा के धनी इक्के दुक्के लोग ही होते हैं. और पुनचिन्तन से बचने का मार्ग ढुँढ लिया जाये। आज नई शिक्षानीति (NEP 2020) भी भारतीय ज्ञान को केन्द्र में रखकर प्राचीन भारत की शिक्षा के पनसजन की ओर सङ्क्षेत कर रही हैं. भारतीय ज्ञान परम्परा जो सदा से ही समद्भु अविच्छित्र व्यापकता लिए है उसका परिचय, भारतीय छात्रों को विद्यालय से विश्वविद्यालय स्तर तक होना ही चाहिए। ताकि छात्र को कम से कम भारतीय ज्ञान परम्पराओं के सम्पर्क में आने पर उन पर चिन्तन मनन करने का अवसर प्रदान हो सके। बीज रूप में भारतीय विद्याओं का संस्कार छात्रों के हृदय में विपत होना ही चाहिए। ताकि वे अपनी जडों से जुड सके अपने अस्तित्व के मुल को पहचान सके, प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली ने जिस प्रकार की मेधावी प्रतिभाओं को जन्म दिया तथा जिनके कारण भारत विश्वगुरु कहलाया आज वह समय है जब उन तथ्यों, संरचनाओं, मुल्यांकन की विधियों पद्धतियों का पुन: निरीक्षण करना होगा. शोध करना होगा कि किस प्रकार की मुल्यांकन का सम्प्रत्यय परिवर्तित, संशोधित किया जा सकता है, दुष्टि विस्तरित की जा सकती है जो विद्यार्थी को उसके मौलिक चिन्तन की ओर मोड सके। जो यह अवसर दे सके कि जिसमें वह सिद्धान्तों का, दर्शन के वादों का, गणित-विज्ञान-भाषा के

नए आयामों का प्रवर्तक हो सके।

सन्दर्भ ग्रन्थ

 अस्थाना, डॉ. बिपिन, अस्थाना श्वेता, मनोविज्ञान और शिक्षा में मापन एवं मूल्यांकन, श्री विनोद पुस्तक मिन्दिर, आगरा, 2009, पन्द्रहवॉं संस्करण।

- 2. बालिया, डॉ. शिरीष, शर्मा, डॉ. ओ. ची. शिक्षा में मापन एवं मूल्यांकन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2012, द्वितीय संस्करण।
- 3. मित्तल, प्रो. सन्तोषमित्तल, संस्कृतशिक्षणम्, नवचेतना पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2013, द्वितीय संस्करण।
- 4. प्रभुपाद, स्वामी ए. सी. भक्तिवेदान्त, श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप, भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट मुम्बई, द्वितीय हिन्दी संस्करण।
- महर्षिवाल्मीिकप्रणीत श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण, प्रथम खण्ड, गीता प्रेस, गोरखपुर, उत्तर प्रदेश।
- 6. श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत महाभारत (प्रथम खण्ड), गीता प्रेस, गोरखपुर, उत्तरप्रदेश।
- 7. ईशादि नौ उपनिषद्, गीता प्रेस गोरखपुर, उत्तरप्रदेश।
- 8. महाकविकालिदासप्रणीत रघुवंश महाकाव्य, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1987. द्वितीय संस्करण।
- 9. शैक्षिक मापन और मूल्यांकन, MAED-04, उत्तरप्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, खण्ड-1।
- 10. सतत एव व्यापक मूल्यांकन, इकाई- 12 IGNOU Study material egyankosh.co.in.
- 11. शिक्षा और भारतीय विकास (BAED 301)
- 12. सेन शर्मा रेखा, भार्गव श्रुति, बाल्यावस्था शिक्षा में आकलन, शोध आलेख, लर्निंग कर्व, जुलाई 2015
- 13. अधिगम के लिए आँकलन, शिक्षकशिक्षाविभाग, शिक्षाशास्त्र विद्याशाखा उत्तराखण्ड, मुक्तविश्वविद्यालय, हल्द्वानी, BED 1-CPS 3
- 14. राष्ट्रियशिक्षानीति 2020 दस्तावेज mhrd.gov.in
- 15. राजशेखरप्रणीत काव्यमीमांसा।

- 16. Altekar, A.S. Education in Ancient India, Chawla offret, Delhi 2014 (Reprinted)
- 17. Mookerji, Radhakumud, Ancient Indian Education Motilal Banarasi Dass Publisher, Delhi, 2016 (Reprinted)
- 18. Kumara & Sambhava of Kalidasa, Edited with Introduction and English Translation, Edited by C.R. Devadhar, Motilal Banarasidass publisher, Delhi, 1985, First edition.
- 19. The Raghuvamsa of Kalidasa Contos I&V, M.R. Kale, Edited with a literal English translation and capious notes,] Motilal Banarasidass publishers, Delhi, 1991
- 20. Gronlund, N.E., Measurement Evaluation in Teaching, Mac Million publishing Co. Inc. New york
- 21. Dandekar, Evaluation in school, Poona, Sri Vidya Prakashan, 1971
- 22. Kothari Commission Report (1966), Reference in complete.
- 23. Bose, Indian Teachers of the Buddhist Universities, Madras 1923
- 24. Watters, On Yuan Chwang's Travells in India, Vols- I and II, London, 1904-5

अन्तर्जालीय सामग्री

- 25. प्राचीन भारतीय शिक्षा- विकिपीडिया https://hi.m.wikipedia.org 20 जून 2022
- 26. अष्टांग योग- विकिपीडिया https:/hi.m.wikipedia.org 19 जून 2022
- 27. Education.gov.inhttps://www.education.gov.in/en
- 28. Bharatdiscovery.org/thtps://m.bharatdiscovery.org/india 18 जून 2022
- 29. Egyankosh.ac.in https://m.gyankosh.ac.in 16 जून 2022
- 30) छान्दोग्य उपनिषद- भारतकोश, ज्ञान का हिन्दी महासागर https:// m.bharatdiscovery.org 17 जून 2022
- 31) शिबि- विकिपीडिया https://hi.m.wikipedia.org.wiki 15 जून 2022



काव्यप्रकाशोक्त 'प्रतिकूलविभावादिग्रह' दोष परिशीलन

विशेषतः काव्यप्रकाश की 'बालबोधिनी' टीका के सन्दर्भ में -िशवानी*

शोधसार -

संस्कृत काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में आचार्य मम्मट द्वारा विरचित 'काव्यप्रकाश' का विशिष्ट स्थान है। इस ग्रन्थ की विद्वज्जनिप्रयता का प्रमाण यह है, कि इसकी रचना के पश्चात् से अध्याविध पर्यन्त इस पर अनेक टीका– प्रटीका ग्रन्थों की रचना हुई है। इन्हीं टीकाओं में 19वीं शताब्दी के 'आचार्य वामन झलकीकर' विरचित बालबोधिनी टीका अन्यतम है। जिसमें पूर्ववर्ती टीककारों के मतों का सम्यक् समीक्षणकर विषय का विवेचन किया गया है। बालबोधिनी टीका के उपर्युक्त वैशिष्ट्य को दृष्टिगत करते हुए प्रस्तुत शोधपत्र में मम्मट द्वारा प्रतिपादित 'प्रतिकूलविभावादिग्रह' नामक रसदोष के स्वरूप का अध्ययन बालबोधिनी टीका के सन्दर्भ में किया जा रहा है।

प्रमुख शब्द- अपकर्षक, अमतपरार्थ, अनौचित्य, काव्यशास्त्र, प्रतिकूल-विभावादिग्रह।

आमुख-

किसी रचना की उत्कृष्टता के लिए उसका दोषरहित होना नितान्त आवश्यक है। संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा में आरम्भिक काल से ही दोषों की हेयता के विषय में पर्याप्त विचार उपलब्ध होते हैं। सर्वप्रथम आचार्य भरत ने उन्हें काव्य के **घातस्थान** के रूप में उल्लिखित किया है- 'एतानि यथास्थूलं घातस्थानानि काव्यस्थ।' आचार्य भामह काव्य में एक भी कुत्सित पद के प्रयोग को वर्जित मानते हुए कहते हैं, कि जिस प्रकार दुष्ट पुत्र के जन्म से पिता

शोधच्छात्रा, संस्कृतविभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

^{1.} भरत, नाट्यशास्त्र, 27/31

निंदा को प्राप्त करता है, उसी प्रकार अशोभनकाव्य के निर्माण से किव अपकीर्ति का भागी होता है- सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्। विलक्ष्मणा हि काव्येन दु:सुतेनेव निंद्यते॥

आचार्य दण्डी के अनुसार काव्य चाहे कितना ही रमणीय क्यों न हो, परन्तु उसमें दोष की अल्प सत्ता भी नहीं होनी चाहिए, क्योंकि श्वेत कुष्ठ का एक ही चिह्न सुन्दर शरीर की कान्ति को मिलन कर देता है। उसी प्रकार एक ही दोष काव्य की शोभा को हरण कर लेता है- 'तदल्पमिप नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन। स्याद्वपुः सुन्दरमिप श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्।' दण्डी के पश्चात् वामन आदि आचार्यों ने भी अपने ग्रन्थों में प्रसंगतः दोष की चर्चा की है- 'गुणविपर्ययात्मनो दोषाः।' सम्भवतः इनके दोषविषयक विचार ही भावी आचार्यों के दोष लक्षण का आधार सिद्ध हुए हैं।

यद्यपि इन आचार्यों ने काव्य में दोष की स्थिति, उसके प्रभाव व हेयता पर अवश्य ही विचार व्यक्त किये हैं तथापि दोष का सुस्पष्ट एवं व्यवस्थित लक्षण सर्वप्रथम आचार्य मम्मट विरचित काव्यप्रकाश में उपलब्ध होता है। जिसके आधार पर काव्यदोष का समुचित व सार्वपिक्षक (काव्य के प्रत्येक तत्व के सन्दर्भ में दोष की स्थिति) स्वरूप प्रकाशित होता है।

^{1.} भामह, काव्यालंकार, 1/11

तदल्पमिप नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन।
 स्याद्वपु: सुंदरमिप श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्।। काव्यादर्श 1/7

^{3.} गुणविपर्ययात्मनो दोषा:। काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, पृष्ठ- 68

^{4.} तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुन: क्वापि। काव्यप्रकाश 1/1

^{5.} मुख्यार्थहर्तिर्दोष: रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्य:। उभयोपयोगिन: स्युस्शब्दाद्यास्तेन तेष्विप।। काव्यप्रकाश 7/71

बालबोधिनी टीका में दोषों के द्वारा रस की अपकर्षकता के विषय में कहा गया है कि – दोष के विद्यमान होने पर कहीं रस की अप्रतीति, कहीं प्रतीत रस का अपकर्ष तथा कहीं रस की विलम्ब से प्रतीति होती है। रसदोषों में रस की अपकर्षता से अभिप्राय प्रकृष्ट रस की व्यञ्जकता का साक्षात् अभाव है अर्थात् रसदोष वर्णनीय रस की समुचित रूप से अभिव्यक्ति में बाधक होते हैं– 'क्विचद्रसस्याप्रतीतिरेव, क्विचत्प्रतीयमानस्याप्यपकर्षः, क्विचिद्वलम्बः। रसापकर्षकाणामिप तेषां प्रकृष्टरसव्यञ्जकत्वाभावोऽस्त्येव।'

शोधपद्धति -

प्रस्तुत शोधपत्र पूर्णत: प्राथमिक शोधस्त्रोतों पर आधारित है। जिसमें विषय के व्याख्यान के लिए विवरणात्मक, तुलनात्मक, विश्लेषणात्मक एवं वर्णनात्मक शोध-प्रविधि का प्रयोग करते हुए सम्बन्धित शोधविषय का अध्ययन किया गया है।

प्रतिकूलविभावादिग्रह दोष -

काव्यप्रकाशकार ने प्रमुख रूप से १३ रसदोषों का सोदाहरण विवेचन किया है, जिनमें **प्रतिकूलविभावादिग्रह** दोष अन्यतम है। यथानाम प्रतिकूल-विभावादिग्रह से तात्पर्य है- किसी रस की अभिव्यक्ति के लिए उस रस के प्रतिकूल विभाव, अनुभाव व व्यभिचारी भाव आदि का ग्रहण करना।

बालबोधिनीकार इसे परिभाषित करते हुए कहते हैं- 'प्रतिकूलः प्रकृत-रसादेविंरुद्धो यो रसादिस्तिद्धभावानुभावव्यभिचारिणां ग्रहो ग्रहणम् उपादान-मित्यर्थः।" अर्थात् वर्णनीय रस आदि के विरोधी जो रसादि है, उन विरोधी रसादि के विभाव, अनुभाव व व्यभिचारी भावों का ग्रहण किए जाने पर यह दोष होता है। ध्यातव्य है कि टीकाकार ने यहाँ रस पद की अपेक्षा रसादि पद को उल्लिखित किया है, जिससे कि रस के अतिरिक्त भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता, भावशान्ति का भी ग्रहण होता है। काव्यशास्त्र में 'रस' शब्द की व्युत्पत्ति 'रस्यते आस्वाद्यते इति रसः' स्वीकार की गई है। अतः वर्णनीय रस, भाव, रसाभासादि के विरोधी रस, भाव आदि के विभाव, अनुभाव व व्यभिचारी भाव का ग्रहण किए जाने पर वर्णनीय रस की प्रतीति न होने पर यह दोष होता है।

^{1.} बालबोधिनी, पृष्ठ-265

^{2.} बालबोधिनी, पृष्ठ- 438

^{3.} नाट्यशास्त्र, पृष्ठ- 251

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में विशिष्ट रसों के स्वरूप-निरूपण के साथ ही उनके विरोधी रसों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। रसतरंगिणी के अनुसार शृङ्गार व बीभत्स, वीर तथा भयानक, रौद्र एवं अद्भुत, हास्य और करुण रस परस्पर विरोधी हैं- शृङ्गारबीभत्सरसौ तथा वीरभयानकौ। रौद्राद्भुतौ तथा हास्यकरुणौ वैरिणौ मिथ:॥

आचार्य आनन्दवर्धन रस के व्यञ्जक स्वरूप का अभिधान करते हुए स्पष्ट करते है, कि काव्य चाहे प्रबन्ध हो अथवा मुक्तक रस का निबन्धन करने वाले किव को सर्वथा विरोधी रसों के परिहार में अत्यन्त प्रयत्नवान् होना चाहिए- 'प्रबन्धे मुक्तके वापि रसादीन्बंधिमच्छता। यतः कार्यः सुमितना परिहारे विरोधीनाम्।' आचार्य भानुदत्त के अनुसाररसिवशेष के वर्णन में उसके विरोधी रस के वर्णन के समान ही विरोधी रस के विभाव, अनुभाव व व्यभिचारी भाव का वर्णन भी वर्ण्य रस की प्रतीति का बाधक होता है। अतः विरोधी रस के विभावादि का कदापि वर्णन नहीं करना चाहिए- 'वैरिरस इव वैरिरसस्य विभावाऽनुभावव्यभिचारिभावाः अपि रसहानिकरा इति तानिप वारयेत्।'

अमतपरार्थ दोष से भिन्नता -

बालबोधिनीकार ने प्रदीप व उद्योत टीकाकार के नामोल्लेखपूर्वक 'अमतपरार्थ' दोष से प्रतिकूल विभावग्रह दोष की भिन्नता को सूचित किया है। प्रदीप व उद्योत टीका में प्रतिकूल विभावादिग्रह दोष के प्रसङ्ग में ही उसका अमतपरार्थ से भेद दिखलाया है, जबिक बालबोधिनी में अमतपरार्थ में ही उक्त दोनों के भेद का विवेचन कर दिया गया है। अमतपरार्थ दोष वह है, जिसमें वाक्य का द्वितीय (अप्राकरणिक) अर्थ प्रासंगिक (वर्णनीय) रस के विरोधी रस का व्यञ्जक होता है- 'अमतः प्रकृतिवरुद्धः (प्राकरणिकरसिवरुद्धरसव्यञ्जकः) परार्थो द्वितीयार्थो यत्र (वाक्ये) यस्य (वाक्यस्य) वा तदित्यर्थः। ' जैसे -

^{1.} शृंगारबीभत्सरसौ तथा वीरभयानकौ। रौद्राद्भुतौ तथा हास्यकरुणौ वैरिणौ मिथ:।। रसतरंगिणी. 8/8

^{2.} प्रबंधे मुक्तके वापि रसादीन्बंधिमच्छता। यत्न: कार्य: सुमितना परिहारे विरोधीनाम्।। ध्वन्यालोक, 3/17

^{3.} वैरिरस इव वैरिरसस्य विभावाऽनुभावव्यभिचारिभावाः अपि रसहानिकरा इति तानिप वारयेत्। रसतरंगिणी, पृष्ठ- 162

^{4.} बालबोधिनी, पृष्ठ- 377

राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी। गन्धवदूधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसितं जगाम सा॥

उपर्युक्त पद्य में राम के द्वारा ताड़का नामक राक्षसी का वध किए जाने पर उसके दुर्गन्धयुक्त रुधिर से लिप्त होकर यम के घर चले जाने के वर्णन में प्राकरिणक बीभत्स रस व्यञ्जनीय है, परन्तु रामस्वरूप मन्मथ (कामदेव) के बाण से रुधिररूपी चन्दन में लिप्त होकर जीवितेश के गृह में जाना यह द्वितीय अप्राकरिणक अर्थ शृङ्गार रस का व्यञ्जक है। बीभत्स व शृङ्गार परस्पर विरोधी रस है। अत: यहाँ अमतपरार्थ दोष है।

प्रतिकूलिवभावादिग्रह में विरोधी रस के वाचक विभावादि का ग्रहण किए जाने जाने से प्रकृत रस के विरोधी रस की प्रतीति होती है तथा साक्षात् ही रस का भङ्ग दिखाई देता है, जबिक अमतपरार्थ में वाक्य के द्वारा प्रतिपाद्यद्वितीय अर्थ प्राकरणिक अर्थ से भिन्न होता हुआ विरोधी रस की अभिव्यक्ति में सहायक होता है अर्थात् प्रतिकूलिवभावादिग्रह में वाच्यार्थ विरोधी रस का प्रत्यायक होता है, जबिक अमतपरार्थ में यह कार्य व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा किया जाता है।

प्रदीपकार 'अमतपरार्थ' की दूषकता के विषय में लिखते हैं, कि वाक्य के द्वारा व्यञ्जित विरोधी अर्थ की उपस्थिति से रस का अपकर्ष ही यहाँ दोष का हेतु है- 'अमतपरार्थः परार्थो द्वितीयोऽर्थो यस्य तत्। तादृशार्थोपस्थित्या रसापकर्षतास्य दोषत्वबीजम्।" इस प्रकार अमतपरार्थ में रस का अपकर्ष वाक्य के द्वारा प्रतिपादित व्यङ्ग्यपर आश्रित है जबिक प्रतिकूलविभावादिग्रह में विभावादि वाच्य के द्वारा ही विरोधी रस का ग्रहण किए जाने से रस का भङ्ग होता है। काव्यप्रकाशकार ने प्रतिकूलविभावादिग्रह दोष को दो उदाहरणों के द्वारा प्रदर्शित किया है। जो निम्नलिखित है –

1. प्रतिकूल विभाव व व्यभिचारी भाव के ग्रहण का उदाहरण -

आचार्य मम्मट ने एक ही पद्य में विरोधी रस के विभाव तथा व्यभिचारी भाव के ग्रहण को दर्शाते हुए उक्त दोष को स्पष्ट किया है, यथा –

> प्रसादे वर्तस्व प्रकटय मुदं संत्यज रुषं प्रिये शुष्यन्त्यङान्यमृतिमव ते सिञ्चतु वचः। निधानं सौख्यानां क्षणमिभमुखं स्थापय मुखं न मुग्धे प्रत्येतुं प्रभवति गतः कालहरिणः॥

^{1.} काव्यप्रकाश, 7/254

^{2.} प्रदीप, पृष्ठ- 232

^{3.} काव्यप्रकाश, 7/327

उद्योत व चिन्द्रका टीका में इसे मालती के प्रति माधव की उक्ति बताया गया है, परन्तु बालबोधिनीकार ने इस सन्दर्भ में उल्लेख किया है कि उक्त दोनों टीकाओं का यह कथन विचारणीय है, क्योंकि मालतीमाधवप्रकरण में यह पद्य प्राप्त नहीं होता। अत: उनके अनुसार प्रणयकुपिता किसी नायिका के प्रसादन हेतु नायक की यह उक्ति है। यहाँ 'कालहरिण:' पद के द्वारा काल पर हरिण का आरोप किया गया है, जिससे हरिण की अति चपलता के समान समय की अनित्यता का प्रकाशन होता है।

प्रस्तुत पद्य में वर्णनीय रस शृङ्गार है, परन्तु काल की अनित्यता रूप उद्दीपन विभाव शान्त रस का है, जिससे प्रकाशित होता हुआ 'निर्वेद' शान्त रस का स्थायी भाव है। यद्यपि 'निर्वेद' शृङ्गार में व्यभिचारिभाव के रूप में उपात्त किया जाता है। परन्तु यहाँ 'निर्वेद' काल की अनित्यता के प्रकाशन से प्रकाशित होने के कारण शृङ्गार रस के प्रतिकूल है। अतः प्रस्तुत शृङ्गार रस के वर्णन में प्रतिकूल विभाव व व्यभिचारी भाव का ग्रहण रस का अपकर्षक है- 'अत्र प्रकृते शृङ्गारे प्रतिकूलस्य शान्तरसस्य प्रकाश्यमानकालानित्यतारूप उद्दीपन-विभावः, एतत्प्रकाशितो निर्वेदरूपः शान्तस्थाय्याख्यो व्यभिचारी च स्फुटमेव गृह्यते इति दोषः।'

प्रस्तुत पद्य में निर्वेद की ग्राह्यता के विषय में आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं, कि शृङ्गार रस में काल की अनित्यता आदि के द्वारा 'निर्वेद' का लेशमात्र भी ग्रहण रित का विच्छेद कर देता है। क्योंकि जिस प्रकार शृक्ति में भासमान रजत को तत्वत: समझने वाला व्यक्ति पुन: शुक्ति में रजत भाव से उपादेयबुद्धिपूर्वक प्रवृत्त नहीं होता, उसी प्रकार विषय तत्व को भली-भाँति जानने वाला पुरुष किसी रमणी के प्रति जीवितसर्वस्व का अभिमान कैसे कर सकता है? अत: यहाँ निर्वेद (वैराग्यात्मक) शान्त रस की ही प्रतीति कराता है- 'मनागिप निर्वेदानुप्रवेशे सित रतेर्विच्छेद:। ज्ञातविषयसतत्वो हि जीवितसर्वस्वाभिमानं कथं भजेत।'

सारबोधिनी टीका का उल्लेख करते हुए अभिनवगुप्त सम्मत उपर्युक्त मत को बालबोधिनीकार ने भी उद्धृत किया है- 'सारबोधिनीकारास्तु- 'उपात्त इति। मनागपि तयोरुपादानं वियोगातिरिक्तं सकलमेव शृङ्गाररसमुच्छिनत्तीति भावः।"

^{1.} बालबोधिनी, पृष्ठ- 439

^{2.} लोचन, पृष्ठ- 398

^{3.} बालबोधिनी, पृष्ठ- 439

2. प्रतिकूल अनुभावग्रहण का उदाहरण -

काव्यप्रकाशकार ने प्रतिकूल विभाव व व्यभिचारी भाव के पश्चात् प्रतिकूल अनुभाव के ग्रहण को भी सोदाहरण स्पष्ट किया है। यथा –

निभृतरमणे लोचनपथे पतिते गुरुजनमध्ये। सकलपरिहारहृदया वनगमनमेवेच्छति वधृ:॥¹

बालबोधिनीकार के अनुसार प्रस्तुत पद्य में किसी वधू का उसके निभृतरमण (गुप्तकामुक) से मिलन हेतु वनगमन इत्यादि के द्वारा शृङ्गार रस वर्णनीय है। परन्तु उसके लिए प्रतिपादित सकलपरिहार रूप अनुभाव शान्त रस का है, क्योंकि कामुक मिलन हेतु वनगमन में किसी व्याज (बहाना) का उल्लेख नहीं किया गया है। अतः सकलपरिहार रूप शान्त रस के अनुभाव से शृङ्गार रस का विच्छेद होने से प्रतिकूलानुभावग्रह दोष है। यदि इन्धन, कुसुम इत्यादि लाने के बहाने संभोग हेतु वनगमन का उल्लेख किया जाए, तब यह शान्तरस के अनुभाव के रूप में गृहीत नहीं होगा और शृङ्गार के अनुकूल होने से अभीष्ट रस की प्रतीति होने पर यह दोष भी नहीं होगा- अत्र व्याजादिकं विना वनगमनं सकलपरिहारश्च शान्तानुभावः, न च व्याजः प्रतिपादित इति शृङ्गारस्य प्रकृतस्य विच्छेद इति प्रतिकूलानुभावग्रहो दोषः। इन्धनाद्यानयनव्याजेन संभोगार्थं वनगमनं यद्युच्यते तदा न शान्तानुभावग्रह इति न दोषः।

उपर्युक्त पद्य में प्रयुक्त 'निभृतरमणे' पद के आधार परशृङ्गार रस की प्रतीति का उद्योतकार सम्मत निवारण करते हुए बालबोधिनीकार स्पष्ट करते हैं, कि गुरुजनों के मध्य नायिका को प्रच्छन्न कामुक के दर्शन होने पर उसके प्रकाश की आशंका से वैराग्य की भी संभावना होने पर निभृतरमण शब्द से ही शृङ्गार रस की प्रतीति नहीं जाननी चाहिए। क्योंकि 'निभृत' शब्द के शृङ्गारपरक होने पर भी 'सकल' शब्द की गृहकार्यपरक अर्थ में ही प्रतीति नहीं होती। अतः गुरुजनों के सान्निध्य में प्रयुक्त 'सकलपरिहारहृदया' पद से गृहकार्य के त्याग का अनौचित्य प्रतिभासित होने से वैराग्य हेतुता ही संभव है तथा वह शान्त रस का अनुभाव होने से शृङ्गार रस का अपकर्ष करता है। अतः यहाँ प्रतिकूल-अनुभावग्रह दोष है- 'अत्र गुरुजन सन्निधौ निभृतरमणदर्शने प्रकाशशङ्कया वैराग्यस्यापि संभवान्न निभृतत्यादिपदादेव शृङ्गारप्रतीतिरिति बोध्यम्।'

^{1.} काव्यप्रकाश, 7/328

^{2.} बालबोधिनी, पृष्ठ- 439

^{3.} बालबोधिनी, पृष्ठ- 440

निष्कर्ष -

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि **बालबोधिनी** टीका में आचार्य **मम्मट** की मान्यता के अनुरूप ही **प्रतिकूलविभावादिग्रह** दोष का विवेचन किया गया है। उन्होंने उक्त दोष को सुस्पष्ट रूप से परिभाषित करते हुए केवल विरोधी रस के विभावादि को ही नहीं अपितु भाव, रसाभास इत्यादि के विरोधी के विभाव, अनुभाव व व्यभिचारी भाव के ग्रहण को भी दोष के रूप में स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने **अमतपरार्थ** दोष से **प्रतिकूलविभावादिग्रह की भिन्नता** को समुचित रूप से प्रदर्शित किया है।

प्रतिकूलविभाव के उदाहरण में काल की अनित्यता के प्रकाशन को शान्त रस का उद्दीपन भाव स्वीकार करते हुए उसके द्वारा प्रकाशित निर्वेद को शान्त का स्थायी भाव न मानते हुए शृङ्गाररस का व्यभिचारी भाव माना है, परन्तु वह शान्त के उद्दीपन भाव से व्यञ्जित है। अत एव शृङ्गार के प्रतिकूल है।

संदर्भ ग्रंथ-

- काव्यादर्श, दंडी, आचार्य श्री रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 1976.
- 2. काव्यप्रकाश, बालबोधिनी टीकासहित, परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली, 2019.
- 3. काव्यप्रदीप, गोविन्द ठाकुर, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1982.
- 4. काव्यप्रकाश:, आदर्शसंस्कृतव्याख्यासिहत:, संपा०टी०सी० उप्रेती, परिमल-पब्लिकेशन, 1985
- 5. काव्यप्रकाश, षोडशटीकासमन्वित, सम्पादक डॉ॰ ज्योत्स्नामोहन, नाग प्रकाशन, दिल्ली, 1999
- 6. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, डॉ॰ नगेन्द्र, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 1994.
- 7. ध्वन्यालोक, लोचन सहित, आचार्य जगन्नाथ पाठक, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2019.
- 8. नाट्यशास्त्र, भरतमुनि, सुधा रस्तोगी, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1989.
- 9. भामह, काव्यालंकार, देवेन्द्रनाथ शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1985.
- रसतरंगिणी, भानुदत सम्पादक देवदत्त कौशिक, मुन्शीराम मनोहरलाल पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1947.

समकालीन संस्कृत महिला लेखन और उनके काव्य उपमान

-डॉ. अजय कुमार मिश्र*

शोधसार-

ध्यातव्य है कि आजकल संस्कृत कवियित्रियाँ भारतीय साहित्य की अन्य रचनाकारों की तरह ही समसामियक समस्या, राष्ट्रवाद तथा देशभिक्त जैसी बातों को अभिव्यक्त करने के लिए संस्कृत के अलंकारों को युगीन धर्मों से उपमानों को धारदार बनाया है। लेकिन इसका अर्थ यह बिल्कुल भी नहीं है कि उन्होंने परंपरा को ताख पर रख दिया है।

औपनिवेशिक प्रभाव तथा साहित्य को सांस्कृतिक आक्रमण का औजार बना कर आम जनमानस में यह दुष्प्रचार किया जा रह है कि समसामयिक संस्कृत वाङ्मय की रचनाधर्मिता में चमक दमक की कमी हो गयी है। समकालीन संस्कृत महिलाओं के नामों को भी वे अपनी इस मिथ्या अवधारणा को तुल देने के लिए हाशिए पर ही धकेलना चाहते हैं। अत: यह समय की मांग है कि इस तरह के शोध पत्रों से संस्कृत भाषा का आधुनिक साहित्य के साथ साथ महिला रचनाकारों की रचना ऊर्जस्विता और स्त्री-विमर्श की भी नदीष्ण चर्चा हो। इसी दिशा में यह शोध पत्र प्रस्तुत है।

प्रमुख शब्द -

अज्ञेय, अलंकारशास्त्र, अलंकारशेखर, अस्तित्ववादी, आचार्य केशव, आक्रमण, आधुनिक संस्कृत, औपनिवेशिक, इतिहास, उपमान, उदात्त मूल्यबोध, कान्ति, काल्तिदास, कुमारसम्भवम्, द डेथ ऑफ संस्कृत, पद्धित, पाश्चात्य विद्वान्, पुरुषवादी मानसिकता, प्रासादिकता, फेमेनिज्म, फ्रायड, ब्रेन ब्यूटी, भोग-विलास, मृतभाषा, मेघदूत, नवोन्मेषशालिनी, सप्तऋषि, समाज, सार्त, साहित्य, सामाजिक,

असोसिएट प्रोफेसर, केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, दिल्ली, 56-57, संस्थानिक क्षेत्र, जनक पुरी, नई दिल्ली 110 058

सांस्कृतिक नौस्टाल्जिया, सौन्दर्यशास्त्र, स्थाणु, स्त्री-विमर्श, स्त्री-पुरुष साधर्म्य, स्त्री-पुरुष संबंध, राजनैतिक, राष्ट्रीय, सप्तऋषि, सार्त, शेल्डन पोलक, युगीन धर्म, रचनाधर्मिता, राष्ट्रवादी, राजशेखर, वर्जनिया वुल्फ, वैदिक युग, विप्रलंभ तथा विराटपुरुष।

आमुख -

सामान्यत: यह अवधारणा है कि संस्कृत भाषा के आधुनिक साहित्य की रचनाधर्मिता ओजस्वी नहीं है। साथ ही साथ महिला लेखन की जीवन्तता को भी हाशिये पर ही समझा जाता रहा है। लेकिन प्रस्तत शोधपत्र 'समकालीन संस्कृत महिला लेखन और उनके काव्य उपमान' में यह उजागर करने का प्रयास किया गया है कि प्राचीन तथा मध्य कालीन संस्कृत की तरह ही समकालीन संस्कृत कविताएं भी बहुत ही धारदार हैं और इस शोध पत्र में विशेषकर समकालीन महिला लेखिकाओं की रचनाओं को उनके काव्य उपमान की दुष्टि से यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि समय के साथ समकालीन लेखिकाओं ने भी शास्त्रीय काव्य उपमान में किस तरह से अपने आस पास के समकालीन बिम्बों (मेटाफोर), प्रसंगों तथा अपने समसामयिक समस्याओं को महत्त्वपूर्ण स्थान देकर संस्कृत भाषा को सार्थक और युगीनधर्मी बनाया है। इससे स्पष्ट है कि संस्कृत भाषा के समकालीन महिला लेखिकाओं की रचनाएं कितना भास्वरित, प्रखर एवं कालजयी है और शेल्डन पोलक अपने शोध पत्र द डेथ ऑफ संस्कृत (सन् 2001) में संस्कृत भाषा को मृतभाषा के रुप में स्थापित करना चाहता है, उसका भी करारा जवाब मिलता दिखता है। साथ ही साथ स्त्री विमर्श की दुष्टि से भी इस शोध पत्र को पठनीय माना जा सकता है।

शोधपद्धति -

इसमें मूल संस्कृत पाठों की समीक्षा पारम्परिक संस्कृत शास्त्रीय पद्धित के आलोक में करने का प्रयास किया गया है। साथ ही साथ समकालीन समीक्षा विमर्श को भी ध्यान में रख कर उनके मूल्यों को समसामियक सन्दर्भों में पिरभाषित करने का भरसक प्रयास किया गया है। तािक यह स्पष्ट हो सके कि संस्कृत भाषा की आधुनिक किवताएं क्यों और कैसे नवोन्मेषी तथा धारदार हैं साथ ही इसकी भी पुष्टि हो सके कि महिला लेखनधर्मिता बहुत ही चतुरस्त्र व नदीष्ण है जिनमें काव्य बिम्बों के उपमान कितना बहुआयामी, ऊर्जावान तथा कालजयी है?

परिणाम एवं चर्चा -

प्रस्तृत शोध पत्र में समकालीन संस्कृत प्रतिनिधि महिला लेखिकाओं की कविताओं के अन्वेषण से स्पष्ट होता है कि संस्कृत भाषा के आधुनिक साहित्य को महिला लेखिकाओं ने न केवल शास्त्रीय दुष्टिकोण से प्राचीन परम्परा को प्रवाहमान बनाये रखा है, अपित उसमें अभिनव तथा ज्वलन्त इन्द्रधनुषी बिम्बों को भी स्त्री विमर्श की दृष्टि से एक नयी छटा की काव्य सुजनोष्मा को सुजित किया है। जो उन्मेष संस्कृत महिला रचन धर्मिता को प्रचुर रुप में भास्वरित कर चमत्कृत करता है। इससे स्पष्ट है कि इस तरह के शोध कार्य प्रकाश में आना सर्वथा उचित जान पडता है। ताकि संस्कृत साहित्य की कालजयिता तथा रचनाधर्मिता से जुड़े पाश्चात्य मनगढंत मिथ्या प्रश्नों का माकुल जवाब दिया जा सके। इस तरह के ओझल महत्त्वपूर्ण शोध सामग्री को प्रकाश में आने से शेल्डन पोलक जैसे विद्वान जिसने संस्कृत को डेड लैंग्वेज (मृतभाषा) कहा है, जिसका मुंहतोड़ जवाब इस शोध पत्र में मिल सकता है। दुनिया की आधी आबादी-महिलाओं के संस्कृत भाषा की कविता के काव्योपमा की लेखनधर्मिता के उन्नयन तथा संस्कृत भाषा के आधुनिक संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि करने में इनका क्या योगदान है उसको समझने में यह शोध पत्र भी महत्त्वपूर्ण हो सकता है। लेकिन संस्कृत भाषा के आधुनिक साहित्य विशेष कर समकालीन संस्कृत कविता रचनाकर्त्रियों पर समीक्षकों का न के बराबर ध्यान गया है। अत: आशा की जा सकती है कि शोध की इस नवोन्मेषी विमर्श से संस्कृत भाषा में महिला लेखन चिन्तन के जरिये समसामयिक संस्कृत के स्त्री विमर्श का एक अभिनव वातायन को उन्मीलित कर सकेगा।

इस शोध पत्र में आज कल के संस्कृत महिला रचनकारों के किवता संसार को उजागर कर दुनिया की आधी आबादी की सर्जनात्मक ऊर्जस्विता को प्रकाश में लाना है। साथ ही साथ इसमें इस सच को भी उजागृत किया गया है ताकि संस्कृत के न केवल पुरुष अपितु महिला रचनाकार भी आधुनिक संस्कृत की आलंकारिक रचनात्मक ऊष्मा बनाये रखने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दे रही हैं। इसलिये शेल्डन पोलक जैसे पाश्चात्य विद्वान् इस बात को भूल जायें कि आज की संस्कृत भाषा में दमक नहीं है।

शोध पत्र -

तो यह मान लिया जाये कि संस्कृत शास्त्र में स्त्री विमर्श के सौन्दर्य बखान के लिए मापदण्ड जो तय किये गये हैं उनको आज की संस्कृत कवियित्रियाँ भी पालन कर रही हैं? साहित्य के समाजशास्त्रीय तथा इसकी समकालीनता के विमर्श के नजरिये से यह एक युगीन प्रश्न जरुर उठता है। आचार्य केशव ने अलंकारशेखर में स्त्री-पुरुष के साधर्म्य अंकन का कुछ पैमाना जरुर बनाया है। लेकिन इस हकीकत को नकारा नहीं जा सकता कि इसमें स्त्री विलास की ओर उनका लगाव कुछ अधिक ही दिखता है। इसका मतलब यह भी है कि साहित्य में महिला के व्यक्तित्व या शृंगार में चार चाँद लगाने के लिए शिरीषपुष्प, विद्युन्तारा, कनकलता, स्वर्णशाटिका तथा दीपशिखा आदि के रूप में वर्णन करने की सलाह दी गयी है। समाज का यह दोहरा चरित्र जिसमें स्त्री को विलास का केन्द्र बिन्दु मानते हुए उन्हें अत्यन्तानन्द सन्दोह प्रदायक के रूप में ही निशाना साधा गया है। इस हकीकत को लब्धप्रतिष्ठ कवि-समीक्षक आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी ने भी बडे ही साफ शब्दों में उठाया है - संस्कृत साहित्य अपने उदात्त मूल्यबोध और गरिमा में अद्वितीय है, वह पुरुष के वर्चस्व का साहित्य है। उसमें समाज के दबे कुचले लोगों तथा स्त्रियों के स्वर क्षीण हैं। 3और ध्यातव्य है कि आचार्य त्रिपाठी ने ही अपनी चर्चित किताब 'नया साहित्य नया साहित्यशास्त्र' में कुछ अलंकारों और सामाजिक विरूपताओं को उन्मीलित करने का सार्थक औजार भी माना है। इस दृष्टि से संस्कृत की अमूमन अधिसंख्य रचनाओं में स्त्री को भोग-विलास या सामाजिक तौर पर निम्न स्तर पर अंकन किया गया है। उससे भी साफ है कि अलंकार अपने समकालीन काव्य विमर्श के अन्त: साक्ष्यों को ले कर विशेषकर सामाजिक तथा सांस्कृतिक इतिहास का गवाह बन जाता है।

लेकिन संस्कृत भाषा के समकालीन कवियत्रियों के काव्यों को पढ़ने से भान होता है कि वे अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की पुरुषवादी मानसिकता के प्रति उदासीन हैं ही, साथ ही साथ उन्होंने अपनी रचनाओं में अलंकारों को अपनी समकालीन सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा राष्ट्रवादी भावानाओं को उकेरने के लिए अलंकार को अपना सार्थक हथियार भी बनाया है। इससे साफ है कि अलंकार अपनी रचनाधर्मिता की परम्परा अपने युगीन धर्मों के साथ वैदिक युग से आज तक जुड़ती है। इससे संस्कृत भाषा तथा इसकी ऊर्जस्विता भी समुज्ज्वितत होती है।

वस्तुत: यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगा कि संस्कृत साहित्य में स्त्री के शरीर को कान्तिवर्धक शब्द रोचना, हरिर्द्रा, चम्पक, हेमकतकी अथवा

^{1.} आचार्य केशव, अलंकार शेखर, 5.1.1, पृ. 40

^{2.} अजय कुमार मिश्र, उत्तर आधुनिकता तथा संस्कृत कविता, समाशंसा-आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी, पृष्ठ 6, अभिव्यक्ति प्रकाशन, दिल्ली 2019

पष्पकेस आदि के रूप में जिक्र किया गया है। वह केवल दिनया की इस आधी आबादी के अनुकुल नहीं माना जाना चाहिए, अपित इस आधी आबादी का दूसरा अर्ध भाग जिसके मिलने से हम स्त्री-पुरुष आबादी के सौ प्रतिशत बन पाते हैं। इस समाज के प्रति भी उपेक्षा का भाव ही दर्शाता है क्योंकि प्रेम तो उज्ज्वल तथा मार्मिक होता है। फ्रायड या आचार्य रजनीश ने जिस स्त्री-पुरुष के दाम्पत्य के आधार पर मांसलता को अधिक बल दिया है, उस फलसफा का भी अंतत: सुख परिणित से निश्चल प्रेम की कालजयी भट्टी में ही जा कर निखरना होता है। हीरानंद सिच्चदानन्दं वात्स्यायन 'अज्ञेय' के 'शेखर एक जीवनी' उपन्यास में स्त्री-पुरुष संबंध संस्कृत के उपरोक्त देह की कान्ति पर नहीं टिका है, अपितृ इसमें ब्रेन-ब्युटी की अधिक अहमियत है जो संस्कृत शास्त्र के पारम्परिक सौन्दर्यशास्त्रीय मापदंडों पर आश्रित नहीं है। इसलिये 'शेखर एक जीवनी' (अज्ञेय) में शेखर तथा सरोज के व्यक्तित्व को संस्कृत शास्त्र के जाल से निकल कर थोडा समझना पडेगा। इस प्रकार हम पाते हैं कि जिस संस्कृतशास्त्र ने भारतीय साहित्य के शास्त्रों का सांचा खडा किया, वह समय की माँग को देखते हुए अपनी युगीन धारा में तब्दील होते रहे हैं। आज की संस्कृत कवयित्रियों ने भी अपनी फेमेनिज्म की गरिमा के मुद्दों पर संस्कृत के इस शास्त्र परम्परा को अमुमन नकार कर युगीन धर्मिता पर ही अधिक बल दिया है और अलंकार जो संस्कृत साहित्य में विलास, भोग, कामुकता तथा रसिकता आदि का मिसाल बन गया था। लेकिन समय के साथ उसने भी भारतीय साहित्य की धारा में इस नवोन्मेषी समकालीनता को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। इस समसामियक संस्कृत परम्परा में पण्डिता क्षमाराव, पुष्पा दीक्षित, कमला रत्नम्, कमला पाण्डेय, मनोरमा तिवारी, निलनी शुक्ला, मिथलेश कुमारी मिश्र, महाश्वेता चुतर्वेदी तथा वनमाला भवालकर आदि का नाम भी उल्लेखनीय है। इन लेखिकाओं ने पारम्परिक काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त की ललाट या कपोल के उम्दा वर्णन करने के प्रसंग में क्रमश: अन्धकार, शैवाल, यमुना की तरंगों, नीले पत्थर, नीले बादल का केशों के सौन्दर्य बखान में कोई खघस तरजीह नहीं दिया है। वल्ली, स्मरधन, पल्लव. वीचि तथा भुङ्गाली का संदर्भ बना कर भ्रू का अंकन किया जाना चाहिए जैसे शास्त्रीय मापदण्डों को भी समकालीन संस्कृत कवियत्रियों द्वारा नकारा जा रहा है। यही सबब है कि आज की रचनाधर्मिता में यह सब पारम्परिक काव्यशास्त्रीय उपमान सर चढकर बोलते नहीं दिख रहें हैं। इतना ही नहीं कपोल के वर्णन के समय चन्द्र तथा आदर्श नासिका का तिल के गुल से कण्ठ का, कम्ब का, नेत्र का हिरण, मछली, खंजन, चकोर, कामबाण तथा केतकी से करने की नसीहत

दी गयी है। उसको भी आज की संस्कृत महिला रचनाकार ने कोई महत्त्व नहीं दिया है।

यह तथ्य भी समझ में नहीं आता कि स्त्री के ओष्ठ, दाँत, माधुर्य, बाहु, हाथ, नख तथा उरोज का अंकन क्रमश: प्रवाल, बिम्ब, बन्धुक तथा पल्लव की लालिमा से, अधरोष्ठ का वर्णन मुक्तामणि, नारंग, अनार के दानों, कुंद कोरक तथा ताराओं के माध्यम से दाँतो की खूबस्रती, वाणी का हंस, शुक, वेणु, कोकिल तथा वीणा से, विद्युल्लता एवं मुणाल से बाहु का वर्णन, पद्म पल्लव और विप्रद्रुम से कर हाथ का अंकन चन्द्रकला कुन्दकोरक से नख का विधान बताया गया है। इसी प्रकार गौर करने की बात है कि स्त्री की नाभि का वर्णन रसातल आवर्तहृद तथा कुआं से, शरीर के मध्य भाग का सुई (सुची) के अग्र भाग से, जंघा का पुलिन से, पीठ, प्रस्तर, भ्रू तथा चक्र से नितम्भ का, करिहस्त कदली और कर से ऊरु का. हंस और हस्ति चाल से गति का. ज्योत्स्ना. इन्द और कैरव से हास्य का, सुगन्धित और शीतल वायु से स्वांस का तथा हंस और सारस पक्षी की ध्विन से नुपुर का चित्रण किया जाना चाहिए। वेलेकिन यहाँ सवाल यह भी उठता है कि राजशेखर अलंकारशास्त्र को वेद का सातवां अंग मानते हैं क्योंकि उनके हिसाब से अलंकार वेद के अर्थ का उपकारक होता है और अलंकारों के अभाव में वेदार्थ की अनुभृति नहीं की जा सकती है। ठे लेकिन वामन जो अलंकारों को काव्य में अनिवार्य नहीं माना है और गुण को ही उसके लिए आवश्यक मानते हैं। अज की कवियत्रियाँ उपरोक्त काव्योपमान की दृष्टि से वामन के फलसफा से अधिक नजदीक मालूम पड़ती हैं क्योंकि इनकी रचनाओं में अलंकार का महत्त्व तो जरुर है. लेकिन उनका साहित्य संसार विलासिता के कानन में अमूमन भटकता नजर नहीं आता है क्योंकि उनकी रचनाएँ वेदकालीन सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक तथा राष्ट्रवादी भावनाओं के गुण रूपी गरिमा में ही तिरोहित होने का सार्थक प्रयास करता मालूम पडता है, न कि अलंकार के ज्ञान प्रदर्शन का साहित्यिक घटाटोप बनाता है। अलंकार का

^{1.} आचार्य केशव, अंलकार शेखर 5.1.3-7, पृ. 43,44

^{2.} आचार्य केशव, अंलकार शेखर 5.1.711, पृ. 45-47

^{3.} वही 5.1.13-15, पृ. 48-49

^{4.} आचार्य केशव, अलंकार शेखर, 5.1.15-18, पृ. 49-51

^{5.} अलंकृति: अलंकार:। करणव्युत्पत्या पुन: अलंकारशब्दोऽयमुपादिषु वर्तते। -आचार्य वामन, काव्यालंकारसूत्रवृत्ति 11.1.2

^{6.} काव्यशोभायाः कत्तारोधर्माः गुणाः तदितशयहेतवस्वत्वलंकाराः।-आचार्य वामन 3.1 (1-2)

इन कवित्रयों ने साहित्य रूपी भोजन में आवश्यकता के अनुसार नमक रूपी अलंकार के तरह प्रयोग किया है।

अत: प्रस्तुत आलेख के जिरये दुनिया की आधी आबादी के साथ काव्यशास्त्र में जो न्याय करने की बात की गयी है, उस प्रसंग को मनुस्मृति के उस उदात भाव की दृष्टि से भी थोड़ा सोचा समझा जाना चाहिए। मनु के हिसाब से औरत और आदमी एक ही विराट पुरुष के आधे आधे हिस्से से जन्म लिये हैं। मनुस्मृति के इसी तथ्य को जिसमें शारीरिक, मानिसक तथा बौद्धिक क्षमता के मायने में दोनों को बराबर का दर्जा दिया है, वही बातें मम्मट भी अपने काव्य के कारण में तलाश करते नजर आते हैं क्योंकि काव्य के कारणों में शिक्त ही कवित्व का बीज है जो जन्म-जन्मान्तर का खघस सहकारी रूप में है, न कि इहलौकिक से इसका कोई विशेष सम्बन्ध है, अर्थात् यूरोप में वर्जनिया वुल्क जो कई साल पहले स्त्री विमर्श की बात उठाती है, उसकी परम्परा हजारों साल पहले हिन्दुस्तानी अदब में मौजूद रही है।

राजशेखर ने भी स्त्री-पुरुष को समान रूप में स्वीकार किया है। इस दृष्टि से कालिदास द्वारा कुमारसम्भवम् में सप्तऋषियों के साथ अरुन्धती के प्रसंग में स्त्री-पुरुष में भेद-भाव की निन्दा भी गौरतलब है। कम से कम कालिदास का यह कथन जरुर साफ करता है कि उस समय समाज में स्त्री-पुरुष का भेदभाव रहा होगा। तभी तो उन्होंने स्त्री-पुरुष के बीच भेद भाव नहीं करने वाले को नेक आदमी कहा है।

राष्ट्रपित सम्मान से पुरस्कृत सुकवियत्री पुष्पा दीक्षित की रचना अग्निशिखा में यों तो विशेषोक्ति, संकर, यमक, काव्यालिंग तथा विभावना अलंकार का ही आधिक्य है। लेकिन रूपक, विषम रूपक तथा अनुप्रास की छटा तो विशेष रूप से झलकती है, इनमें प्रस्तुत रचनावली की नाम वाली कविता व्यतिरेक अलंकार के रूप में दमकती दिखती है – तेजस्विता भवता समा/सूर्यादयोऽिप नु धिर्षताः/ निखिलं भवेद् भवता समं/ हृदि कांक्षया विगतं वयः। (पृ.51)। मम्मट ने जो

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।
 अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभु:। -मनुस्मृति: 1.32

^{2.} पुरुषवत् योषितोऽपि कवीभवेयुः। संस्कारो ह्यात्मानि समवैति न स्त्रैणं पौरुष वा विभागमपेक्षते। श्रूयन्ते दृश्यन्ते च राजपुत्र्यो महामात्यदुहितरो गणिकाः कौतुकिभार्याश्च शास्त्रप्रदृतबुद्धयः कवयश्च। -राजशेखर ,काव्यमीमांसा, अध्याय-10, पृ.116

तां गौरवभेदेन मुनीश्चापश्यदीश्वरा:।
 स्त्रीपुमानित्यनास्थैषा वृत्तं हि महितं सताम्। -कालिदास, कुमारसम्भवम्।।6/12।।

व्यतिरेक अलंकार की परिभाषा दी है, उसके हिसाब से शृङ्गार से सिक्त तथा चाहत की पराकाष्टा को अभिव्यंजित करने के लिए उपमान सूर्य के तेज को उपमेय कान्ता फीका करती नजर आती है। ध्यातव्य है कि कवयित्री ने शृङ्गार की प्रभावोत्पादकता के लिए अनुठे उपमा का प्रयोग अपने इस व्यतिरेक अलंकार में किया गया है। इस उपमा से शृङ्गार के उज्ज्वल तत्त्व सार्वभौमिक हो उठा है। विदुषी कवियत्री त्रिपाठी की खासियत है कि वे अपने भाव को व्यक्त करने के लिए आस-पास के अलंकार तत्त्वों को बड़ी सादगी भरी भाषा में तथा लोक जीवन के प्रसंगों के साथ उठाती हैं। जबिक संस्कृत शास्त्रकार जिस सूर्य, चन्द्रमा तथा प्राकृतिक सुषमा के संसाधनों के आलम्बन तथा उद्दीपन आदि के लिए भारी भरकम नजीर को उठाते हैं। लेकिन कवियत्री त्रिपाठी अपने प्रकृति के अनुकूल कविता से भी बिना कोई लाम लिफाफा के दो टुक में अपनी बात गम्भीरता से कह जाती हैं। मिसाल के तौर पर उनके भावलिंग अलंकार के प्रयोग का ही लिया जाय। इसमें कवयित्री मानती हैं कि विरह का भार तो शरीर से भी अधिक हो जाता है। इसमें बोझिल मन की दुरूह रूपी विप्रलंभ का भार मानव से वेदना की भावनात्मक गहनता के नजरिये से संस्कृत कविता को एक नया आयाम देता है। इसमें भाव की पेशलता तो निश्चित रूप से ललित होकर भी गंभीर है जिसे संस्कृत की पारम्परिक कविता के शृङ्गारिक हाव-भाव से कोसों दूर मानी जा सकती है जो वस्तृत: शास्त्रीय काव्योपमान को नकारती भी मालुम पडती है। इसे भारतीय कविता की मुख्यधारा से जुड़ने के लिए रचनाधर्मिता की युगीन माँग समझा जाना चाहिए। मेघदुत (कालिदास) में यक्ष अपनी प्रियतमा के वियोग के विप्रलंभ में इतना विरहित रहता है कि उसके द्वारा गेरु से बनायी गई अपनी प्रिया यक्षिणी के चित्र भी (हमेशा उसकी यादों में रोते रहने के कारण उसके आंसुओ से) धुल जाता था। लेकिन कवयित्री दीक्षित ने तव वीतदये हृदये² में जिस सारे शरीर के भार की अपेक्षा मन के अधिक भारीपन की बात उठायी है जिसमें चुके प्रेम के मनोविज्ञान दर्शन के साथ-साथ विप्रलंभ को बडा ही प्रभावपूर्ण रूप में अंकित किया गया है। काव्य लिंग अलंकार में भी इसकी छटा देखी जा सकती है- मम देहलतानुगताकुशता मनुतापकर हृतचित्तमिदं/विरहानलभारमवाप्य मनो/ गुरुभारयुतं तनुतोऽप्यधिकम्।। इन पंक्तियों में शरीर की लता तथा विरह की अग्नि से तुलना प्रेम की कमनीयता तथा वियोग की पराकाष्ठा का एकत्र हृदयस्पर्शी चित्र खींचती है जिसमें भाव की भींगमा बडी ही जीवंत होकर संस्कृत कविता की एक अभिनव क्षितिज बनाती है। इसमें जो मन की बोझिलता की बात

^{1.} उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेक: स एव स:। -आचार्य मम्मट, काव्य प्रकाश, 10/105

^{2.} पुष्पा दीक्षित,अग्निशिखा, पृ.8

कही गई है उसमें गहन प्रेम तथा अनुपम अनुराग से पक्षी तथा नायक का हृदयतन्तुओं से जोड कर सोचने समझने की बात की गयी है। कभी-कभी प्रेम का आत्मबोध मांसलता पर ही हावी हो जाता है। शृङ्गार के विप्रलंभ में मन का भारीपन तथा क्लांत भाव की पुष्ठि आचार्य भरत भी अपने नाट्यशास्त्र में करते हैं। **अग्निशिखा** कविता में भी विभावना अलंकार के जरिये शुङ्कार विशेष कर वियोग के जो गहन संवेदना को भावांकित किया गया है वह भी काफी गौरतलब है। इसमें ज्योतिष शास्त्र के ज्ञान को भी उजागर किया गया है। इसका कारण यह भी है कि जब सुरज वृष राशि पर अपना कदम रखता है, तभी घोर गर्मी भी अपना पाँव जमाना शुरु करती है। विकिन यहाँ तो बात ही उलट गयी है। तालाब में पानी के रहते हुए भी न जाने क्यों मन जल रहा है? इस कविता में निदाघ के रूप में कारण के नहीं रहते हुए भी मानसिक वेदना तथा कष्ट जैसे कार्य का होना विभावना अलंकार का बड़ी तरोताजा नजीर माना जा सकता है। इसका बहुत बडा सबब यह भी है कि इसमें इंसान के अकेलेपन की मार्मिक मानस स्थिति का अंकन किया गया है, और यह सच है कि जब आदमी मानसिक तौर पर परेशान रहता है तो अकेलापन उसे और अंदर से खूब चुभता है। इस स्थिति में तो विरही मन की व्यथा का क्या कहना? अत: रचनाकर्त्री द्वारा विभावना अलंकार के माध्यम से मानव मनोविज्ञान के अकंन के लिए एक नये औजार के रूप में इस्तेमाल किया गया है। इस दुष्टि से आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी ने अलंकार की साहित्यिक सर्जरी के नये पैमानों को लेकर एक अभिनव प्रयास अपनी चर्चित किताब (नया शास्त्र नया साहित्यशास्त्र) में किया है, वह बड़ा ही पठनीय है।

संस्कृत कवित्रयों में पंडिता क्षमाराव का नाम भी बहुत ही जाना पहचाना है। ग्रामज्योति में क्षमाराव ने खास कर उमा के जिरये उजड़े गाँव की शून्यता तथा उसको चारों तरफ फैली भयंकरता का बड़ा ही मन छूने वाला वर्णन किया है। इनके इस अंकन से इतना तो जरुर साफ है कि संस्कृत कवित्रयों ने किवता के हास विन्यास से आम आदमी के सुख दु:ख तथा जन-जीवन के वर्णन से सामाजिक तथा सांस्कृतिक तथ्यों को उजास में लाया जिससे स्पष्ट है कि आज की संस्कृत कवियित्रयाँ पारंपिरक काव्योपमानों की मोहताज नहीं है– ऋजुभिस्तैर-सन्तुष्टै: पिरत्यक्तो निवासिभि:। शमशानिमव स ग्रामो जज्ञे शून्यभयङ्करः॥

नो रिवर्वृषंगतो नापि शोषितं सरो/ धुक्षितं च मानसं किं विना निदाघम/ खे गतन्तु मे मनो नास्ति तत्र नि:स्वनो/मुग्धमानसेन मे हन्त! चातकायितम्।। -वही, पृ. 46

वस्तुत: इसमें जो जनता के पलायन की बात उठायी गयी है, उससे संस्कृत किवता जनवादी तेवर के रूप में भी उभरती है जिसमें विरान गाँव की तुलना श्मशान से की गई है। उससे साफ होता है कि संस्कृत साहित्य जो अपनी विलासिता तथा चाक चिक्य के प्रभावोत्पादकता के कारण जाना जाता है। अतः लीक से हट कर इस किवता को भी माना जाना चाहिए। इसमें वीभत्स रस के लेप के नीचे करुणा के स्वर को कराहित करवाने का एक नया अंदाज माना जा सकता है। इसी प्रकार चर्चित किव समीक्षक आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी ने भी सार्त के अस्तित्ववादी सिद्धान्त को पुख्ता करते हुए स्थाणु शब्द का द्वयर्थक (वृक्ष को ठूँठ तथा शिव) प्रयोग कर संस्कृत किवता को लोक तथा यथार्थवादी जामा भी पहनाया है। उसी प्रकार अभिराज राजेन्द्र मिश्र द्वारा थर्रथराती ठंडक में बंदरों द्वारा अपनी पूँछों को अपने पेट के पीछे छुपाकर जीने के लिए विवश होने का अंकन भी पठनीय है। किव हरिदत्त पालीवाल 'निर्भय' ने भी ब्रितानी शोषण की तुलना को भारतीय जनता के नर कंगाल में तब्दील होने के रूप में उठाया है। उसी प्रकार सत्याग्रह गीता में कारणमाला अलंकार का प्रयोग मानव स्वभाव तथा उनकी दुर्बलताओं के साथ जीवन प्रबंधन की भी बात करती है–

अज्ञानाद्भवति मैघं द्वैधाद्भवति शत्रुता। शत्रुत्वादद्विप्लवो भावी ततो नाशः प्रशासितु:॥19॥

इस श्लोक में द्वैघीभाव का द्वैधीभाव से अज्ञान, अज्ञान से द्वैधीभाव, द्वैधीभाव से शत्रुता, शत्रुता से क्रान्ति होती है। इस प्रकार हम पाते हैं कि संस्कृत के समसामायिक कवियित्रियों ने अलंकार की शास्त्र परम्परा की पिरभाषा को युगीनधिमता के नमूने के साँचों में गढ़ने का बड़ा ही श्लाघ्य प्रयास किया है। इसका कारण यह भी है कि साहित्य और उसका शास्त्र तभी जीवंत रह पाता है जब उसकी युगीनता अपने समकालीन धर्मों को अपने आप में समेटती रहती है। इसका मतलब यह कदािप नहीं कि आज की कवियित्रियाँ अपनी सांस्कृतिक नॉस्टौिल्जिया को भूल गयी हैं। कमला पाण्डेय ने रक्षत गंगाम् में अर्थान्तरन्यास अलंकार के जिरये इक्ष्वाकुवंश के राजा तथा गंगा की आँखें चार होने का अंकन

स्थास्याम्यहमेकाकी स्थाणुः प्रेतवने यथा।
 नग्नो निष्प्रभशाखाश्च भस्मीभृतमनोरथः। -राधावल्लभ त्रिपाठी, संधानम्, पृ. 10

एकं तन्मृतननाङ्गं निष्प्रच्छदमात्रपशीतम्।
 योरोपगृघ्रणामेककवलमहह रक्तच्युतिदिञ्घाम्।।
 –हरिदत्त पालीवाल निर्भय, शङ्घनादः, पृ.180

परं परं प्रति यदा पूर्वपूर्वस्य हेतुता।
 तथा कारणमाला स्यात्.....।। –आचार्य विश्वनाथ,साहित्यदर्पण, 10/76-77

बड़ा ही सहज तथा मनोरम रूप में किया है। इसमें अंकित किया गया है कि इक्ष्वाकु वंश के राजा स्वर्ग में गंगा को अपनी टकटकी निगाहों से निहारते अपना शर्म ही छोड़ दिया और जन्नत की नदी पर ही लट्टू हो गये क्योंकि काम वासना के चक्कर में बुद्धि ही मारी जाती है– देवलोके सभायां सभामन्त्रितो/भूपित निर्निमेषोऽभवत् तत्क्षणम्/ ऐक्षत स्वर्धुनीं सस्पृहं निस्त्रपो। हन्यते कामवृत्या विवेक: सदा॥१८॥

इस श्लोक में क्रमश: तीनों चरणों का समर्थन अंतिम चौथे चरण से करने पर इसमें अर्थान्तरन्यास अलंकार का बडा ही सटीक नमुना उभरता है। लेकिन यह भी सत्य है कि इसमें कालिदास के मेघदूत में कार्मात्ता हि प्रकृतिकृपणा-**श्चेतनाचेतनेष्** का प्रभाव स्पष्ट झलकता है। अत: कवियित्री के दिलो-दिमाग में भारतीय संस्कृति तथा काव्य परम्परा के प्रति झुकाव हरगिज ओझल नहीं हुआ है। कवियित्री ने विशेषोक्ति अलंकार जिसमें वजह के होने पर भी कार्य नहीं देखा जाता है, उसी साँचे में मीरा के काम भाव के प्रति घोर उदासीनता के भाव को अंकित किया गया है, उस अलंकार की लालित्य योजना भी बडी सादगी लेकिन प्रभावी लगती है। इसे शृङ्गार का देशज मिजाज कहा जा सकता है। कवयित्री काम मनोविज्ञान की चर्चा करते लिखती है कि अचेतन प्रिय भी अपने प्रिया के समीप आने पर अपने प्रेमाधिक्य प्रकट करने से बाज नहीं आते हैं। लेकिन मीरा तो अपने पति के निकट रहने के बावजूद उनसे विमुख ही रहतीं हैं। जब किसी वाक्य के प्रश्न में विराम हो, तो वहाँ काकू वक्रोक्ति अलंकार बनता है। इस अलंकार के माध्यम से बाल विशेष कर कन्या समस्या को भी उठाया गया है। यद्यपि रचनाकर्त्री ने रक्षत गंगाम् में यह लिखा है कि माता अपने नौनिहालों को पानी में फेंक देती है। अत: मातृत्व का यह सामाजिक अवधारणा निर्दयता तथा निष्ठुरता की ज्वाला में जल कर राख हो गई है- सद्यः प्रसूतं शिश्ं तत्क्षणं/जायया वारिणि प्रक्षिपन्त्या तया/ अंगला कोमलाः लोकसुक्तिर्न किं निष्ठ्रत्वेऽनले भस्मतां प्रापिता। (रक्षत गंगाम् 26)। गौरतलब है कि श्री एस्.सुंदरराजन् ने भी दहेज प्रथा की अग्नि ज्वाला में भस्मित होती ललनाओं का अंकन प्रस्तुत किया है। वैधव्य जीवन को लेकर करुणामयी कथा अपराजितवध् (2000 ई. पूर्णचंद

^{1.} कालिदास, पूर्वमेघ।।5।।

अन्यस्यान्यार्थक वाक्यमन्यथा योजयेद्यपि।
 अन्य: श्लेषेण काकवा वा सा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा।।
 –आचार्य विश्वनाथ,साहित्यदर्पण 10/9

निषिच्च तैलमिनन तमाशु निदर्यं दह। –संस्कृत–मञ्जरी, दिल्ली संस्कृत अकादमी, अक्टूबर 1993 मार्च 1994

शास्त्री) की किवता में भी पढ़ी जा सकती है। उसी प्रकार कमला पाण्डेय की इसी किवता रक्षत गंगाम् में गंगा (सफेद) तथा यमुना (श्यामल) के जलों में करारा टक्कर होने पर भी इस बात का शक हो जाना कि यह स्पर्धा तो कहीं नीलम में रखा मोती या छाव में मिली धूप से तो न हो रही है? यह वर्णन भी संदेह अंलकार का एक बड़ा ही मनोरम मेटोफोर बनाता है। ध्यातव्य है कि कुछ सौन्दर्यशास्त्रियों ने स्त्री के बाल की तुलना अन्धकार, शैवाल, मयूर, चामर, यमुना की तरंगों, नीले पत्थर तथा नीले बादल से करने की सलाह दी है। लेकिन कमला पाण्डेय ने अपने इस रुपक अलंकार वर्णन के प्रसंग में गंगा की चंचल लहरों को आँचल के भंवर को कुण्डल तथा उजले नीहार रूप के हार के रूप में वर्णन कर रूपक को एक नवोन्मेषशालिनी छटा दी है। इससे साफ होता है कि रचनाकर्त्री कितनी जीवंत तथा मौलिक योजना के लालित्य सिक्त अलंकार से समकालीन संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि करने में निरन्तर संलग्न हैं– सा कदाचिद् विभान्ती लहर्यञ्चला/ भंगरिंगद्-विवर्तोल्लस्तकुण्डला/ श्वेतनीहार-हारावलीभूषिता/ राजते गांगधारा सिता शीतला॥ 54॥ रक्षत गंगाम्।

मिथलेश कुमारी मिश्रा की रचना चन्द्रचरितम् में भी उपमा का सौन्दर्य पढ़ते ही बनता है- तद् विभाया भाषया स 'सुमाषा इत्यस्थया सह' 'चन्द्र' इव सम्बोधितः /तिहं, अन्तर्ज्वालया सा महोधृतः /उग्रभावनापि स सम्बिधिः॥ इसमें नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के गरम रुख का अंकन रूपक के माध्यम से बड़े ही अच्छे ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

'निर्भय' जी की तरह ही कवियत्री मिश्रा ने भी अपनी इसी कविता में गोरी हुकूमत की घोर निन्दा की है। इसमें अंग्रेजों की तुलना शुम्भ निशुम्भ जैसे राक्षस से कर उपमा के माध्यम से ब्रितानी शासन रूपी झूठ पर भारतीयता रूपी सत्य की विजय की कामना की गयी है: अन्ये फिरंगिनो बर्बरदानवनिर्दियनो/दृश्यन्ते सहजं शुम्भ-निशुम्भराक्षसा इव॥

गौरतलब है कि आजकल की संस्कृत कवियित्रियों ने भारतीय साहित्य की अन्य रचनाकारों की तरह ही समसामियक समस्या, राष्ट्रवाद तथा देशभिक्त जैसी बातों को अभिव्यक्त करने के लिए संस्कृत के अलंकारों को युगीन धर्मों से धारदार बनाया है। लेकिन इसका अर्थ यह बिल्कुल भी नहीं है कि उन्होंने परंपरा

गांगतोयं सितं यामुनाम्भोऽसितं। स्पर्धमानं मिथ: मेलितुं चंचलम्।। इन्द्रनीले मणौ मौक्तिकं किन्विदं। छायया संगतो भ्राजेत वाऽऽतप:।।।। -कमला पाण्डेय, रक्षत गंगाम्

को ताख पर रख दिया है। लेखिका मिश्रा ने इसी रचना में हिन्दुस्तान की गुलामी, तकलीफ, अपमान तथा यातना के साथ ही साथ जिलयाँवाला बाग कांड जिसकी सौवीं बरसी भी पूरी हो चुकी है। हकीकत में यहां अन्त्यानुप्रास के जिरये बड़े ही यथार्थ रूप में तहकीकात किया है– कीदृशी परतन्त्रता का दासता वा यातना? कीदृशी अवमानना का यन्त्रणा वा ताडना? दहाते जालियानवालाबाग इत्येवं व्यथा। व्याप्ता सर्वत्र विपदा दुर्व्यवस्था हि विप्यथा। अन्त्यानुप्रास सिक्त इस श्लोक के पूर्व के दो चरणों में ना तथा बाद के चरणों में था की आवृति शास्त्र परंपरा को भी पुख्ता बनाती है– अपने समकालीन सरोकारों के साथ। उसी प्रकार व्यासशतकम् में भी कवियत्री ने संकर अलंकार को भी बड़े ही दार्शनिक अंदाज में रूपियत किया है। इसमें अज्ञान रूपी समंदर में नाव जैसी प्रज्ञा के अंकन से रूपक और उपमा के मिल जाने से अंग अंगी भाव संकर अलंकार का काव्य सौन्दर्य भाव को बड़ा ही सहज रूप में अनुभव किया जा सकता है–

व्यासस्य हि सरस्वत्याः पारं लब्धुं न शक्यते। अज्ञानाब्धौ हि नौकेव, यस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।

कवियत्री के इस अलंकार पर कालिदास की पंक्ति के उत्स खोजे जा सकते हैं। लेकिन यह भी सच है कि कवियत्री ने अपने नवोन्मेषशालिनी काव्य प्रतिभा से संकर अलंकार के रूपांकन को एक नया बिम्ब दिया है।

महाश्वेता चतुर्वेदी ने भी अपनी रचना काव्यामृत में अन्त्यानुप्रास के जिरये समाज में चारों तरफ व्याप्त निष्ठुरता, स्वार्थ की पराकाष्ठा, हिंसा तथा डकैती के आतंक को ले कर गहरी चिन्ता व्यक्त की है। और इस प्रकार उन्होंने भी अलंकार के शास्त्र को समकालीनता के बिम्ब तथा उसकी समसामियता से बड़ा ही तरोताजा बना दिया है। भाषा की प्रासादिकता, सारल्य तथा माधुर्य की दृष्टि से कवियत्री के अन्त्यानुप्रास की लालित्य योजना भी बड़ा ही आह्लादित करती है- कुमुदिनी निलनी निलनीकुलै:/कविलतं विलतं बहुशोमते/जलजजन्तुभि-रून्निपतं सितं/कमलमुल्लिसतं बहु शोभते॥17॥ काव्याऽमृतम्।

कवियत्री निलनी शुक्ला ने भी अपनी रचनावली भावाञ्जिल: में स्वाभावोक्ति, यमक तथा संसृष्टि जैसे अलंकारों का भी बड़ा ही मनभावन प्रयोग किया है। सामान्यत: यह माना जाता है कि संस्कृत के समसामियक रचनाओं में बाल साहित्य बहुत ही कम लिखे जा रहे हैं। इस हकीकत को नकारा नहीं जा सकता है। लेकिन रचनाकर्त्री शुक्ला ने भगवान गणेश को लेकर स्वभावोक्ति अलंकार के

सर्वतः क्रूरता स्वार्थता चान्धता। हिंसनं लुण्ठनं पीडनं दृश्यते। प्रोन्नतिः सम्भवा नेदृशे भारते। –महाश्वेता चतुर्वेदी, काव्यामृतम्

माध्यम से उनके बाल-लीलाओं का बड़ा ही सुंदर चित्रण प्रस्तुत किया है। लेकिन भाषा की दृष्टि से इसे बाल साहित्य से काफी समीप का भी नहीं माना जा सकता है-

> वात्सल्येन सुलालितं गिरिजया स्वाङ्गे निधायाञ्चले। वारम्बारमपास्य हारसरणिं स्वल्पाल्पहस्ताम्बुजैः॥ वक्षोजामृतपानलग्नलितं स्निग्धस्मितं शैशवे। स्वौत्युक्येन मृशन्तम्बचिबुकं शम्भोः सुतं भावये॥

> > (गणपतिचिन्तनम्, भावाञ्जलिः)

उसी प्रकार देवीदेवनम् में दयोदयो तथा भवे: और भवे शब्दों के जरिये यमक की छटा भी बिखेरी दी गई है जिसमें यमक अलंकार जीवन्त रुप में प्रस्फुटित होता दिखता है। कवियत्री कमला पाण्डेय ने भी गंगा सुषमा के बखान के दरम्यान रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा तथा अनुप्रास का इकट्ठे अंकन कर समकालीन संस्कृत अलंकार योजना में अपने सरल तथा मनोरम भाषा के माध्यम से एरोक्रेस्टिक अप्रोच को दर किनार कर सहज तथा मनोरम काव्य उपमान के प्रतीमान में चार चाँद लगा दिया है। कवियत्री लिखती है कि पवित्र तट रूपी दुपट्टा ओढ कर, चन्द्रमा रूपी सफेद जल जैसा वस्त्र पहन कर, उजले जल कण रूपी मोतियों का माला पहन कर पृथ्वी की ओर आगे बढने के क्रम में किनारे पर दुपट्टा, स्वच्छ जल पर पोशाक तथा सफेद जलकणों पर चमचमाते मौक्तिक हार के भावों का आरोपन के कारण रूपक जल की स्वच्छता तथा शुभ्रता को चाँद से उपमित करने पर उपमा, धरा की ओर आती नदी का वितान, पोशाक एवं मौक्तिकहार से सजे धजे होने की संभावना जताया जाना, वस्तृत: उत्प्रेक्षा अलंकार की पुष्टि करता है। साथ ही साथ शकार, ककार, सकार तथा मकार का बार-बार प्रयोग से उसमें वृत्यानुप्रास की भी शोभा में इजाफा होता है। निलनी शुक्ला ने भी असफलता पर समंदर का आरोपण कर रूपक तथा उस असफलता रूपी सागर में डूबने की वजह भाग्य का खेल बता कर काव्यलिंग अलंकार का चित्ताकर्षक समा बाँध दिया है- निमग्नमग्नां विफलत्ववारिधौ/ निराश्रितां मां प्रति वक्रभाग्यतः / अहो! जगच्छून्यमिदं प्रतीयते / भृशं हि संतापकरीदृशी दशा॥

विधीयतां देवी दयोदयो मिय/ त्वमेव मात:। शरणं भवे भवे:।
 -निलनी शुक्ला, देवीदेवनम्

^{2.} शुचि-कुल-दुकूल वितानमयी/शशि-शुभ्र-पय:-परिधानमयी। सित-सीकर-मौक्तिक-मालमयी/वसुधामभियाती तरंगमयी।।78।। -कमला पाण्डेय, रक्षत गंगाम्,

इस प्रकार हम पाते हैं कि संस्कृत भाषा के समकालीन कवयित्रियाँ अपनी ओजस्विनी लेखनी से नवोन्मेषशालिनी अलंकार शास्त्र के जरिये समकालीन संस्कृत साहित्य की लालित्य योजना की श्रीवृद्धि करने में सतत् संलग्न हैं। इन्होंने जहाँ एक ओर परम्परा का निर्वाह किया है और उसमें समसामयिक यगीनधर्मों को भी समाहित किया है, वहीं काव्योपमान के रटे-रटाये उपमान को भी कई अर्थों में खारिज करने का भी भरसक प्रयास किया है। इन कछ प्रतिनिधि संस्कृत कवियित्रियों की रचनाओं की तहकीकात से यह भी साफ है कि हमारे शास्त्रकारों ने किस प्रकार आलंकारिक ढाँचा खडा किया जो आज के कवि तथा समीक्षक के लिए उनके समकालीन सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक या सांस्कृतिक मूल्यों को धारदार रूप में अभिव्यक्त करने के लिए एक शानदार औजार के रूप में इस्तेमाल किया जा रहा है। वाकई में इससे समाज के तत्कालीन सरोकारों के अन्त: सतहों की चीर-फाड करने में बडा कारगार साबित हो सकता है। लेकिन जरुरी यह भी है कि संस्कृत के समसामयिक महिला रचनाकारों के ऐसी उम्दा रचनाधर्मिता को और सही ढंग से प्रकाश में लाने के लिए सार्थक प्रयास किया जाना चाहिए। तभी दुनिया की आधी आबादी के वर्ग के इस रचनाकर्त्रियों के साथ न्याय हो सकेगा। साथ ही साथ संस्कृत के काव्य उपमान के प्रतीमानों में आखिर क्यों और कैसे तब्दीली आ रही है, उसका भी थोडा मुआएना हो पाएगा। इस शोध पत्र का लक्ष्य आज के महिला रचनकारों के रचना संसार को उजागर कर दिनया की आधी आबादी की सर्जनात्मक ऊर्जस्विता को प्रकाश में लाना है। साथ ही साथ इसमें इस हकीकत को भी साफ किया गया है कि संस्कृत के न केवल पुरुष अपित महिला रचनाकार भी आधुनिक संस्कृत की आलंकारिक ऊष्मा बनाये रखने में महत्त्वपूर्ण योगदान दे रही हैं। इसलिये शेल्डन पोलक जैसे पाश्चात्य विद्वान इस बात को भूल जाय कि आज की संस्कृत भाषा में दमक नहीं है।



पश्चिम बंगाल में उच्च माध्यमिक विद्यालयों में छात्र अशांति की समस्या पर एक अध्ययन

-श्रीकान्त हाजरा*

ISSN: 0975-1769

सारांश (Abstract)

छात्र अशांति अब एक स्थानीय और एक सामान्य घटना नहीं हैं। यह अब आनुपातिक रूप से बहुत अधिक खतरे में है, न केवल एक विशेष क्षेत्र के बल्कि पूरे विश्व के हर कोने कोने तक पहुँचती है। शिक्षा संस्थानों और सरकारी प्रतिष्ठानों के अधिकारी गंभीरता से घटना के नियंत्रण पर विचार कर रहे हैं। इसलिए छात्र अशांति समस्या पर उचित ध्यान देने और विशेष रूप से गहन विश्लेषण की आवश्यकता है। अब तक इस समस्या से निपटने के लिए भारत में बहुत कम व्यवस्थित प्रयास हुए हैं। इस समस्या को देखकर अनुसन्धाता ने पश्चिम बंगाल में उच्च माध्यमिक विद्यालयों में छात्र अशांति की समस्या पर एक अध्ययन किया है। इसके अलावा यह पश्चिम बंगाल के उच्च माध्यमिक विद्यालय तक ही सीमित नहीं है, पूरे भारत में छात्र अशांति रही है। केवल शैक्षणिक संस्थानों के भीतर अशांति को सीमित नहीं किया गया है। बहुत छात्र हमले हुए हैं। गलियों में छात्र अशांति प्रदर्शन हुए हैं। विश्वविद्यालयों, कॉलेजों की कई मूल्यवान संपत्तियों को नष्ट कर दिया गया है और अन्य सरकारी संपत्तियों को भी नुकसान पहुँचाया गया है। इसे कानून और व्यवस्था की समस्या मानते हुए सरकार और पलिस ने इसे रोकने के लिए व्यवस्था की है। उसके बाद भी छात्र अशांति को रोका नहीं जा सका। इन विषयों की समीक्षा करते हुए अनुसन्धाता ने पश्चिम बंगाल में उच्च माध्यमिक विद्यालयों में छात्र अशांति की समस्या पर एक अध्ययन किया है। इसलिए शोधकर्ता द्वारा उच्च माध्यमिक शिक्षा के प्रति छात्रों की अशांति का कारण खोजने के लिए आदर्श सर्वेक्षण पद्धति का उपयोग किया है और अनुसंधान गतिविधियों के लिए शोधकर्ता ने पश्चिम बंगाल के उच्च माध्यमिक विद्यालय के छात्रों को आबादी के रूप में लिया है और नम्ना

अनुसन्धाता, शिक्षाशास्त्र विभाग, केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, मुख्यालय, नई दिल्ली।

लेने की अनुमानित विधि का प्रयोग किया है। शोधकर्ता ने शोध कार्य के लिए और तथ्यसङ्ग्रह करने के लिए प्रश्न-उत्तर विधि का उपयोग किया है। तथ्य एकत्रित करने के क्षेत्र के रूप में शोधकर्ता ने पश्चिम बंगाल के दस जिलों में बीस स्कूल का चयन किया हैं। शोधकर्ता ने अपने शोध कार्य के माध्यम से छात्रों के बीच चल रहे असंतोष का कारण अध्ययन करने का प्रयास किया है और छात्रों में असंतोष समस्याओं को कैसे हल किया जा सकता है इसका पथनिर्देश किया है। उम्मीद की जाती है कि इससे शोधकार्य को और बढावा मिलेगा।

शब्द संकेत (Keyword)

छात्र-अशांति, पश्चिम बंगाल, उच्च माध्यमिक स्तर।

प्रस्तावना (Introduction)

छात्र विरोध किसी भी समाज की स्थिति और व्यवस्था का प्रतिबिंब है। जब समाज के किसी भी हिस्से में दबाव या शून्य होता है तो छात्र की प्रतिक्रिया देखी जाती है। नतीजतन छात्र भावनात्मक संतुलन खो देता है। सामान्य कारण से समाज अभिभृत हो जाता है। वर्तमान इलेक्ट्रॉनिक युग में छात्र का मन केवल विद्या प्राप्ति में निबद्ध नहीं है. समाज में विभिन्न बाधाओं के खिलाफ विरोध करता हैं। भारत में मौजूदा छात्र अशांति ने एक भयानक रूप ले लिया है, यह हमारी विरासत और राष्ट्रीय एकता के लिए खतरनाक है। यह अशांति प्रदर्शन वैश्विक हताशा की अभिव्यक्ति है। वर्तमान छात्र आंदोलन की विशेषता यह है कि पुरानी सभी चीजों के लिए इसकी घुणा और अनादर है। यह क्रोध, घुणा और अनादर का प्रकोप कभी विरोध मार्च में, कभी स्कूल परिसर में, शिक्षक या प्राचार्य कक्ष में पता चलता है। कभी कभी ये घुणा और अनादर समाज के लिए विनाशकारी बन जाते हैं। यह घुणा और अनादर केवल निराशा से निकलती है। (Manifestation of collective frustration by the students of society.) বह है कि छात्र अस्थिरता जो छात्र समुदाय के बीच सामूहिक हताशा की अभिव्यक्ति है। यह अस्थिरता तब देखी जाती है जब छात्र समुदाय समाज में प्रचलित मानदंडों को शून्य और हानिकारक मानता है। इस छात्र अस्थिरता के कारण से छात्र अशांति प्राप्त होती है। इसलिए वर्तमान अनुसन्धानकार्य में छात्र अशांति की समस्या अधिक महत्त्वपूर्ण है, जो भारत के साथ-साथ वैश्विक छात्र अशांति का कारण और समाधान का मार्ग प्रशस्त करेगा। इसलिए शोधकर्ता ने पश्चिम बंगाल के उच्च माध्यमिक स्तर के छात्रों में अशांति की समस्या को चयन किया है, जो पश्चिम बंगाल की छात्र अशांति का कारण अनुसन्धान में मार्ग दिखाएगा।

पश्चिम बंगाल में उच्च माध्यमिक विद्यालयों में छात्र अशांति की समस्या... 231 समस्या कथन (Statement of the problem)

सामाजिक समस्याओं और संदर्भ को देखते हुए शोधकर्ता ने पश्चिम बंगाल में उच्च माध्यमिक विद्यालयों में छात्र अशांति की समस्या पर एक अध्ययन किया है।

शोध के उद्देश्य (Objective of the Research)

शोधकार्य से विभिन्न उद्देश्य साकार होते हैं, जो शोधकार्य को और महत्वपूर्ण बनाते हैं। यथा-

- पश्चिम बंगाल में किशोरावस्था में छात्र अशांति के कारण का अनुसन्धान।
- पश्चिम बंगाल में उच्च माध्यमिक स्तर के छात्रों के अपरंपरागत व्यवहार के कारण का अनुसन्धान।
- पश्चिम बंगाल में उच्च माध्यमिक स्तर के छात्रों की मानसिक अस्थिरता के कारण का अनुसन्धान।
- उच्च माध्यमिक स्तर के छात्रों के मूल्य संकट के कारण का अनुसन्धान।
- शैक्षिक संस्थानों में छात्रों और शिक्षकों के बीच संघर्षपूर्ण संबंधों के कारणों की जांच करना।
- उच्च माध्यमिक स्तर पर छात्रों के नैतिक पतन के कारणों की जांच करना।
- शैक्षणिक संस्थानों में राजनैतिक और आर्थिक अस्थिरता के कारणों की जांच करना।

शोधविधि (Research Methodology)

यह एक गुणात्मक अध्ययन है। मूल रूप से यह शोध कार्य विश्लेषणात्मक और वर्णनात्मक है। कार्य का अध्ययन करते समय द्वितीयक स्रोतों की सहायता ली गई है अर्थात् संबंधित पुस्तकों, समाचार पत्रों, लेखों, शोध पत्रिकाओं और विविध गुणवत्ता वाली वेबसाइटों का अध्ययन किया गया है, साथ ही इस अध्ययन के हिस्से के रूप में व्यक्तिगत पर्यवेक्षण का उपयोग किया गया है।

छात्र अशांति (Student Unrest)

छात्र अशांति अब एक स्थानीय और एक सामान्य घटना नहीं हैं। यह अब आनुपातिक रूप से बहुत अधिक खतरे में है, न केवल एक विशेष क्षेत्र के बल्कि पूरे विश्व के हर कोने कोने तक पहुँचती है। शिक्षा संस्थानों और सरकारी

प्रतिष्ठानों के अधिकारी गंभीरता से घटना के नियंत्रण पर विचार कर रहे हैं। इसलिए छात्र अशांति समस्या पर उचित ध्यान देने और विशेष रूप से गहन विश्लेषण की आवश्यकता है। यह अशांति प्रदर्शन वैश्विक हताशा की अभिव्यक्ति है। वर्तमान छात्र आंदोलन की विशेषता यह है कि सभी चीजों के लिए इसकी घृणा और प्रकोप है। यह क्रोध, घृणा और अनादर का प्रकोप कभी समाज में, कभी स्कूल परिसर में, शिक्षक या प्राचार्य कक्ष में पता चलता है। कभी कभी ये घुणा और अनादर समाज के लिए विनाशकारी बन जाते है। अब तक समस्या से निपटने के लिए भारत में बहुत कम व्यवस्थित प्रयास किये गये है। इस समस्या को देखकर अनुसन्धाता पश्चिम बंगाल में उच्च माध्यमिक विद्यालयों में छात्र अशांति की समस्या पर एक अध्ययन किया है। केवल शैक्षणिक संस्थानों के भीतर अशांति को सीमित नहीं किया गया है। साम्प्रतिक काल में बहुत छात्र हमले और अशांत हुए हैं। गलियों में छात्र अशांति प्रदर्शन हुए हैं, विश्वविद्यालयों, कॉलेजों की कई मूल्यवान संपत्तियों को नष्ट कर दिया गया है, और अन्य सरकारी संपत्तियों को भी नुकसान दिया गया। इसे कानून और व्यवस्था की समस्य मानते हुए सरकार और पुलिस से इसे रोकने के लिए भरसक प्रयास किये जा रहे हैं। किन्तु उसके बाद भी छात्र अशांति को रोका नहीं जा सका। इन विषयों की समीक्षा करते हुए अनुसन्धाता ने पश्चिम बंगाल में उच्च माध्यमिक विद्यालयों में छात्र अशांति की समस्या पर एक अध्ययन किया है।

छात्र विरोध और छात्र आंदोलन के लिए यूजीसी समिति (1960) द्वारा दिए गए कुछ कारणों का उल्लेख किया जा सकता है-

- आर्थिक कारण छात्रों की फीस कम करने और छात्रवृत्ति बढ़ाने की मांग।
- प्रवेश, परीक्षा और शिक्षण से संबंधित मौजूदा शर्तों या मानदंड में बदलाव की मांग।
- विद्यालय प्रबंधन प्रणाली की कमजोरी।
- विद्यालय परिसर में पर्याप्त सुविधाओं का अभाव।
- छात्रों और शिक्षकों के बीच संघातपूर्ण संपर्क।
- शैक्षिक क्षेत्र पर राजनीतिक रूप से भड़काऊ टिप्पणी।

सामाजिक और छात्र अशांति के विविध कारण

समाज में तेजी से बदलाव के साथ मूल्य संकट और छात्र अशांति के विविध पहलू भी दृष्टिगोचर होते हैं। जिसे मूल्य संकट और अशांति का बहु

पश्चिम बंगाल में उच्च माध्यमिक विद्यालयों में छात्र अशांति की समस्या... 233

घटकीय कारण माना जाता है। निम्नलिखितानुसार-

- नैतिकता की कमी।
- आध्यात्मिक मूल्यों की कमी।
- सामाजिक असिहष्णुता।
- सामाजिक असंगति।
- अनैतिक जीवन।
- 🕨 सही और गलत का चुनाव न कर पाना।
- अतिरिक्त आक्रामकता की नीति।
- 🕨 कृष्ट और संस्कृति की असंगति।
- राजनीतिक अशांति।
- 🕨 दूसरों के प्रति ईर्ष्या और द्वेष।
- अभिमान और स्वार्थ।
- > सामाजिक मानदंडों की अवमानना।
- सत्ता का भूखा खैया।
- विभिन्न प्रकार के भ्रष्टाचार।
- धार्मिक हठधर्मिता और मानवीय मूल्यों का अभाव।
- अस्थिर रवैया।
- कर्महीनता।
- पारिवारिक अशांति।
- 🕨 उचित जीवन अभ्यास का अभाव।
- सामाजिक उपेक्षा और अपमान।
- आदर्शों और जीवन के सही तरीके का अभाव।
- संग दोष और कुत्सित व्यवहार।
- प्रक्षोभ विकास का अभाव।
- बेरोजगारी और अस्थिर वातावरण।
- 🕨 दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली।
- लक्ष्यहीन जीवन और अनिश्चित भविष्य।

- आर्थिक कठिनाइयाँ।
- कक्षा में छात्रों की अत्यधिक संख्या।
- > दोषपूर्ण शिक्षण विधियां।
- परिवार के सदस्यों की उदासीनता।
- > अनुपयुक्त शिक्षक।
- 🕨 छात्र संघ।
- सह-पाठ्यचर्या और रचनात्मक गतिविधियों की कमी।
- 🕨 दोषपूर्ण परीक्षा प्रणाली।
- लिंग आधारित हिंसा।
- राजनीतिक अस्थिरता।
- सामाजिक-आर्थिक असमानता।

व्याख्या और विश्लेषण (Interpretation and Analysis)

किशोरावस्था एक अशांत समय है, जिसके दौरान छात्रों में विभिन्न असंतोष और बेचैनी दिखाई देती है। शोध के माध्यम से ज्ञात होता है कि छात्रों के विरोध और असन्तोष की जड तीव्र घृणा, अथाह क्रोध, उदासीनता, कर्तव्य के प्रति घृणा, अनादर और अविश्वास की प्रवृत्ति आदि है। जो कि पश्चिम बंगाल और पूरे भारत में देखी गई एक ही तस्वीर है।

अनुसंधान से पता चलता है कि उच्च माध्यमिक स्तर पर छात्रों का विचलित व्यवहार छात्र असंतोष और छात्र विरोध जैसे दृष्टिकोण में निहित है। इस छात्र विरोध या असंतोष की जड़ माता-पिता की उदासीनता, स्कूल का असहज माहौल, हताशा, प्रतिस्पर्धी जीवन शैली, खराब पारिवारिक वातावरण, आत्म-हास, अकेलापन, बेरोजगारी की संभावना और राजनीतिक अशांति और राजनीतिक संकट आदि है। उल्लिखित मुद्दों को पश्चिम बंगाल में उच्च माध्यमिक छात्रों के बीच विरोध के कारण माना जा सकता है।

वर्तमान समय को नैतिक पतन का युग कहा जाता है। नैतिक पतन के विविध उदाहरण समाज के साथ-साथ शिक्षा के क्षेत्र में भी देखने को मिलते हैं। इस नैतिक पतन में छात्र विरोध के बीज निहित हैं। हालाँकि, इस नैतिक पतन और छात्र आंदोलन के पीछे कई कारण हैं, जैसे अनुशासन की कमी, सामाजिक मूल्यों की कमी और सामाजिक असहिष्णुता आदि। जो पश्चिम बंगाल में उच्च

पश्चिम बंगाल में उच्च माध्यमिक विद्यालयों में छात्र अशांति की समस्या... 235 माध्यमिक स्तर के छात्रों के बीच छात्रों के विरोध को हवा दी है।

शैक्षणिक संस्थानों में छात्र असंतोष का एक अन्य पहलू राजनीतिक अशांति और राजनीतिक संकट है। राजनीतिक अशांति से छात्रों में गलत संदेश जाता है। छात्रों को गलत दिशा में ले जाने का प्रयास किया जाता है, जिसके परिणामस्वरूप एक-दूसरे के प्रति गुस्सा आता है। असंतोष इस स्तर पर पहुंच जाता है कि वह शिक्षण संस्थानों को ठप करने के लिए काफी है। राजनीतिक मूल्यों का अभाव इसका प्रमुख कारण है। जो कि पश्चिम बंगाल के उच्च माध्यमिक स्तर के छात्रों में स्पष्ट है।

पश्चिम बंगाल में छात्रों के विरोध का एक और कारण मानसिक अशांति है। इस मानसिक अस्थिरता के मूल में शिक्षा के वातावरण में भ्रष्टाचार, दुर्नीति, आतंकवाद, गरीबी और बेरोजगारी जैसे छात्र जीवन को प्रभावित करने वाले नकारात्मक तत्व हैं, जो किसी भी समाज को संकट के कगार पर ला सकते है। ऐसे में छात्रसमाज इससे बाहर नहीं हैं।

उपरोक्त की समीक्षा करते हुए पश्चिम बंगाल में उच्च माध्यमिक स्तर पर छात्रों के विरोध के कुछ विशिष्ट कारणों का उल्लेख किया जा सकता है-

- Defective Education System (दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली)
- Aimless life and uncertain future (लक्ष्यहीन जीवन और अनिश्चित भविष्य)
- Economic Difficulties (आर्थिक कठिनाइयाँ)
- Excessive Number of Students in the class (कक्षा में छात्रों की अत्यधिक संख्या)
- Defective Teaching Methods (दोषपूर्ण शिक्षण विधियां)
- Indifference of the Family-members (परिवार के सदस्यों की उदासीनता)
- Unsuitable Teachers (अनुपयुक्त शिक्षक)
- > Student Union (छात्र संघ)
- ► Lack of co-curricular and creative activities (सह-पाठ्यचर्या और रचनात्मक गतिविधियों की कमी)
- Defective Examination System (दोषपूर्ण परीक्षा प्रणाली)
- > Gender based Violence (लिंग आधारित हिंसा)
- Political unrest (राजनीतिक अस्थिरता)

> Socio-economic inequality (सामाजिक-आर्थिक असमानता)

Unemployment (बेरोजगारी)

प्रस्ताव (Suggestion)

- > उचित मार्गदर्शन के माध्यम से छात्र-विरोध को कम करना होगा।
- 🕨 छात्र विरोध की मांगों को छात्रों के साथ सुलझाया जाना चाहिए।
- छात्रों को मानवीय दृष्टिकोण से समस्याओं को देखने और त्वरित समाधान खोजने की आवश्यकता है।
- राजनीतिक दलों के लिए एक आचार संहिता तैयार करना और यह सुनिश्चित करना महत्वपूर्ण है कि ये दल कोई भड़काऊ टिप्पणी न करें।
- सरकार को बेरोजगारी को खत्म करने और दमनकारी नीतियों से दूर रहने का प्रयास करना होगा।
- माता-पिता, शिक्षक और राजनेता को छात्रों के लिए रोल मॉडल बनना चाहिए, ताकि छात्र उनका अनुसरण कर सकें।

निष्कर्ष (Conclusion)

आज का छात्र समाज सुरक्षा के अभाव में विशेष रूप से पीड़ित है। उनकी पारिवारिक निष्ठा टूट गई है। वर्तमान मे उनकी व्यक्तित्व और प्रजातांत्रिक व्यक्तित्व की भावना विकसित नहीं हो रही है, जो एक लोकतांत्रिक समाज के लिए आवश्यक है। अभिभावक-शिक्षक-अधिकारियों की उदासीनता के कारण छात्र समाज किसी पर विश्वास नहीं कर पा रहा है। इसलिए छात्र समाज आज विद्रोह के संघर्ष में अस्थिर, अशांत और खंडित है। इसलिए आज के इस कठिन समय में छात्रों के साथ खड़े रहने की एकमात्र जिम्मेदारी सभी माता-पिता और शिक्षकों की होनी चाहिए और छात्रों को यह सिखाना आवश्यक है कि इस कठिन समय के दौरान शैक्षणिक परिसर में शांतिपूर्वक सह-अस्तित्व कैसे स्थापित किया जाए। इस संबंध में समाज के सभी प्रतिनिधियों को अधिक जिम्मेदार होना चाहिए। माता-पिता और शिक्षकों के साथ-साथ सभी राजनेताओं, शिक्षकों और बुद्धिजीवियों को इस अशांत समय में छात्रों के साथ खड़ा होना चाहिए, तािक छात्रों के बीच उत्पन्न अशांति और आंदोलन के मुद्दे अवलुप्त हो जायें। अंत में यह कहा जा सकता है कि यह शोध कार्य अगले शोध कार्य को समुद्ध करेगा।

पश्चिम बंगाल में उच्च माध्यमिक विद्यालयों में छात्र अशांति की समस्या... 237 संदर्भसूची (References)

- 1. Roy. P. (2019) Value Education, Kolkata, Rita publication.
- 2. Shinha P.M. (2017), Life Skills Education For Adolescents, Kolkata, Pragati Publication.
- 3. चक्रवर्ती. क, (2014), शिक्षाया: समाजित्वकभित्ति:, कलकत्ता, रिता पब्लिकेशन।
- 4. Mete.J. (2017), Gender And Society, Kalyani, Rita Book Agency.
- 5. Sharma. K. (2010), Gender, School, Society. India, Bookman.
- 6. S.K.C. (2013), Peace And Human Right Education, India. APH.
- 7. नाग. एस, (2013), जीवनशैली शिक्षा, कलकत्ता, रीता पब्लिकेशन।
- 8. Dinakar. P. (2010), Life Skill Education, India, APH.
- 9. Naik, J.P. (2007), A Student History of Education in India, West Bengal, Macmillan.
- 10. पाण्डा. इउ, (2016), लिङ्गपरिचय-शिक्षालय-समाज, कलकत्ता, रीता।
- 11. चक्रवर्ती. पि.के.(2009). विद्यालय-समाज. प:व:. रीता पब्लिकेशन।
- 12. Patil, Y.Y. (2015), Value Education: Need of Hour, Pasaaydaan Foundation India.
- 13. Alfredo, (2019), Value And Crisis, Academic Publication India.
- 14. Mukherjee, R. (2014), Indian Society: Issues And Problems, SBPD Publication India.

अन्तर्जालसङ्क्षेतसूची

http://en.wikipedia.org/wiki/values_education.

http://en/wikipedia.org/wiki/ethics

www.google.c

www.valuesbasededucation.com

www.curriculum.edu.au

www.researchgate.net

www.livingvalues.net

www.edifyschoolbengaluru.com

www.goolebooks.com
www.shodhaganga.com
www.inflibnet.org
www.archive.com
www.worldpress.com
www.namami.com
www.sanskritdocuments.com
www.sanskritlibrary.com
www.academia.com
www.hinduonline.co



हनूमान्-चालीसास्तोत्रस्य गेयात्मकः संस्कृतानुवादः

(सन्तकवि गोस्वामी तुलसीदासविरचितम्)

-अनुवादकः डॉ. सत्यनारायणहेच्. के.*

ISSN: 0975-1769

श्री गुरुचरणसरोजरजसा निजमनोमुकुरं सुधारयन्। विवृणोमि रघुवरविमलयशो पुरुषार्थफलदायी॥ बुद्धिहीनस्तनुहीनोऽहं प्रणौमि तं पवनकुमारम्। बलबुद्धिविद्यां देहि मह्यं हर मम क्लेशविकारौ॥ जय हनुमन् हे ज्ञानगुणसागर। जयत् कपीश त्रिलोकयशोकारक॥ (1) हे रामदूत अतुलितबलधामन्। अञ्जनीपुत्र पवनज इति ते नाम॥ (2)

महावीर हे विक्रमबलशालिन्।

हर कुमतिं मम सुमितनः सङ्गिन्॥ (3)

काञ्चनवर्णविराजितवेषः।

कुण्डलराजितः कुञ्चितकेशः॥ (4)

हस्तविराजितवज्रपताक:।

कण्ठे मौञ्जी शोभित उपवीत:॥ (5)

शङ्करप्रतिरूपो हे केसरिनन्दन।

तेजः प्रतापी महान् भुवि वन्दित॥ (6)

विद्यावान् गुणिन् हे अतिचतुर।

रामकार्यकरणे चापितु आतुरः॥ (७)

प्रभुचरितश्रवणेऽसि अतिरसिकः।

रामलक्ष्मणसीतानां हृदि ते वास:॥ (8)

असिस्टेंट् प्रोफेसस् आफ् हिन्दी, मद्रास् संस्कृत महाविद्यालय:, चेन्नै (तिमलनाडु)

सूक्ष्मरूपधृतं त्वां सीताऽपश्यत्। विकटरूपधरः लङ्काम् अकम्पयत् (१) भीमरूपधृतः असुरसंहारी। रामचन्द्रविहितकार्ये निरूढः॥ (10) जीवति लक्ष्मणः सञ्जीवनिना त्वत्। श्रीरघुवीरकृतसमुदालिङ्गनः॥ (11) रघुपतिना त्वं बहु स्तुतोऽसि। मम प्रिय इति त्वं भरतसमानः॥ (12) अयुतमुखैस्तव यशसो गानम्। त्वमसि श्रीपत्यालिङ्गितकण्ठः॥ (13) सनकादयो हि ब्रह्ममुनीशाः। नारदशारदादिशेषै: प्रकीर्तिता:॥ (14) यमकुबेरदिक्पालका अपि त्वाम्। कविकोविदाः असमर्था स्तोतुम्॥ (15) तव सहयोगेऽमिलतां रामसुग्रीवौ। यस्मात् लब्धमनेन च राजपदम्॥ (16) तव उपदेशमानयत् विभीषणः। लङ्केश्वरोऽभवज्जगति विख्यातः॥ (17) योजनायुतस्थितो सः भानुः। मधुरफलमिति भोक्तुमधावः॥ (18) प्रभोः मुद्रिका मुखेन अनायि। जलधिलङ्गने न ते विस्मय:॥ (19) दुर्गमकार्यं किमपि चेत् जगित। सुगममनुग्रहवशादिति ते तत्॥ (20) रामद्वाररक्षकः त्वमसि विहाय। कोऽपि न आज्ञां लभते गन्तुम्॥ (21) सुखलाभिधया यान्त्येते शरणम्। त्वं रक्षक असि चेत् स्यादभयम्॥ (22) तव गतेरवरोधकः कोऽस्ति। तव गर्जनया कम्पते लोक:॥ (23)

भृतिपशाचाः न निकटे यान्ति। महावीर तव यो नाम शृणोति॥ (24) नश्यति रोगः विनश्यति मूलम्। जपतो नाम सदा हे हनुमद्वीर॥ (25) सङ्कटहारक असि हे हनुमन्। मनसि वचसि ते कार्ये ध्याने॥ (26) सर्वान् श्रेष्ठो रामतपस्वी। यस्य च कार्यं लीलाचरितम्॥ (27) सर्वमनोरथः त्वयाभिलषितः। लभतेऽतिजीवनफलञ्चिराद्धि॥ (28) युगचतुर्षु तवास्ति प्रतापः। प्रसिद्धिरस्ति ते जगित प्रकाशः॥ (29) साधुसंतरक्षणमपि करणीयम्। असुरविनाशिन् हे रामप्रियदास॥ (30) अष्टसिद्धिनवनिधेः प्रदाता। लब्धवरोऽयं जानकीमात्रा॥ (31) रामरसायनस्तव निकटेऽस्ति। सदा जीवसि हे रघुपतिदास॥ (32) तव भजनेन च सिद्ध्यति रामः। जन्मजन्मसञ्चितदु:खविनाश:॥ (33) अन्त्यकाले रघुवरपुरं प्रयाति। यदि जन्म स्यात् हरिभक्तो स्यात्॥ (34) इतरदेवानहं न धारये मनसि। हनूमत्सेवा सर्वसुखं ददाति॥ (35) सङ्कटदुःखं नश्यति सकलम्। योऽनुस्मरति च हनूमद्वीरम्॥ (36) जय जय जय हनुमन् हे गोस्वामिन्। कृपां कुरु मे त्वं गुरुदेवसमानाम्॥ (37) यो शतवारं पठतीमं चालीसम्। बन्धविमुक्तो महासुखी भवति॥ (38)

य एतत् पठित हनूमान् चालीसम्। सिद्धिर्भवित यस्य साक्षी गौरीशः॥ (39) तुलसीदासः सदा हरेरनुयायी। कुरु नाथ हृदि तस्य निवासम्॥ (40) पवनतनय हे सङ्कटहरण मङ्गलमूर्तिरूप हनुमद्वीर। रामलक्ष्मणसीतासहितो हृदि वसतु मम सुरभूप॥

संयम स्वरूप विमर्श

-योगिन्द्रा देवी*

शोधसार-

सम् उपसर्गपूर्वक 'यम उपरमे' धातु से संयम शब्द निष्पन्न होता है। अपनी इन्द्रियों पर सम्यक् रूप से नियन्त्रण प्राप्त करते हुए मानवजीवन में अभ्युदय व कैवल्य की प्राप्ति की जा सकती है। संयम न केवल यौगिक क्रियाकलापों के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है, वरन् दैनन्दिन जीवन में भी अति उपयोगी है। प्रस्तुत शोधपत्र में योगदर्शन के परिप्रेक्ष्य में संयम की अवधारणा को समझने का प्रयास किया जा रहा है।

प्रमुख शब्द- ध्यान, धारणा, योगदर्शन, समाधि, संयम।

आमुख-

संयम का शाब्दिक अर्थ रोक, निग्रह, नियन्त्रण, इन्द्रियनिग्रह करना है। किसी वस्तु के उपलब्ध होने पर अपने नियमों का पालन करने हेतु उस वस्तु का उपभोग नहीं करना संयम कहलाता है। व्यवहारिक जीवन तथा आध्यात्मिक साधना में सफलता के लिए संयम को अनिवार्य माना गया है। योगशास्त्र में धारणा, ध्यान तथा समाधि को संयम कहा जाता है। जब धारणा, ध्यान तथा समाधि का विषय एक ही होता है तो उस स्थिति को संयम कहा गया है। स्थान विशेष में जब चित्त में निरन्तर एकाग्रता होती है तो उस स्थिति को ध्यान कहते है। जब चित्त एकाग्र होकर ध्येयाकार में परिणत होता है अर्थात् ध्येय विषय के अतिरिक्त और और कुछ भी विषय ज्ञात नहीं रहता है तब वही ध्यान की अवस्था समाधि कहा गया है। इन तीनों को एक ध्येय विषय से सम्बन्धित होने के कारण संयम कहा गया है।

शोधच्छात्रा, संस्कृत विभाग, विश्वेश्वरानन्दिवश्वबन्धुसंस्कृत एवं भारत-भारती अनुशीलन संस्थान, पंजाब विश्वविद्यालय, साधु आश्रम, होशियारपुर।

^{1.} त्रयमेकत्र संयम:। योगसूत्र, 3/4.

^{2.} क. व्यासभाष्य, पृ.325. ख. योगसिद्धान्तचन्द्रिका, पृ.136.

शोधपद्धति-

प्रस्तुत शोधपत्र में प्राथिमक व द्वितीयक स्त्रोतों के आधार पर विवरणात्मक, तुलनात्मक व विश्लेषणात्मक शोध पद्धित का प्रयोग करते हुए शोधपत्र की विषय सामग्री का अध्ययन किया गया है।

1. धारणा-ध्रियतेऽनेनेति धारणा। धृ धातु से णिच्, युच् तथा टाप् प्रत्यय लगाने पर धारणा बनता है। धारणा का अर्थ लगाना, स्थापित करना, सम्भालना, सहारा देना, धारण करना, स्मरणात्मक शक्ति है। चित्त को किसी देशविशेष में स्थापित करना धारणा कहलाता है। "देशबन्धचित्तस्य धारणा"। बाह्य तथा आभ्यन्तर दो प्रकार के देश हैं। नाभिचक्र, हृदय पुण्डरीक, मूर्धा ज्योतिष, नासिका का अग्रभाग शरीरस्थ स्थानों में की जाने वाली धारणा आन्तरिक धारणा है। बाह्य पदार्थ जैसे सूर्य, चन्द्र, इष्टदेवता में की जाने वाली धारणा बाह्य धारणा है।

आन्तरिक तथा बाह्य पादार्थों में चित्त का बन्ध करना धारणा कहलाता है। बन्ध का अर्थ सम्बन्ध या स्थापन करना है। चित्त को समस्त विषयों से हटाकर ध्यान आधारित स्थान विशेष में स्थापित करना धारणा कहलाता है। योगसिद्धान्त चिन्द्रकाकार ने इसे आन्तरिक देश न कहकर आध्यात्मिक देश कहा है। आध्यात्मिक देश जैसे नाभिचक्र, भ्रूमध्य, हृदय, कण्ठ, मुख, मूर्द्धा, नासिका तथा बाह्य देश जैसे पर्वत, मस्तक, आकाशादि में बन्ध चित्त को विषयान्तर से परिहार करके अर्थात् अन्य विषयों से हटाकर स्थापित करना है। उसी एकाग्रता को धारणा कहा गया है। $\frac{1}{2}$

हृत्पुण्डरीके नाभ्यां वा मूर्ध्नि पर्वतमस्तके। एवमादिप्रदेशेषु धारणा चित्तबन्धनम्॥⁶

पञ्चमहाभूतों के भेद के आधार पर यह धारणा स्तम्भिनी, प्लाविनी, दहनी, भ्रामणी तथा शमनी पांच 0प्रकार की कही गई है।

^{1.} संस्कृत- हिन्दी शब्दकोश, पृ. 495.

^{2.} योगसूत्र, 3/1.

^{3.} बन्धः सम्बन्धः।तत्त्ववैशारदी, पृ.104.

यत्र देशे ध्येयं चिन्तनीयं तत्र ध्यानाधारदेशविषये चित्तस्य स्थापनं तदैकाग्रयं धारणेत्यर्थः। योगवार्त्तिक, पृ.281.

^{5.} देशे आध्यात्मिके स्थापनं तदैकाग्रयं सा धारणेत्यर्थ:। योगसिद्धान्तचन्द्रिका, पृ.133.

६ वही।

^{7.} सेयं धारणा भूतानां भेदेन स्तम्भिनी प्लाविनी दहनी भ्रामणी शमनी चेति पञ्चधा भवति। वही।

क. स्तिम्भिनी धारणा- पैरों से लेकर जानु पर्यन्त पृथ्वी का स्थान है। हिरताल, निभस, लकार, सर्वेधस इनका चतुष्कोण पृथ्वी में एकाग्रता करना स्तिम्भिनी धारणा है। इसे पार्थिवी धारणा भी कहा गया है।

ख. प्लाविनी धारणा- जानु से पायु पर्यन्त प्लाविनी धारणा का स्थान है। इसमें अर्द्धेन्दु के समान कान्तियुक्त विष्णु के कुंदाभ जल में चित्त को एकाग्र करना होता है। यह प्लाविनी धारणा है। इसे वारुणी धारणा भी कहा गया है।²

ग. दहनी धारणा- पायु से हृदय देश पर्यन्त इसका स्थान है। इसमें इन्द्र गोपाभ त्रिकोण रेफ रुद्र के साथ विह्न की एकाग्रता करना दहनी धारणा है। यह तैजसी धारणा भी कही गई है।³

घ. भ्रामणी धारणा- हृदय से भ्रूमध्य तक इसका स्थान है। इस स्थान में अंञ्जन सनिभ सवृत्त सयकार शेष वायु की एकाग्रता को भ्रामणी धारणा कहते हैं। इसे वायवी धारणा भी कहा जाता है।

ङ. शमनी धारणा- भूमध्य से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त इसका स्थान है। इस स्थान में सहकार विशुद्ध वारिसदृश सदाशिव आकाश में एकाग्रता शमनी धारणा है। इसे नाभसी या आकाशीय धारणा भी कहा गया है। 5

उपरोक्त धारणा को करने से योगी दृढ हो जाता है तथा सृष्टि का प्रलय होने पर भी साधक को मृत्यु से भय नहीं होता है। इन्हीं धारणाओं के फलीभूत होने पर भुशुण्डी आदि योगी अधिक समय तक जीवित रहे हैं। धारणा से ही साधक का मन एकाग्र होना प्रारम्भ होता है। इससे योगी के चित्त में मनन शिक्त का विकास होता है तथा मानिसक बल बढता है। धारणा के सिद्ध होने पर ही ध्यान की स्थित प्राप्त होती है।

2. ध्यान- ध्यान का शाब्दिक अर्थ मनन, विमर्श, विचार-चिन्तन करना है। ध्ये चिन्तायाम धातु से ल्युट् प्रत्यय करके यह ध्यान शब्द सिद्ध हुआ है।

^{1.} पदादि जानुर्यन्ते देशे इयमेव पार्थिवी धारणेत्युच्यते। वही।

^{2.} जानुत: पायुपर्यन्ते देशे इयमेव वारूणी धारणेत्युच्यते। वही।

^{3.} आपायोर्ह्रदयपर्यन्तदेशे..... इयमेव तैजसी धारणेत्युच्यते। वही।

^{4.} हृदयात् भ्रूमध्यपर्यन्तेदेशे......इयमेव वायवी धारणेत्युच्यते। वही।

^{5.} भ्रूमध्यात् ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्ते देशे..... नाभसी धारणेत्युच्यते। वही।

^{6.} योगसिद्धान्तचन्द्रिका, पृ.134.

^{7.} वही।

^{8.} संस्कृत- हिन्दी शब्दकोश, पृ.502.

देशविशेष में चित्त का एकाग्र हो जाना ध्यान है। "तत्र प्रत्ययेकतानता ध्यानम्"। यहां तत्र पद देशविशेष में औत्सर्गिक ध्यान का बोध कराता है। धारणा वाले देशविशेष में ध्येय विषय का ज्ञान जब एकाकार रूप से प्रवाहित होता है तो उस स्थित में उस ज्ञान को दबाने के लिए कोई अन्य वृत्ति नहीं होती है। यह स्थिति ध्यान है। ज्ञान की अविछित्र तथा अभिन्न धारा ही ध्यान है।

ध्यान की स्थिति में ध्याता, ध्यान तथा ध्येय इन तीनों का भान होता है। हृदय पुण्डरीक आदि देशिवशेष में चित्तवृत्ति की एकाग्रता ही ध्यान है। इस स्थिति में अन्य विजातीय वृत्ति का तिरस्कार करके होने वाला धारावाहिक ज्ञान ही ध्यान है। योगसिद्धान्तचिन्द्रका में धारणा तथा ध्यान में भेद स्पष्ट करते हुए कहा है कि धारणा ध्येयाधार की एकाग्रता का रूप है तथा ध्यान में देश से उपलक्षित परमेश्वर में एकाग्रता की जाती है। इस एकन्तता में अन्य वृत्तियां बाधा नहीं पहुंचाती है। जैसे-

देशावस्थितमालक्ष्य बुद्धेर्या वृत्ति सन्तति। वृत्त्यन्तरैरसंस्पृष्टा तद् ध्यानं सूरयो विदुः॥

ध्यान की स्थिति में योगी ध्येय वस्तु के साथ एकरूपता प्राप्त कर लेता है। इस स्थिति में अन्य प्रकार की किसी भी वृत्ति का स्पर्श नहीं होता है। केवल ध्येयाकार स्वरूप का आविर्भाव तथा तिरोभाव होता है। योगसिद्धान्तचन्द्रिकाकार ने ध्यान को छह प्रकार के अंगो से सम्पन्न हुआ बताया है।

तद्वत्ति प्रत्ययैकाग्रसन्ततिर्यान्यनिःस्पृहा। तद् ध्यानं प्रथमैः षड्भिरङ्गैर्निष्पाद्यते॥

ध्यान सगुण तथा निर्गुण भेद से दो प्रकार का कहा गया है।

क. सगुण ध्यान- इस ध्यान में ईश्वर का आकार होता है। इसमें मूर्त्ति आदि स्थूल वस्तुओं पर ध्यान किया जाता है।

^{1.} योगसूत्र, 3/2.

^{2.} अत्र सूत्रे तत्र इति पदं देशविशेषपरमौत्सर्गिकध्यानाभिप्रायेण। योगसिद्धान्तचन्द्रिका, पृ. 134.

^{3.} व्यासभाष्य, पृ.322.

^{4.} तत्र हृत्पुण्डरीकादिदेशविशेषे उपलक्षिते या धारावाहिकता सा ध्यानमित्यर्थ:। योगसिद्धान्तचन्द्रिका, पृ.134

^{5.} देशेनोपलक्षितपरमेश्वरैकाग्ररूपत्वात् धारणायास्तु ध्येयाधारैकाग्रयरूपत्वात्। वही, पृ.133.

^{6.} वही।

^{7.} वही, पृ.134.

ख. निर्गुण ध्यान- इस ध्यान में ईश्वर का कोई आकार नहीं होता है। इसमें ईश्वर निराकार होता है।

247

साधक को स्थिर आसन में बैठकर ध्यान करने से जो फल की प्राप्ति होती है वैसा फल न तो अश्वमेध यज्ञ से न ही राजसूय यज्ञ करने से मिलता है। महापातक में युक्त भी एक निमेष ध्यान करने पर तपस्वी तथा पवित्र हो जाता है। ध्यान के चरमावस्था में पहुंचने पर समाधि होती है।

3. समाधि- समाधि शब्द सम् तथा आ उपसर्गपूर्वक धा धातु से कि प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। समाधि के शाब्दिक अर्थ संग्रह करना, स्वस्थ करना, एकाग्र करना है। समाधि योगाङ्गों का अन्तिम अंग है। प्राय: योग की विचारधाराओं में समाधि अन्तिम लक्ष्य के रूप में स्वीकृत है। "तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि:"।3

ध्यान की अवस्था में ध्याता, ध्यान तथा ध्येय इन तीन वस्तुओं में स्थिति होती है तथा इन तीनों का ज्ञान होता है। इनका अभ्यास करते-करते जब ध्यान अपने स्वरूप को त्यागकर ध्येय के आकार से भासित हो जाता है उस अवस्था में समाधि होती है। मन को सब प्रकार के विक्षेपों से दूर करके यथार्थता से एकाग्र करना समाधि है। स्वच्छचित का वृत्तिप्रवाहरूप ध्यान ही अर्थमात्र में भासित होता है। यहां अर्थमात्र से अभिप्राय ध्येय के निःशेष, असन्दिग्ध व सर्वात्मा के भान से है। इस स्थिति में चित्त ऐसा "मैं हूं" इस प्रकार की चिन्तन विधा से अधिकारशून्य होता है। निर्विकल्पक रूप से प्रत्यक्ष का ग्रहण न होना स्वरूप शून्य नहीं है। स्वरूप शून्य अनुमान से वेद्य है ऐसा ध्यान भावनाविशेष समाधि पद का अर्थ है अर्थात् जब स्वच्छ चित्त अर्थमात्र रूप अर्थात् ध्येयाकार में स्थित होता है तो अपने स्वरूप से शून्य हो जाता है। ध्यान के स्वरूप का यहां प्रत्यक्ष नहीं होता है परन्तु यह स्वरूप अनुमान से जाना जा सकता है। इस प्रकार का ध्यान समाधि है।

^{1.} नाश्वमेधेन यत्पुण्यंपंक्तिपावन: एव स:। वही, पृ.135.

^{2.} संस्कृत- हिन्दी शब्दकोश, पृ.1076.

^{3.} योगसूत्र, 3/3.

^{4.} ध्यानमेव......समाधिरित्युच्यते। व्यासभाष्य, पृ.323.

सम्यगाधीयते एकाग्री क्रियते विक्षेपान्परिहृत्य मनो यत्र स समाधि। राजमार्तण्डवृत्ति, पृ.
 57.

^{6.} तदेव स्वच्छचित्तस्य वृत्तिप्रवाहरूपंध्यानं भावनाविशेष: समाधिपदार्थ:। योगसिद्धान्तचन्द्रिका, पृ.136.

ध्यान उसी प्रकार ध्येय के रूप को ग्रहण करता है जिस प्रकार लवण अपने स्वरूप का त्याग करके पानी के रूप को ग्रहण कर लेता है। यद्यपि उस अवस्था में लवण की स्थिति रहती है परन्तु पानी में मिलकर रहती है। यहां लवण का प्रत्यक्ष नहीं होता है। इसी प्रकार समाधि के रूप को धारण करने पर ध्यान की सत्ता रहती है परन्तु वह सत्ता ध्यान रूप में न होकर ध्येय के रूप में होती है। समाधि की अवस्था में ध्यान विद्यमान रहता हुआ भी स्वरूपत: प्रतीत न होता हुआ स्वरूप शून्य सा भासित होता है। वस्तुत: ध्यान की चरमावस्था समाधि है। समाधि के सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात दो भेद हैं।

सम्प्रज्ञात समाधि- सम्प्रज्ञात समाधि एकाग्र भूमि वाले चित्त में होती है। यह चित्त के क्लेशों को नष्ट करती है तथा कर्मादि संस्कारों को शिथिल करती है। सम्प्रज्ञात समाधि निरोधरूप असम्प्रज्ञात समाधि को अभिमुख करती है। सम्प्रज्ञात योग में चित्त की राजस तथा तामस वृत्तियों का निरोध हो जाता है। केवल सात्विक वृत्ति शेष रहती है। यह योग एकाग्र भूमि में होता है। इस समाधि में साधक को अपने ध्येय का सम्यक् ज्ञान होता है। अत: इस समाधि का नाम सम्प्रज्ञात योग है। सूत्रकार ने इसे चार भागों में विभाजित किया है। वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत। समाधि वितर्क से रहित तथा शेष तीनों से युक्त होती है। आनन्दानुगत समाधि वितर्क, विचार से रहित तथा शेष तीनों से युक्त होती है। अस्मितानुगत समाधि तीनों से रहित केवल स्वयं में स्थित होती है।

क. वितर्कानुगत- इस समाधि में साधक का चित्त स्थूल भूतों के आकार से आकारित होता है। ⁴ उन स्थूल भूतों का पूर्ण और वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है। योगसिद्धान्तचन्द्रिकाकार ने वितर्क शब्द का शाब्दिक विश्लेषण विशेषण तर्कणमिति व्युत्पत्तेः इस व्युत्पत्ति के अनुसार ध्येय चतुर्भुजादि को स्थूल भूत कहा है। ⁵

^{1.} यस्त्वेकाग्रे चेतिस सद्भूतर्थं...... निरोधमिभमुखं करोति स सम्प्रज्ञात योग इत्याख्यायते। व्यासभाष्य, पृ.1.

^{2.} वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात् सम्प्रज्ञातः। योगसूत्र, 1/17.

^{3.} तत्र प्रथमश्चतुष्टयानुगतः समाधिः सवितर्कः। द्वितीयो वितर्कविकलः सविचारः। तृतीयो विचारविकलः सानन्दः। चतुर्थस्तद्विकलोऽस्मितामात्र इति। सर्वं एते सालम्बनाः समाधयः। व्यासभाष्य, पृ. 63.

^{4.} वितर्कश्चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोग:। वही.

विशेषेण तर्कणमिति व्युत्पत्ते:। स्थूलांशचतुर्भुजादे: साक्षात्कारो वितर्क:। योगसिद्धान्तचिन्द्रका,
 पृ.23.

ख. विचारानुगत- इस अवस्था में चित्त सूक्ष्म तन्मात्राओं के आकार से पूर्णतया आकारित होता है। योगसिद्धान्तचिन्द्रकाकार ने इसकी व्युत्पित्त विशेषेण सूक्ष्म पर्यन्तं चरणिति इस प्रकार की है। तन्मात्राएं, अहंकार, महद्, अव्यक्तादि सूक्ष्म ध्येय स्थूल भूतों का कारण है। इनका साक्षात्कार विचार सम्प्रज्ञात समाधि में होता है।

- ग. आनंदानुगत- इस समाधि में चित्त एकादश आनन्दस्वरूप इन्द्रियों के आकार से पूर्णतया आकारित होता है।³ इस समाधि में सत्त्व की अधिकता होने से बुद्धि का आनंद से साक्षात्कार होने पर आनन्दसम्प्रज्ञात समाधि होती है।⁴
- **घ. अस्मितानुगत** अस्मितातत्त्व में साधक को पुरुषप्रतिबिम्बरूप बुद्धि का एकरूप में ज्ञान होता है।⁵ ग्रहीता पुरुष के साथ बुद्धि का एकीभूत हो जाना अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि है।⁶

उपर्युक्त चारों समाधियों से चित्त जब युक्त होता है तो ध्येय विषय का सम्यक् ज्ञान होता है, समाधि की यह अवस्था सम्प्रज्ञात योग है।⁷

असम्प्रज्ञात योग- असम्प्रज्ञात योग की स्थिति में कोई बौद्धिक ज्ञान अविशष्ट नहीं रहता है। इस अवस्था में चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध हो जाता है, अत: इसे निर्बीज समाधि कहते हैं। केवल निरुद्ध संस्कार अविशष्ट रहते हैं। इसमें चित्त ध्येय रहित समाधि में लीन रहता है, अत: इस समाधि को निरालम्ब समाधि भी कहा गया है। इस अवस्था में पुरुष सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त होकर स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित होता है तथा कैवल्य की दशा का अनुभव करता है। इस समाधि की तीन प्रकार की विशेषताएं हैं-

^{1.} सूक्ष्मो विचार:। व्यासभाष्य, पृ. 63.

स्थूलकारणपञ्चतन्मात्राहंकारमहदव्यक्तसूक्ष्म साक्षात्कारो विचार:। योगसिद्धान्तचिन्द्रका,
 पृ.23.

^{3.} आनन्दो ह्लाद:। व्यासभाष्य, पृ. 63.

^{4.} सत्त्वप्रकर्षेण जायमानाह्णादस्य साक्षात्कारः आनन्दः। योगसिद्धान्तचन्द्रिका, पृ.23.

^{5.} एकात्मिका संविदास्मिता। व्यासभाष्य, पृ. 63.

^{6.} ग्रहीत्रैकीभूतास्मितेत्युच्यते। योगसिद्धान्तचन्द्रिका, पृ.23.

^{7.} एतैरनुगमात् युक्तत्वाद्धेतोः सम्यक् प्रज्ञातत्त्वेन भावनाविशेषरूपोयोगः सम्प्रज्ञातनामा भवति। योगसिद्धान्तचन्द्रिका, पृ.23.

८. व्यासभाष्य, पृ. ९.

^{9.} वही.

^{10.} समस्तविषयपरित्यागस्य स्वरूपप्रतिष्ठा सन्निरालम्बन: समाधि: कारणमुपपद्यते। तत्त्ववैशारदी, प्र.58.

- 1. निर्बीज समाधि में चित्त की क्लिष्ट वृत्तियों के क्लेश रूप बीजों का निरोध हो जाता है।
 - 2. यह समाधि निरालम्ब होती है, इसका उपाय परवैराग्य है।
 - 3. इस समाधि में केवल संस्कार मात्र अवशिष्ट रह जाते हैं। 1

इसके स्वरूप को समझाने के लिए विवरणकार एकदम सटीक उदाहरण देते हैं कि जिस प्रकार दहकता हुआ अंगारा क्षीण होने के उपरान्त अन्त में एकदम शांत अर्थात् राख के रूप में स्थित होता है उसी प्रकार वृत्तियों का निरोध हो जाने पर केवल संस्कार मात्र अविशष्ट रहते हैं। अत: इसे संस्कारशेषा भी कहा जाता है। योगसिद्धान्तचन्द्रिकाकार ने असम्प्रज्ञात योग को महायोग की संज्ञा दी है। इसे ध्येय विषय के कारण निरालम्ब समाधि कहा है, इनकी दृष्टि में असम्प्रज्ञात ही राजयोग है। असम्प्रज्ञात योग दो प्रकार का होता है–उपाय प्रत्यय तथा भव प्रत्यय। उपाय प्रत्यय समाधि योगियों की तथा भव प्रत्यय समाधि विदेह प्रकृति लयों की होती है।

समाधिस्तत्र निर्बीजो राजयोग प्रकीर्त्तितः। दीपवद्राजते यस्मादात्मा सिचन्मयः प्रभुः॥

उपसंहार- धारणा, ध्यान तथा समाधि इन तीन संयमों के सिद्ध होने पर प्रज्ञा प्रकाशित होती है। जैसे-जैसे संयमों पर विजय प्राप्त होती है समाधि प्रज्ञा निर्मल होती जाती है। संयम के जय से प्रज्ञा प्रकाशित होती है। जब संयम अधिक प्रबल हो जाता है तो उसका उत्तर की भूमियों में विनियोग करना चाहिए। यहां पर भूमियों से अभिप्राय चित्तभूमियों के स्थूल सूक्ष्म आलम्बन से है तथा विनियोग से अभिप्राय नियोजन करने से है। चित्त की स्थूल भूमि अर्थात् नीची

^{1.} विवरण, पृ.49.

^{2.} पावकस्य प्रज्वलतःज्वालात्मकता। विवरण, पृ. ४९.

^{3.} योगसिद्धान्तचन्द्रिका, पृ.5.

^{4.} योगसिद्धान्तचन्द्रिका, पृ.5.

^{5.} स खल्वयं द्विविध:उपायप्रत्यय: भवप्रत्यय:। व्यासभाष्य, पृ.68.

५ वही

^{7.} तज्जयात् प्रज्ञालोकः। योगसूत्र, 3/5.

^{8.} क. व्यासभाष्य, पृ.325. ख.योगसिद्धान्तचन्द्रिका, पृ.136.

^{9.} तस्य भूमिषु विनियोग:। योगसूत्र, 3/6.

संयम स्वरूप विमर्श 251

भूमि को जीतकर सूक्ष्म भूमि अर्थात् ऊपर की भूमि में संयम करना चाहिए। नीचे की भूमियों को जीते बिना ऊपर की भूमि में सयंम नहीं किया जा सकता है। जो साधक स्थूल भूमि को जीते बिना सूक्ष्म भूमि में संयम करता है वह विवेकज्ञान रूपी फल को प्राप्त नहीं करता है।

साधक सर्वप्रथम वितर्कानुगत भूमि को जीतकर विचारानुगत भूमि को जीते। तत्पश्चात् आनन्दानुगत भूमि पर विजय प्राप्त करे। आनन्दानुगत भूमि को जीतने के पश्चात् अस्मितानुगत भूमि पर विजय प्राप्त करे। इस प्रकार अधर-अधर भूमि को जीतते हुए उत्तरोत्तर भूमि में चित्त को लगाना संयम है। संयम के सिद्ध होने पर समाधिजन्य प्रज्ञा निर्मल होती है तथा साधक को ध्येय तत्त्व का प्रत्यक्ष होता है।इस प्रकार विवेकज्ञान रूपी फल की प्राप्ति होता है। कहा भी है-

योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्त्तते। योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम्॥

सन्दर्भ ग्रन्थ-

- पातंजलयोगदर्शन, वाचस्पितिमिश्र कृत तत्त्ववैशारदी टीका सिहत विज्ञानिभक्षु कृत योगवार्त्तिक व्यासभाष्यसिहत, श्रीनारायणिमश्र, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी. 1998.
- 2. पातंजलयोगदर्शन हरिहरानंद आरण्य, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, 1975.
- 3. पातंजल योगदर्शनम्, तुलसीराम, स्वामी प्रेस, मेरठ,1977.
- 4. पातंजल योगशास्त्र एक अध्ययन, डॉ. ब्रम्हानंद अवस्थी, इंदु प्रकाशन, भोपाल, 1978.
- 5. भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, शारदा मंदिर, वाराणसी, 2011.
- 6. योगदर्शनम्, श्री कृष्णवल्भाचार्य, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2001.
- 7. योगसारसंग्रह डा. रामशंकर भट्टाचार्य,भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1989.

^{1.} तस्य संयमस्य स्थूलादिपूर्वभूमिकाजयानन्तरं सूक्ष्मसूक्ष्मोत्तरभूमिकासु विनियोगो नियोजनं योगिना कर्त्तव्यमित्यर्थ:। योगसिद्धान्तचन्द्रिका, प्र.137.

^{2.} न ह्यजिताधरभूमिरनन्तरभूमिं विलङ्घ्य प्रान्तभूमिषु संयमं लभते। व्यासभाष्य, पृ.326.

^{3.} अधरामधरां जितां ज्ञात्वोत्तरस्यां भूमौ संयम: कार्य: इति यावत्घ्योगसिद्धान्तचन्द्रिका, पृ. 137.

^{4.} क. व्यासभाष्य, पृ.327. ख. योगसिद्धान्तचन्द्रिका, पृ.137

8. योगसारसंग्रह, विज्ञानिभक्षु, व्याख्या पवन कुमारी, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 1981.

- 9. योगसूत्र (व्यासभाष्य सिंहत), व्याख्या. सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2006.
- 10. योगसिद्धांतचंद्रिका, डॉ. विमला कर्णाटक, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 2000.
- 11. हठयोग एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य एवं हठयोगप्रदीपिका, सुरेंद्र कुमार शर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 1985.



प्रादेशिक शब्दों की भाषा यात्रा में प्राकृत का योगदान

-डॉ. रजनीश शुक्ल*

ISSN: 0975-1769

मनुष्य की अभिव्यक्ति का प्रारंभिक स्वरूप प्राकृत (पागड) बोली के रूप में रहा होगा-ऐसा भाषाविज्ञानियों का मत है। प्राकृत वह है, जो स्वत: उद्भूत हो, निसर्ग-जिनत हो, कुदरतन उपजा हो, इसीलिए वह प्राकृत यानी कि प्राक् कृत है, अर्थात् सबसे पहले बना या बनाया गया हो। वही प्राकृत बोली (= विभाषा) कालान्तर में भाषा के रूप में परिवर्तित हुई। भाषा-संबंध में यह भी ऐतिहासिक सत्य है कि ये प्राकृत-बोलियाँ और भाषाएँ अपने-अपने विकास के क्रम में कितने-कितने और किन-किन दौर से गुजरी हैं इसकी पूरी जानकारी आज मानव-समाज के पास नहीं है। जो कुछ भी छिटपुट जानकारियाँ आज उपलब्ध हैं, उन्हें ही आधा बनाकर एक समूचे इतिहास का ढाँचा खड़ा किया गया है।

इंडो-यूरोपीय (भारोपीय) परिवार के इतिहास में वेदों की बोलियाँ सबसे प्राचीन हैं— खासतौर से ऋग्वेद संहिताओं की भाषाविज्ञानियों ने वेद की इन बोलियों के सात प्रकारों की पहचान की है। वह भाषा जिसे आज संस्कृत के नाम से जाना जाता है, वह वेद की उन बोलियों में से किसी एक से उद्भूत हुई, अर्थात् उसे (उस वैदिक बोली को) व्याकरण के नियमों में बाँधकर उसे बोली के प्राकृतस्वरूप को संस्कृत किया गया। संस्कृत बनाने का यह कार्य सिदयों तक चलता रहा। भाषाई इतिहास में प्राकृत-बोलियों और भाषाओं के अनेक दौर आए। उन्हें संस्कृत बनाने के और प्रचार में लाने के, अत: वेद की बोलियों और भाषाओं को 'प्राकृत-क' के नाम से अभिहित किया जा सकता है और मध्ययुग के प्राकृतों को 'प्राकृत-ख' कहा जा सकता है। लोग प्राय: प्राकृत का उल्लेख करते समय प्राकृत-ख को ही ध्यान में रखकर बातें करते हैं, जिन्हें कुछ भाषाई इतिहासकार 'साहित्यिक प्राकृत' के नाम से जानते हैं, क्योंकि मध्ययुग में इनका प्रयोग प्राय: साहित्यिक रचनाओं के रूप में ज्यादा मिलता है और अन्य रूपों में कम। बोलचाल और प्रशासन के लिए तो उनका प्रयोग होता ही था।

^{*} प्राध्यापक पालि-प्राकृत, मुक्तस्वाध्यायपीठम्, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली।

^{1.} आचार्य भरत कृत नाट्यशास्त्र प्रस्तावना परिच्छेद

साहित्यिक प्राकृत के बाद 'उद्विकास' ('अपभ्रंश' नाम से प्रचलित बोलियों और भाषाओं) का काल आया। उसके बाद देशी या राष्ट्रिय बोलियों और भाषाओं यानी वर्नाकुलर्स का काल आया। उनमें काश्मीरी, डोगरी, पंजाबी (उडिया), बंगाली, मैथिली, नेपाली, नेवारी, मगही, भोजपुरी, अवधी, बुंदेलखंडी, ब्रजी, हिन्दी, उर्दू, हरियाणवी आदि का स्थान प्रमुख है। भाषा विकास के इस पूरे दौर को अधोलिखित प्रकार से समझा जा सकता है-

मध्ययुग के प्राकृतों के विविध रूप हैं। मध्य युग का यह काल भी बड़ा है प्राय: 500 ई-पू से 1000 ईसवी तक। इस काल को भी प्राकृत बोलियों और भाषाओं के विकास के क्रम को ध्यान में रखकर तीन भागों में विभाजित किया गया है। इनमें पहले काल, जिसे प्रारंभिक मध्ययुगीन आर्यभाषा काल 500 ई-पू से हंसयो पूर्वतक। इस उपकाल की बोलियाँ व भाषाएँ हैं- पालि (जिसका पूर्व नाम मागधी था), बौद्ध संकर प्राकृत-संस्कृत (प्राचीन), अर्धमागधी (प्राचीन), अशोकी, प्राकृत, गांधारी प्राकृत आदि। दूसरा उपकाल है, मध्ययुगीन आर्यभाषा काल अर्थात् 01 ईसवी से 500 ईसवी तक। इस उपकाल में अर्धमागधी (दूसरे दौर की)। तीसरा उपकाल है उत्तर मध्ययुगीन आर्यभाषा काल अर्थात् 500 ईसवी से 1000 ईसवी तक। इस उपकाल में साहित्यिक प्राकृतों से विकसित विविध अपभ्रंशों का काल रहा है।

आचार्यों का मत है कि अपभ्रंश भाषाएँ एव बोलियाँ भाषा के बिगाड़ के कारण अस्तित्व में आई। उनका मानना है कि जैसे-जैसे काल बीतता गया संस्कृत पदों और शब्दों के उच्चारण में गिरावट आने लगी, फलत: प्राकृत और बाद में अपभ्रंशों का विकास हुआ। उनको दृष्टि में भाषा या बोली में गिरावट आती है। किन्तु आधुनिक भाषाविज्ञानियों का मत है कि बोली या भाषा में कभी भी गिरावट नहीं आती। उसका तो सिर्फ और सिर्फ केवल विकास ही होता है। भारतीय आर्य भाषाओं के विकास तथा प्रसार में प्राकृत भाषायें निश्चित शृंखलायें हैं। इतिहास के निर्माण में आदि मध्य एव अवसान की सभी घटनायें परस्पर अनुस्यूत होती हैं। प्रत्येक भाषा की शब्दावली स्वय अपने स्वरूप में एक विस्तृत इतिहास है। शब्दों के स्वरूप सतत परिवर्तित होते रहते हैं और व्यक्ति अपनी सुविधानुसार उनका रूप बोलियों में विकृत अथवा परिष्कृत कर लेता है।

संस्कृत साहित्य के रूपकों तथा उपरूपकों में महाराष्ट्री, शौरसेनी, पैशाची तथा मागधी प्राकृतों का प्रयोग परम्परा से होता चला आया है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक नाटककार संस्कृत के साथ ही साथ इन प्राकृत भाषाओं का भी पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके प्रयोग करता था। प्राकृत भाषाओं का संस्कृत से अधिक साम्य है। इसका कारण है कि प्राकृतजनों में उच्चारण के भेद से एक ही शब्द के अनेक रूप प्रचलित हो गये और उनका प्रयोग प्रचुर मात्रा में होने लगा। कालान्तर में उन शब्दों को कुछ नियमों में बांधा गया और उन्ही नियमो को प्रतिपादित करने वाले ग्रन्थ प्राकृत भाषाओं के व्याकरण के नाम से व्यवहत हुए।

प्राकृत भाषाओं की उत्पत्ति

आन्तरिक रमणीयता बाह्य सौन्दर्य सापेक्ष्य अवश्य होती है। कला को पूर्णता तथा महत्ता यही है कि वह अनुभूत्यात्मक हृदय की कोमल भावनाओं के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर सके। साहित्यिक चिन्तक भावाभिव्यक्ति के लिये प्रमुख रूप से भाषा पर आश्रित होता है। भाषा विचारों तथा अनुभूतियों को केवल आकार ही प्रदान नहीं करती प्रत्युत उनको अन्य सवेद्य भी बनाती है साथ ही स्थायित्व भी प्रदान करती है। जिस भाषा के माध्यम से व्यक्ति अपनी शैशवावस्था से ही कुछ सोचता, समझता या विचार करता है या जिस भाषा के द्वारा मातृगर्भ से वियुक्त होने पर मन में संस्कारों का अदृश्य रूप से संचय करता रहता है वही उसकी मातृ–भाषा कहलाती है। जो बोली उसके वातावरण को प्रभावित करती है वह उसको भी अवश्य प्रभावित करती है और वह स्वयं उसी भाषा में अपने आप सोचता विचारता भी है। यही उसकी स्वाभाविक भाषा बन जाती है।

जन साधारण, अशिक्षा के कारण, स्वाभाविक तथा सरल उच्चारण के कारण तथा संक्षेप को प्रवृत्ति अथवा प्रयत्न लाघव के कारण भाषाओं के मूल शब्दों के भिन्न-भिन्न उच्चारण करता है। यह प्रक्रिया निरन्तर प्रवाहित रहती है और इस प्रकार अनेक शब्द तथा ध्वनियाँ बनती और बिगड़ती रहती हैं।

साधारण मनुष्य भाषा के सरल से सरल तथा मधुर रूप के द्वारा भावों की अभिव्यक्ति चाहता है। भाषाओं के शुद्ध रूपों तथा व्याकरण सम्मत प्रयोगों की वह अपेक्षा नहीं करता और इस प्रकार शब्दों की मूल प्रकृति चाहे कुछ भी हो उससे उसको विशेष प्रयोजन नहीं होता। वह तो उस मूल प्रकृति से निष्पन्न प्राकृत शब्दों का ही प्रयोग करता है। वे ही सुगम, सरल तथा मधुर प्रतीत होते हैं। जो पद बिना किसी विशेष प्रयत्न तथा बनावट के स्वयं निकलते हैं उन्ही का प्रयोग किया जाता है। शास्त्रीय, वैज्ञानिक शुद्ध प्रयोग लोक भाषा में न्यून ही होता है। इस प्रकार शब्दों की मूल प्रकृति से सम्बन्धित अनेक प्राकृत-पदो का निर्माण होता है। प्राकृत प्रयोगों को मूल प्रकृति मान कर इनसे भी अनेक अपभ्रंश या देशी पद

बनते रहते हैं और इस प्रकार एक ही शब्द के अनेक रूप समय-समय पर बनते और बिगड़ते रहते हैं। इन परिवर्तनों के अनेक कारण होते हैं- उच्चारण की सुगमता इनमें प्रधान कारण है।

भारतीय आर्य शाखा को वैदिक भाषा ही संस्कृत में परिणत हुई और वही पुन: प्राकृत, अपभ्रंश आदि रूपों को धारण करती हुई देशी भाषाओं के रूप में ही प्रचलित हुई है। हजारो वर्षों के उपरान्त आजकल नव्य भारतीय आर्यभाषाओं की बोलियों में प्रचलित शब्दों का मूल प्रकृति से चाहे प्रत्यक्ष सम्बन्ध न प्रतीत होता हो परन्तु ऐसे अनेक शब्द हैं जो आज भी इसी बात को स्पष्ट करते हैं कि बाह्य रूप के परिवर्तित हो जाने पर भी उनके अन्दर मूल प्रकृति का आभास प्राप्त होता है।

वेदो में वैश्वानर अग्नि का उल्लेख मिलता है। उपनिषद् काल में वैश्वानर विद्या आध्यात्म सम्बन्धी एक विशेष विद्या थी जिसका अध्ययन तथा अध्यापन भी होता था उत्तर भारत में विशेषकर अवध प्रान्त में अग्नि में किसी पदार्थों को हिव के रूप में डालने को वसन्दर करना कहते हैं। वसन्दर का निश्चय ही वैश्वानर से कुछ आत्मीय सम्बन्ध प्रतीत होता है। न केवल ध्विन या स्वर साम्य से अपितु भाव साम्य से भी क्योंकि जिस भावना को वेदों का वैश्वानर द्योतित करता है उसी को किसी न किसी रूप में 'वसन्दर' भी करता ही है। आज बसन्दर देशी भाषा का शब्द हो गया है। इस प्रकार शब्द स्वतः घिसते–मजते रहते हैं। कभी–कभी आवश्यकतानुसार रूप का आमूल परिवर्तन हो जाता है और यदि मूल प्रकृति के उच्चारण में कुछ कठिनता होती है तो नया रूप ही मूल प्रकृति धारण कर लेता है। अस् धातु का जिस अर्थ में प्रयोग वैदिक भाषा में होता था आज उसी को हम, हवै या है के रूप में पाते हैं। युष्माकम् का तुम्हारा होना इसी पूर्ण रूप परिवर्तन को प्रकट करता है। इसी प्रकार अनेक शब्द देशी भाषाओं में आज भी अपनी मूल प्रकृति के साथ विद्यमान हैं।

इन परिवर्तित रूपो के कारण जो नवीन बोलियाँ या भाषायें समय-समय पर लोक में प्रचलित हो जाती हैं। कालान्तर में वैयाकरण उनके लिये एक नियम की, एक रूपता की व्यवस्था करते हैं। वे किसी नवीन भाषा को निर्मित नहीं करते अपितु प्रचलित भाषा को स्वरूप व्यवस्था ही करते हैं। इन्ही प्राकृत भाषाओं में अत्यन्त उत्तम तथा उच्च कोटि का साहित्य भी निर्मित हुआ है। लोक में प्रचलित भाषा में निर्मित साहित्य नागरिकों तथा साहित्यक व्यक्तियों के लिये भले ही अरुचिकर तथा स्वाथ्य रहित प्रतीत हो पर लोक में वही सुरुचिपूर्ण और रमणीय होता है। किसी भी देश को अथवा जाित को कुछ विशिष्ट रुचियाँ अथवा

प्रवृत्तियाँ होती हैं उनके लिए किसी कारण विशेष का ज्ञात करना दुष्कर होता है।

प्राकृत भाषाओं में सर्वत्र न ध्विन के स्थान पर ण् का होना, ह की ध्विन का अभाव, द को ठ होना, य का सर्वत्र ज होना आदि ऐसी प्रवृत्तिया हैं जो उस समय की प्रवृति तथा रुचि का निर्देश करती हैं और इनके अभाव में भी भाषा का सौन्दर्य विकृत नहीं होता। प्राकृत भाषाओं के अभ्युदय के काल में नयनम् को 'णअण' कहना नगरम् को 'णमर' नदी को 'गई' निद्रा को 'णिहा' या 'णिदा' कहना ही मधुर तथा सरल प्रतीत होता था। इस प्रकार समय-समय पर प्रत्येक देश तथा काल मे भाषाओं के रूप विधानो में इसी प्रकार के परिवर्तन होते रहे हैं। ये परिवर्तन, लोक रुचि को ही प्रकट करते है क्योंकि यदि लोक इनको स्वीकार न करे तो इनका प्रचलन ही नहीं हो सकता। इसी आधार पर किसी किव ने कहा है-

अहो तत्प्राकृत हारि प्रिया वक्तेन्दु सुन्दरम्। सुक्तयो यत्र राजन्ते सुधा निष्यन्द निर्झरा॥

अर्थात् स्नेहमयी प्रियतमा के चन्द्र रूपी मुख के समान वह प्राकृत भाषा आकर्षक तथा मनोहर है, जिस प्राकृत भाषा में अमृत के प्रवाह के निर्झरों के समान सुन्दर सूक्तियाँ प्रकाशित रहती हैं। इस प्रकार प्राकृत भाषाओं में भी लिलत एवं मधुर साहित्य की न्यूनता नहीं है।

नाट्य शास्त्र के प्रणेता भरत मुनि के अनुसार 'नानादेशसमुत्थं हि काव्यं भवित नाटके' अर्थात् नाटको में भिन्न-भिन्न देशो में निर्मित काव्य अवश्य होता है। यह भी असिन्दग्ध ही है कि जिस देश में जिस काव्य की रचना होती है वह उस देश की भाषा में ही होती है यिद वह रचना लोक साहित्य से सम्बन्धित है। साधारणतः किव यिद अधिक विद्वान् तथा बहुश्रुत नहीं है तो उसको अपने देश की भाषा में काव्य रचना करने में सरलता होती है और इस प्रकार नाटकों में नाना प्रकार की बोलियों तथा भाषाओं के व्यवहार से यह आवश्यक था कि साधारण व्यक्ति अन्य देशो की भाषाओं से भी अवगत अवश्य होते क्योंकि यिद केवल नाटक में काम करने वाले पात्र ही रट रटाकर इनका प्रयोग करते होते तो दर्शक वृन्द को नाटक के समझने में अत्यन्त असुविधा होती। अतः प्राकृत भाषाओं का ज्ञान साहित्यिक भाषा (संस्कृत) के साथ ही साथ चलता था।

वर्तमान समय में भी नगरी में बोली जाने वाली नागरी में यदि कोई नाटक लिखा जावे और उन नाटको में यदि ग्रामीण क्षेत्र के व्यक्ति भी कुछ अभिनय करें तो यदि वे शुद्ध नागरी का उच्चारण करते हैं तो यह अस्वाभाविक सा प्रतीत होता है अत: वे लोग ग्रामीण क्षेत्र में प्रचलित हिन्दी की बोलियों का ही प्रयोग करते हैं और यह स्वाभाविक है। जैसे 'मुझे क्या करना है' इस वाक्य को बैसवाडी बोली में 'मोहिका का करें का है' यही ग्रामीण व्यक्ति के मुख से अधिक उपयुक्त होता है और इस वाक्य को समझने वाले दर्शक वृन्द भी इस बोली से अवश्य अवगत होने चाहिये।

संस्कृत को मूल प्रकृति मानकर उनसे ही भिन्न-भिन्न पदो, ध्वनियों तथा रूपों का निर्माण होता है। वहीं भाषाओं का प्राकृत पाठ है ऐसा विचार भरत मुनि¹ का है

एतदेव विपर्यस्तं संस्कारगुणवर्जितम्। विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकम्॥

अर्थात् मूल प्रकृति संस्कृत के पदों को विपर्यस्त करके आगे के वर्ण को पीछे, पीछे के वर्ण को आगे मध्य के वर्गों को आगे-पीछे करके भिन्न-भिन्न प्रकार से बोलना प्राकृत पाठ कहलाता है। जैसे लखनऊ, को नखलऊ, अमरूद को अरमूद, रिक्शे को रिस्का आदि विपर्यस्त पाठ हैं। यह प्राकृत पाठ सस्कारो अर्थात् शुद्ध उच्चारण, स्थान तथा प्रयत्नों द्वारा शुद्ध प्रयोग अथवा स्वरादि गुणों से राहत होता है। भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में एक ही शब्द का भिन्न-भिन्न प्रयोग प्रतिदिन हम किया ही करते हैं। दादा, दद्दा, ददुआ, भाई, भैय्या, भवा, भायल प्रयोग एक दादा तथा भाई के लिये अपनी मानसिक अवस्थाओं के अनुरूप होते रहते हैं। भरत मुनि के अनुसार ये सब प्रयोग एक ही मूल प्रकृति से सम्बन्धित होने के कारण प्राकृत शब्दो की कोटि में आते हैं।

आचार्य भर्तृहरि ने प्राकृत प्रयोगों के सम्बन्ध में लिखा है कि "देवीवाक् व्यवकीर्णेयम शक्तरिभ धातृभिः" अर्थात् दैवीवाक् अशक्त कहने वालों के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से विस्तार या फैलाव को प्राप्त होती है। अशक्ति से यही तात्पर्य है कि साधारण जन, शिक्षा के अभाव और अभ्यास के न होने से शब्द की मूल प्रकृति से परिचित नहीं होते और न वे उनके शुद्ध प्रयोगों को ही जानते हैं अपनी सुविधा के अनुसार उन शब्दों का व्यवहार करने लगते है और फिर क्रमशः जन साधारण में उन्हीं का प्रयोग अथवा व्यवहार होने लगता है। इस प्रकार केवल अशक्ति अथवा शुद्ध प्रयोग के असामर्थ्य के कारण शब्दों के विविध रूप प्राकृत शब्द से कहे जाते।

इन प्राकृत शब्दों के लालित्य तथा माधुर्य के सबंध में अनेक विचार धारा है। एक आचार्य का विचार है कि 'संस्कृतात् प्राकृतं श्रेष्ठं ततोऽपभ्रंश

^{1.} वही

^{2.} आचार्य भर्तृहरि वाक्यपदीय

भाषणम्।' अर्थात् संस्कृत से प्राकृत श्रेष्ठ है और प्राकृत से भी अपभ्रंश भाषा अधिक मधुर तथा श्रेष्ठ है।

वाग्भट्ट अपभ्रंश शब्दों को अशुद्ध या अपशब्दों के रूप में नहीं स्वीकार करते और अपभ्रश शब्द से उन भाषाओं का ग्रहण करते है जो अपने अपने देशों में बोली जाती थी 'अपभ्रंशस्तु यच्छुद्धं तत्तद् देशेषु भाषितम्' अर्थात् शुद्ध अपभ्रंश वह भाषा है जो अपने अपने प्रान्तों या देशों में बोली जाती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अपभ्रश पदों के प्रति जो धारणा महाभाष्यकार की थी वह वाग्भट्ट की नहीं है और वे अपभ्रंश को भी शुद्ध ही मानते हैं।

दण्डी ने अपने काव्यादर्श में महाराष्ट्री प्राकृत को आदर्श प्राकृत भाषा के नाम से सम्बोधित किया है यथा- 'महाराष्ट्राशया भाषा प्रकृष्ट प्राकृतं विदुः' महाराष्ट्र प्रदेश की प्राकृत आदर्श प्राकृत है। इस प्रकार प्राकृत भाषाओं के प्रति आग्रह उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ प्रतीत होता है। यदि ये प्राकृत भाषाएँ मधुर तथा लोकप्रिय न होती तो भरत मुनि कदापि नाटकों में इनके प्रयोग की अनुमित न देते और न संस्कृत नाटकों में इनका व्यवहार ही पूर्ण रूप से किया जाता।

क्षेत्रीय बोलियों का विकासक्रम

लोकव्यवहार का विशिष्ट माध्यम भाषा है। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से भी जनभाषा ही विकसित और परिष्कृत होकर साहित्यिक भाषा का रूप धारण करती है। जनभाषा अपेक्षाकृत व्याकरण के नियमों से मुक्त होती है, क्योंकि उसका प्रयोजन (दैनन्दिन) लोक व्यवहार में भाव का सम्प्रेषणमात्र होता है। जिससे व्यवहार में बाधा न हो। साहित्य में लोककल्याण के लिये उदात्त और सूक्ष्मभावों की अभिव्यञ्जना के लिये अपेक्षाकृत परिष्कृत् संश्लिष्ट और अर्थगाम्भीर्य से युक्त भाषा अपेक्षित होती है। अत: साहित्यिक-भाषा में व्याकरण की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती हैं। जनभाषा की प्रचलित प्रवृत्तियों को ही व्याकरण व्यवस्थित कर नियमों के रूप में निबद्ध कर देता है। क्योंकि व्याकरण भाषा का अनुगामी होता है। अत: साहित्यिक-भाषा में भी जनभाषा की प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं।

प्रस्तुत प्रवृत्ति का अवलोकन संस्कृत एवं प्राकृत के सम्बन्ध में स्पष्ट सिद्ध होने के कारण शिष्टजनों की भाषा बनी, संस्कृत एक विशिष्ट-वर्ग की साहित्यिक-भाषा थी। प्रकृति अर्थात् स्वभाव जनसामान्य द्वारा व्यवहत भाषा प्राकृत कहलाई, वह संस्कारित कही जाने वाली संस्कृत से भिन्न है। पाणिनि ने वैदिक वाङ्मय को छान्दस् और सामान्यजनों के बोलचाल को भाषा नाम दिया है,

^{1.} आचार्य दण्डी काव्यादर्श 1/3

जिससे दोनों भाषाओं का पार्थक्य सिद्ध होता है। रूद्रट रचित काव्यालंकार की टीका में जैन-विद्वान् निमसाधु ने प्राकृत और संस्कृत की विशेषताओं का प्रतिपादन किया है। प्राकृतेति-सकलजगज्जन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहित संस्कारः सकलो वचनव्यापारः प्रकृतिः तत्रभवं सैव वा प्राकृतम्। तथा- अतएव शास्त्रकृता प्राकृतमादौ निर्दिष्टं तदनु संस्कृतादीनि। संस्कृत के विषय में-पाणिन्यादिव्याकरणोदित शब्दलक्षणेन संस्करणात् संस्कृतमुच्यते।

हेमचन्द्र तथा कुछ अन्य विद्वानों की मान्यता है कि 'प्राकृत' शब्द प्रकृति से व्युत्पन्न है। प्रकृति का अर्थ संस्कृत है– प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्। प्राकृत का अजस्त्र प्रवाह लोकभाषा के रूप में होता रहा, जिसके विविधरूप विभिन्न क्षेत्रों और कालों में बोलियों के रूप में दृष्टिगत होते हैं।

संस्कृतभाषा का समग्र भारतीय प्रान्तीय भाषाओं के साथ सम्बन्ध प्राप्त परिलक्षित होता है। न केवल प्राकृत अपित समस्त प्रान्तीय भाषाओं की पोषिका संस्कृतभाषा ही इनका मूल स्रोत है। प्रान्तीय भाषाओं की न केवल रचनागत विशिष्टतायें, अपितु स्वशब्द-सम्भार भी संस्कृत और प्राकृत से ग्रहण किया गया है। आधुनिक भारतीय भाषाओं में कुछ संस्कृत के तत्सम तथा कुछ तद्भव शब्द प्रयुक्त हैं। यद्यपि ये शब्द मुलत: संस्कृत के हैं तथापि उन विशिष्ट भाषाओं में प्रसिद्ध हो गये हैं। अत: संस्कृत आधृनिक भारतीय प्रान्तीय भाषाओं के सुरक्षित शब्द-भण्डार के समान सुप्रतिष्ठित है। संस्कृतभाषा एवं शौरसेनीप्राकृत प्रान्तीय भाषाओं के अन्त:सम्बन्ध के सन्दर्भ में हरियाणवी, राजस्थानी, ब्रजभाषा आदि के परिप्रेक्ष्य में तथा गुजराती, मराठी संस्कृत और महाराष्ट्री प्राकृत एवं पूर्व भारत की अधिकांश बोलियों का विकास संस्कृत तथा मागधी प्राकृत से विकास माना जा सकता है। सर्वप्रथम हरियाणवी भाषा के प्रसंग में यदि विचार करें तो भाषाओं में संस्कृत से चौथी पीढ़ी की भाषा हरियाणवी भाषा है। परवर्ती काल में प्राकृतों के रूप में परिवर्तित हो गई। यदि हरियाणवी भाषा के वंश-वृक्ष पर विचार करें, तो वैदिक संस्कृत से सर्वप्रथम पालि और संस्कृत का विकास हुआ। तत्पश्चात् शौरसेनी, मागधी और महाराष्ट्री प्राकृत का आविर्भाव हुआ, भाषाविद् हरियाणा में बोली जानेवाली भाषा को शौरसेनी प्राकृत मानते हैं। शूरसेन-प्रदेश में इसका

^{1.} काव्यालंकार, श्लोक 2-12 टोका

^{2.} हेमचन्द्र, सिद्धहंमशब्दानुशासन 1.। वृत्ति/3

^{3.} वही पू. 1

^{4.} भारतीयभाषा साहित्येषु अन्त:सम्बन्धविमर्श:, पृ. 110

विकास होने के कारण यह शौरसेनी प्राकृत कहलाती है। ईसा को 15वीं शताब्दी में शौरसेनी प्राकृत का विकास शौरसेनी अपभ्रंश में होने लगा, शौरसेनी अपभ्रंश से ही पश्चिमोत्तर भारतीय भाषायें अवधी, व्रज, छत्तीसगढ़ी, खड़ी बोली तथा हिरयाणवी भाषा के रूप में प्रयुक्त परिलक्षित होती है। हिरयाणा में अनेक उपभाषायें बोली जाती हैं। जैसे-मेवाती, अहीरवाटी, बागड़ी, राठी आदि। इनमें से हिरयाणवी भी एक बोली है। जिसे बाँगरू या जादू नाम से भी पुकारा जाता है। हिरयाणवी समेत अन्य बोलियों का विकास एवं संरचनागत वैशिष्ट्य भी महत्त्वपूर्ण है। यथा-

- संस्कृत की ऋ, मूर्धन्य प् एवं तालव्य श् ध्विनयों हिरयाणवी में नहीं है।
 ऋ का उच्चारण इ के साथ संयुक्तरूप में होता है। यथा ऋण-रिन,
 ऋषि-रिशि, कृषाण-किसान आदि।
- 2. मूर्धन्य ष् का उच्चारण छ में परिवर्तित हो गया है। यथा-मेष-मेख, वर्षा-बरखा आदि।
- 3. कहीं-कहीं षु का उच्चारण ह हो जाता है। यथा-पौष पौह आदि।
- 4. हरियाणवी में क्ष के स्थान पर छ का उच्चारण होता है। यथा-लक्ष्मी-लिच्छमी, क्षमा-छिमा, क्षोभा-छोह आदि।
- 5. तालव्य शकार का उच्चारण स किया जाता है। यथा-शाक-साग, शाखा-साखा, शंख-संख, शंकुन संगुन आदि।
- 6. प्रारम्भिक एवं मध्यवर्ती यकार के स्थान पर ज का प्रयोग। यथा–यश–जस, यात्रा–जात्रा आदि।
- 7. दो से अधिक व्यंजन ध्विनयों का संयुक्त रूप से उच्चारण नहीं होता। अन्त में अ ध्विन अपने पूर्ववर्ती व्यंजन से स्थान बदल लेती है। यथा-इन्द्र-इन्दर आदि।
- 8. अन्तिम अक्षर के रूप में प्रयुक्त संयुक्त अक्षर नहीं बोला जाता। ध्विन व्यत्यय हो जाता है। यथा-प्रकाश-परकाश, प्रचार-परचार, धर्म-धरम आदि।
- 9. वैदिक संस्कृत से प्रभावित होने के कारण व ध्विन हरियाणवी में प्राप्त होती है। ड. ल ध्विनयाँ यहाँ स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त होती हैं। आडा, आल्ला, आला आदि।

ये सभी लक्षण प्राकृत में भी प्राप्त होते हैं। शब्दभण्डार को चार प्रकार के शब्द वर्गों से विभक्त सुसम्पन्न माना जाता है। इसमें कुछ शब्द सीधे संस्कृत से चले आ रहे हैं। या अब उसमें से ग्रहण किये जा रहे हैं। इन्हें सुविधा के लिए

हम तत्सम शब्द का, तत् का संस्कृत के समानवाचक शब्द कह सकते हैं। दूसरा वर्ग ऐसे शब्दों का है जो मूलरूप से तो संस्कृत के हैं; परन्तु प्राकृत तथा अपभ्रंश के माध्यम से होते हुए हरियाणवी भाषा में सिम्मिलित हुए हैं, जिसे तद्भव अर्थात् उससे उत्पन्न माना जाता है। तीसरे वर्ग में ऐसे शब्द हैं, जो हरियाणवी भाषा के अपने हैं अर्थात् इनका सम्बन्ध पूर्व पौड़ियों से नहीं हैं, जिसे 'देशज' कहा जाता है। चौथे वर्ग में वे शब्द वर्णित है; जो आदान द्वारा अंग्रेजी, फारसी, अरबी, तुर्की आदि विदेशी भाषाओं से ग्रहण किये गये है।

सामाजिक-शैक्षणिक विकास जिसके साथ आगत सहस्राधिक शब्दों और पूर्ववर्ती शब्दों की समन्वित भाषा ने भाषाविज्ञान को नये आयाम दिये, यद्यपि 'श्रत्', 'चार्वाक', 'ताण्ड्य', 'खारवेल' आदि अतिविशिष्ट शब्दों का भाषिक मूल और व्युत्पत्ति-परक अर्थ आज भी अस्पष्ट है।

- 1. संस्कृत से प्राकृत में आकर न्यूनाधिक परिवर्तन के साथ संस्कृत में ही लौटने वाले कुछ शब्द द्रष्टव्य हैं। क्षमापण-क्षमावण- खमावाणी- क्षमावाणी। उपवसथ-उपोसथ-उपोसह-पोसह-प्रोषध। क्षुद्रक- खुरल- खुल्लक- क्षुल्लक। अचेलक-अपलक-ऐलक-एलक। गोपेन्द्र-गोविंद-गोविन्द। राजस्थान में प्रचलित 'बीद' शब्द 'गोविंद' से आया दिखता है।
- 2. भाषा-यात्रा में घिस-पिट कर कुछ शब्द अपना मूलरूप ही खो बैठे ओ नमः सिद्धेभ्यः ओ नामासीधम। उपाध्याय (1) उवन्झा-ओज्झा- ओझा-झा; (2) उपाध्ये- पाध्ये- पाधे- पाधा। अर्ध- कात्यायनी- अद्ध-कच्चाइनी- अधस्वाइनी-अधचाइनी- अधिचनी। काप्त- गृह काट्टघर- काठपर काठघर- कठघरा- कटरा। ग्रामणी- गाँवणी गाँवड़ी-गाँवड़ा- गौड़ा। संघ- पित-संघवई- संघई- सिंघई- सिंघवी- सिंघी- संगवे। सार्थवाह- साटुवाह-साठवा-साठा- साठे। इसीतरह मुखोपाध्याय सेमुखर्जी, वन्द्योपाध्याय से वनर्जी, द्विवेदी से दुबे, त्रिपाठी से तिवारी, चतुर्वेदी से चौबे, विणक् से बिनया, वैष्णव बिश्नोई आदि शब्दों का परिवर्तन भी द्रष्टव्य है। इसी प्रकार संस्कृत के शब्दों का प्राकृत से होकर हिन्दी में आना भी मनोरंजन है: यिष्ठ से लट्टी और लाठी, वत्स से बच्चा और बछड़ा, वत्सर्य से बाँछ, 'मश्रु से पूँज स्पर्श-मन्त्र से छुमंतर, आदि।
- 3. हिन्दी का शब्द 'बरं (ततैया)' जो संस्कृत के 'द्विर' से बना है; द्विर इसिलए बना है; क्योंकि उसक एक पर्यायवाची शब्द 'भ्रमर' में दो 'र' है (द्वौ रौ यस्मिन् शब्दे स द्विरः)। इस सन्दर्भ में द्विप, द्विरद, द्विजिह्न एकदन्त, अन्नि आदि शब्द भी उल्लेखनीय हैं। संस्कृत नाटकों का विदृषक

प्राय: राजा का साला (श्याला) होता है, उसे शब्द का आरम्भ शकार से होता है, इसलिए उसका नाम भी शकार पड़ गया है।

- 4. कुछ शब्दों की भाषा-यात्रा ऐतिहासिक संस्कृति से आरम्भ होती है और सामिसक संस्कृति पर रुक जाती है, विश्व-पन्थ विस्सपंथ-विसपंथ-बीसपंथ। स्थिवर-पन्थ-थेरपंथ-तेरपंथ-तेरपंथ। ज्योतिषी-जोइसी-जोसी-जोशी। पण्डित-पंडिय-पंडिया-पंड्या-पंडा-पाँडा-पाँडा, पण्डित-पंडत-पंत (इसके अनुकरण पर 'मैडम' 'मैम' बन गयी दिखती है)।
- 5. 'हरिवंश पुराण' में अपभ्रंश महाकिव जिनसेन द्वारा प्रवर्तित और अवधी के महाकाव्य पद्मावत में मिलक मुहम्मद जायसी द्वारा तथा रामचिरतमानस में गोस्वामी तुलसीदास द्वारा मिहमा-मंडित 'कडवक' शब्द संस्कृत के 'कलापक' का अपभ्रंशरूप है (द्वाभ्यां युग्मिमिति प्रोक्त त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम्, कुलकं तु वलुर्भिः स्यात् तदुर्ध्व तु कलापकम्)।
- 6. अर्थ-परिवर्तन या अर्थ-विस्तार का एक अनुपम उदाहरण है 'तैल'। 'तिलेभ्यो जातं भवं वा तैलम्' अर्थात् तिलों से निकलने वाला द्रव पदार्थ तैल या तेल कहलाता है, किंतु चमत्कार है कि अन्य अनेक पदार्थों से निकलने वाला इस प्रकार का द्रव्य भी तेल ही कहलाता है, यहाँ तक कि खनिज पेट्रोल भी तेल कहलाता है। पानी आदि पीने के एक पात्र को ग्लास कहते हैं, क्योंकि वह ग्लास या काँच से बना होता है; किंतु धातुओं से बनकर होने पर भी उस तरह के पात्र को ग्लास ही कहते हैं।
- 7. कुछ शब्द व्याकरण की अनुमित से एकाधिक रूपों में एक ही अर्थ में प्रचिलत हैं: विधान, अपिधान-वगाहन, अवगाहन, पितरौ माता-पितरी, दम्पती, जम्पतो, जाया-पती, नस् नासा, नासिका, शीतोष्ण, कोष्ण, कवोष्ण, कटुष्ण, नवदश, एकोनविंशित, एकान्नविशित, एकार्नविशित, एकार्नविशित। इनमें से कुछ शब्द भागुरि और पाणिनी के मतभेद से बने हैं और कुछ पर प्राकृत का प्रभाव है।
- 8. प्राकृत अपभ्रंश का संयुक्त प्रभाव संस्कृत-मूलक बुंदेली शब्दों पर स्पष्ट है अनिन्द्य सुन्दरी-नोदरी। निरन्न निन्ने (खाली पेट)। शकटोन्नयनी सकटोनी। (बारात को ले जाने के लिए गाड़ी जोतकर तैयार रखना जिसके बाद, एक लेंग के रूप में, दूल्हा लौटकर नहीं आ सकता)। मध्योट-मउझोटअ-मझोटा-मझोटो (झोपड़ी या घर का मध्य भाग)। नीरवाह-नरवा-नलया। क्षीरिणा-खिचडी, गल-बन्धन-गिरमा आदि की व्युत्पत्ति संदिग्ध है। 'मोडा'

शब्द संस्कृत के 'माणवक' शब्द से आया प्रतीत होता है, जो पंजाबी के मुंडा का भी मूल रहा हो सकता है।

9. कुछ भारतीय शब्द अपने वर्तमान रूप में भारतीयेतर-जैसे दिखते हैं, कोटपाल-कोतवाल, पृट्टयाल-पटवारी; राजभाष-राजमा; पर्यक-पलंग; समुद्रसमंदर; चतुरस्र-चौरस:-चतुष्क-चौक। कुछ भारतीयेतरशब्दों ने भारतीय वेषभूषा अपना रखी है, सोक्रेटीस-सुकरात; प्लैटो-अफलातून; अरिस्टोटल-अरस्तू, अलेक्जेंडर-सिकंदर; टिगरिस- दजला; इफ्रटिस-फरात; सैटन-शैतान; कैलिफ-खलीफा; इंग्लिश-अंगरेजी; पेसिफिक प्रशान्त: इंटरिम अन्तरिम।

राजस्थानीभाषा के कई नाम हैं। उद्योतनसूरि द्वारा लिखित 'कुवलयमाला' ग्रन्थ संवत् 835 में जालोर (मारवाड़) में प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ में 18 देश की भाषाओं का उल्लेख मिलता है। इनमें मरु, गुर्जर, लाट और मालवा प्रदेश की भाषाओं के उद्धरण प्राप्त होते हैं इसमें मरुभाषा का उल्लेख होने से प्रतीत होता है कि यह राजस्थान को प्रधान संक्षेपत: यह कहा जा सकता है कि इन उदाहरणों के अतिरिक्त भी अनेकानेक प्रयोग हरियाणवी भाषा में प्रयुक्त होते हैं, जिनसे यह परिलक्षित होता है कि शौरसेनी प्राकृत जनभाषा के रूप में प्रचलित रही। प्राचीनकाल में शौरसेनी ही भारत के अधिकांश क्षेत्रों में बोली जाती थी आधुनिक भारतीय भाषाओं के सन्दर्भ में आज भी यह तथ्य चरितार्थ होता है। इसका कारण है कि शौरसेनी प्राकृत संस्कृत के सर्वाधिक निकटतम एवं सम्बद्ध है। अतएव हिन्दी, मराठी, पंजाबी, भोजपुरी आदि अनेक भाषाओं में बोलियों में शौरसेनी प्राकृत के शब्द एवं व्यापक प्रभाव सर्वत्र विद्यमान है। जनभाषाओं में शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग बाहुल्य द्रव्य के प्रति विद्वज्जन समादर के साथ-साथ लोकप्रियता का भी परिचायक है। अत: प्रान्तीय भाषाओं का संरक्षण, परिवर्धन एवं संवर्धन प्राकृत एवं संस्कृत के संरक्षण, पोषण से ही सम्भव है।



^{1.} हरियाणवी एवं प्रतिवेशिक उपभाषायें, शिवप्रसाद शुक्ल

^{2. &#}x27;अप्पा तुत्था' भिणरे अह पेच्छडइ मारुए तत्तो 'न उरे भल्लउं' भिणरे अह पेच्छइ गुज्जरे अवरे 'अम्हं काउ तुम्ह' भिणरे अह पेच्छइ लाडे 'भाइ य भरणी तुब्बे' भिणरे अह मालवे दिट्टे। हरदानहर्ष कृत राजस्थानी भाषा, साहित्य और संस्कृत, जयपुर।

Living Traditions of Advaita Vedānta

-Dr. Shakuntala Gawde*

ISSN: 0975-1769

Abstract:

Kevalādvaita was propounded by Ādi Śaṅkarācārya. Saṅkarācārya established maṭhas to ensure the continuity of this system. The philosophical school of Kevalādvaita is a living tradition even today. This paper takes an analytical survey of this living tradition. It can be seen under three major heads - literary tradition, maṭha tradition and institutional tradition.

Keywords: Advaita, Kevalādvaita, living tradition, Śańkarācārya, Vedānta -

Introduction:

Ādi Śańkarācārya propounded the system of Kevalādvaita Vedānta in c. 700 CE. He gave the philosophy which kept the tradition of Hinduism alive with a strong philosophical foundation. He wrote several treatises including Brahmasūtrabhāsya, Upanisadbhāsyas, Prakarana granthas like Vivekacūdāmani and stotras. He established the philosophy of Absolute Monism when heterodox systems like Jainism and Buddhism were becoming influential in society and Hinduism was getting equated with ritualism. There was need to reinterpret Hinduism and continue the same with new meaning in order to fight with heterodox systems. Sankarācārya gave importance to Upanishadic philosophy and reconstructed the meaning of Vedas as "knowledge". He made his philosophy universalistic rather than being based on a particular religion or cult. Brahma satyam janganmithyā is the crux of Kevāladvaita philosophy. Brahman which is without form and qualities is proclaimed as the ultimate reality in his philosophical system.

^{*} Head and Assistant Professor, Department of Sanskrit, University of Mumbai, Mumbai, India

Parabrahman and Apara Brahman are two concepts included in the philosophy but it is the Para Brahman which exists in reality. Pāramārthika sattā is the true reality where there is no difference at all.

Śaṅkarācārya's philosophy got applauded by the whole world. It is studied and thought to be applicable in global scenarios due to its universalistic approach. Śaṅkarācārya's philosophy is considered highly scholastic and intellectual by many. It is concluded that this philosophy cannot be followed by common people. As a result, there were many counterattacks by Vaiṣṇanava ācāryas like Rāmānuja, Madhva, Nimbārka and Vallabha on the concept of the falsity of the world as well as the concept of *Nirguṇa* reality.

Śaṅkarācārya's philosophy seems to be misinterpreted in due course of time. He had neither denied the concept *Saguṇa Brahman* in his philosophical school nor did he overlook the role of common people in society. There are several *stotras* composed by Ādi Śaṅkarācārya which are replete with *Saguṇa* as well as *Nirguṇa bhakti*. Even after facing a lot of criticism from later philosophical schools; Śaṅkarācārya's philosophy is alive in different forms and traditions.

The tradition of Advaita Vedānta is uninterrupted till the time. Its contemporary status can be understood only when its continuity from the beginning is observed from a historical approach. Tradition of Advaita Vedānta can be seen in three forms namely literary tradition, ritual tradition and maṭha or institutional tradition. The paper dwells on literary sources for the study.

I. Literary tradition:

Literary tradition plays an important role in the thriving of any philosophical school with a proper rationalistic foundation. Śańkarācārya composed many philosophical treatises including commentaries as well as independent works and *stotras*. The literary tradition of Śańkarācārya is continued by his disciples and later followers till the time. They have also done the mammoth task of refuting opponents who attacked Śańkarācārya's philosophy in a later time and protected the standpoint of Advaita Vedānta e.g. *Aitareyopaniṣdbhāṣya* is commented by Ānandajñāna, Abhinavanārāyaṇa, Nṛṣimha ācharya, Bālakṛṣṇa Dāsa, Jñānāmṛta

Yati and Viśveśvara Tīrtha. *Daśaślokī* of Śaṅkarācārya has a commentary named *Siddhāntabindu* by Madhusūdana Sarasvati. *Siddhāntabindu* of Madhusundana Sarasvati is further commented by Narāyaṇa Yati (*Laghuṭīkā*), Puruṣottama Sarasvati (*Siddhāntabindu-sandīpana*), Purṇānanda Sarasvati (*Tattva-viveka*), Gauḍa Brahmānanda Sarasvati (*Siddhāntabindu-nyāya-ratnāvali*) and Saccidānanda.

All commentaries on *Upaniṣads* written by Śaṅkarācārya are further commented on by many. *Brahmasūtrabhāṣya* is a prominent text in the Advaita tradition as Śaṅkarācārya has propounded his philosophy by the refutation of opponents. His literary texts are taken forward by his disciples as well as further followers by writing commentaries on them. Commentaries written by these people are further commented and it goes on. This has kept the tradition of Śaṅkara Advaita living till the present day. Not only commentaries but independent works are also composed by many followers of Śaṅkarācārya. These treatises not only clarify Śaṅkarācārya's philosophical standpoint but also re-establish Advaita Vedānta with different means of knowledge.

Brahmasūtrabhāṣya was commentated by Vācaspati Miśra in 900 CE, Ānandajñāna in 1300 CE and Govidānanda in 1400 CE. Subramaṇya has written a verse summary of Śāṅkarabhāsya called Bhāsyārthanyāyamāla. Bhāratī Tīrtha wrote Vaiyāsika-nyāya-māla. There are written summaries of Brahmasūtra-śāṅkarabhāsya like Nyāya-māla and Adhikaraṇa-māla by Vaidyanātha Dikṣita, Devarāma Bhaṭṭa. Many later commentators like Amalānanda (Śāstradarpaṇa), Svayaṃprakāśa (Vedānta-nyāya-bhūṣaṇa) repeated Vācasppati's points given in Bhāmatī (Dasgupta, 2010). Advaitānandabodhendra (1800 CE) has written a commentary on Brahmasūtra - śāṅkarabhāsya known as Brahmavidyābharanam.

Sureśvarācārya (c. 750 CE) composed a treatise called *Naiṣakarmyasiddhi* in which he refutes Mimāmsakas and holds the view that *karmans* are not useful for emancipation. He also reinterprets certain terms like self-realization, *ajñāna* etc.

Padmapādācārya (800 CE) has written *Pañcapādikā* which is a commentary on the first four sūtras of *Brahmasūtra-sānkarabhāsya* and *adhyāsabhāsya*. It is further commented by

Prakāśātman (1200 CE) in his *Pañcapādikā-vivaraṇa*. *Pañcapādikā-vivaraṇa* is further commented on by Akhaṇḍānanda (1350 CE). Nṛṣimhāśrama wrote a commentary called *Pañcapādikā-vivaraṇa-prakāsikā*. It created an independent genre of *vivaraṇa* literature.

Commentary on *Brahmasūtras* named *Bhāmatī* plays a key role in the tradition of Advaita Vedānta. It is commented by many at later time. Amalānanda (1247-1260 CE) wrote a commentary Vedāntakalpataru which has further commentary Vedāntakalpataruparimala by Appaya Diksita. Vedāntakalpataru has another commentary named ābhoga by Laksmīnrsimha written in the later part of 1700 CE and Vedāntakalpatarumañjarī by Vaidyanātha Payagunda. There are commentaries like Bhāmatī-tīkā, Bhāmatīvilāsa, Bhāmatī-vyākhyā. Sarvajñātmamuni has written Sanksepaśārīraka where he describes fundamental problems of Vedānta philosophy as explained by Śańkarācārya. There are a number of commentaries on Sankṣepaśārīraka. To cite few of them are *Tattvabodhinī* by Nṛṣimhāśrama, *Subodhinī* by Purusottama Dikṣita, Vidyamrtavarsinī by Rāghavānanda, Samksepa-sārīraka-sangraha by Madhusūdana Sarasvati. Srīharsa's Khandana-khanda-khādya refutes Nyāya system. Citsukha is a great commentator on Sriharsa's works who minutely analyses terms in Śānkara Vedānta after refutation of Nyāya categories in *Tattvapradīpikā* or *Citsukhī*.

Appaya Dikṣita (1550 CE), a scholar of many branches of philosophy wrote a number of works on Advaita Vedānta. Nearly four hundred works are to his credit. His *Caturmatasārasamgraha* deserves special mention as it portrays a continuous tradition of dialogue and debate between Śāṅkara Vedānta and other schools. The first chapter of this treatise gives a summary of Mādhva Vedānta. The second chapter discusses the views of Rāmānuja, the third chapter gives the views of Srīkaṇṭha and the fourth chapter is the conclusion which gives the views of Śaṅkarācārya. His treatise entitled *Madhvatantramukhamardanam* has refuted the dualist standpoint of philosophy.

Madhusūdana Sarasvati (1600 CE) has immensely contributed to Advaita Vedānta by protecting it from onslaughts of other systems. Among his many works, *Advaitasiddhi* is very important as it refutes Dvaita view presented in Vyāsatīrtha's *Nyāyāmṛta* which contained attacks on Citsukha's standpoint on Advaita. It has three

commentaries namely *Advaita Siddhi Upanyāsa*, *Bṛhat-ṭīkā* and *Laghu Candrikā*. His Advaitaratna-rakṣaṇa deals with the refutation of dualism in order to protect the standpoint of SāṅkaraVedānta.

Different schools arose in Advaita Vedānta which gives testimony to the continuous development of the philosophical system of Śāṅkara Vedānta. Many have written on Advaita Vedānta repeating the same content while some have added philosophically valuable content. In the words of S. Radhakrishnan-

'Many other works on Advaita Vedānta have been written which do not add to the depth and solidity of Śaṅkara's utterances. Sureśvara, Vācaspati, Padmapāda, Śrī Harṣa, Vidyāraṇya, Citsukha, Sarvajñātmamuni, Madhusūdan Sarasvati, Appayya Dikṣita, though they belong to same general type of thinking, has something fresh to say, and reflect some fact of meaning of absolute idealism not seen before with the same intensity. While they employ the same method and expound the same view, they yet manage to maintain their own individualities' (Radhakrishnan, 2012).

Ābhāsavāda, Avacchedavāda, Pratibimbavāda, Dṛṣṭisṛṣtivāda are four streams of thought. Ābhāsavāda was propounded by Sureśvara according to which the entity is real but the appearance is illusory. *Jīva* and *jagat* are mere appearances of Brahman. Vācaspati Miśra accepted Avacchedavāda which says that the individual is delimited by its adjuncts. Pratibimbavada is accepted by Sarvajñātmamuni who says that *bimba* is Lord and *pratibimba* is individual soul. According to Dṛṣṭisṛṣṭivāda world exists for one who sees it. This standpoint is accepted by Prakāśānanda (1600 CE).

Mahamahopadhyaya Vasudevashastri Abhyankar (1907-1970 CE) is a giant of Advaita Vedānta who flourished in Pune, Maharashtra. He has written a commentary Ankura on Sarvadarśana-sangraha. He has translated Brahmasūtra-śānkarabhāṣya in Marathi with extensive notes and summaries of each adhikaraṇas. He has composed the independent text Advaitāmoda which criticizes Rāmānujacārya's standpoint of Viśiṣṭādvaita. While doing so, he has explained many concepts from Advaita Vedānta in very lucid manner. Vasudevashastri very methodically puts viewpoints of Śańkarācārya and Rāmānujacārya.

Refutation of Māyā is done by Rāmānujacārya in his $Sr\bar{\imath}bh\bar{a}$ sya by showing seven logical fallacies. Vasudevashastri has presented criticism on all seven fallacies. Thus, he reaffirmed the principle of $m\bar{a}y\bar{a}$ with proper logical foundation.

Mahamahopadhyaya Anantakṛṣṇashastri has written a text called Śatabhūśaṇī (lit. hundred ornaments) which is a critic on Śatadūśaṇī (hundred faults) written by Vedāntadeśika to refute Absolute Monism. Vedāntadeśika has shown hundred faults of Absolute monism in his treatise. Anantakṛṣṇaśāstrī by refuting all points has converted them into hundred ornaments. Anantakṛṣṇaśāsstrī has vehemently criticised the view of Rāmānujacārya and Vedāntadeśika that Mimāmsā is one śāstra including Karmamīmāmsā and Uttaramīmāmsā. The very first aphorism of Mimāmsāśāstra will cancel the first aphorism of Brahmasūtra known as Uttaramīmāmsā. In that case, Brahmasūtra will be futile, purposeless and inapplicable (Mande, 2013). Anantakṛṣṇaśāstrī has composed other treatises namely Vedāntaparibhāṣā-prakāśa, Advaitamārtaṇḍa, Vedāntarakṣāmaṇi, Śārīrabhāṣyaṭippaṇī and Advaitadīpikā.

Kevalānanda Sarasvati (1900 CE) established *Prājña* paṭhaśālā at Vai in Maharashtra. He translated *Advaitasiddhi* in Marathi and also composed *Advaita Vedāntakośa*. Kāśinathaśāstrī (1900 CE) has written a treatise named *Vedāntaparibhāṣā*. Kṛṣṇānandasarasvati (1900 CE) has composed *Advaitapañcaratnavyākhyā Kiraṇāvali*, *Brahmasūtrakutuhala* and *Śāstrakuṭaprakāṣa*. Mahāmoahopādhyaya Kṛṣṇashastri (1900 CE) has composed *Adhikaraṇacatuṣṭayī*, *Brahmasūtrānuguṇyasiddhi* and *Parimala*. Thus, it can be noted that literary tradition is continuous in case of Advaita Vedānta.

II. Ritual tradition:

Śaṅkarācārya has vehemently criticized *karmakāṇḍa* in his philosophy, particularly in commentaries over *athāto brahmajijñāsā Br. Sū* I.1.1 and *tattu samanvayāt. Br. Sū* I.1.4. He also propounded the theory that *Nirguṇa Brahman* is the only reality. Therefore, it is a general misconception that Advaita Vedānta of Śaṅkarācārya is meant only for intellectuals. It should be marked that Śaṅkarācārya has composed many *stotras* replete with *bhakti* which also eulogize *Saguṇa Brahman*. Similarly, he popularised *Pancāyatana pūja*

among masses which is the combination of *jñāna*, *karma* and *bhakti*. This system of worship is followed by Smārta tradition of Hinduism. It has five deities Śiva, Viṣṇu, Devī or Dūrgā, Sūrya and *Iṣṭa devatā* such as Gaṇeṣa or Skanda set in quincunx pattern. Depending on the tradition, one of these deities is kept in the centre and the other four corners of a square surrounding it. All these idols are representative of *Saguṇa Brahman* which is taken as a step to realize *Nirguṇa Brahman*. Śaṅkarācārya has assimilated Śaiva, Vaiṣṇava, Śākta, Saura, Gāṇapatya cult which also rejuvenated *Pancāyatana* worship. At the time of Śaṅkarācārya, society was getting influenced by heterodox traditions due to internal disputes in Hinduism. With the advent of *Pancāyatana* worship, Hinduism got reunited. *Pancāyatana* worship is still in practise among Smārta people.

III. Matha /Institutional tradition:

Śańkarācārya made the provision that system of Advaita Vedānta should be practising and not theoretical. It is practised through various maṭhas founded by him and some other institutions which sprung later.

1) Daśanāmī Sampradāya:

Śańkarācārya is considered as the founder of Daśanāmī Sampradāya. He brought ekadandī samnyāsins together under the patronage of four mathas. Disciples of Ādi Śaṅkarācārya are also called Daśanāmī samnyāsins as they have to take one of the ten names given in tradition. All Daśanāmi samnyāsins belong to ekadandī tradition. They carry a staff of single wooden stick symbolic of oneness of jīva and Brahman. One who enters saṁnyāsa in the ekadandi tradition has to take up one of the ten names associated with particular sampradāya. Bhāratī, Giri, Puri, Sarasvatī, Tīrtha, Aranya, Aśrama, Parvata, Sāgara and Vana are ten different names associated with particular matha. These ten names are supposed to be distributed among four mathas. Title Svāmī is given to one who enters into Daśanāmī order. Name is uttered as title Svāmī + personal name + sub order name e.g. Svāmī Ananda Tīrtha Abhinavavidyā Tirtha, Svāmī Adbhutānanda Puri or Svāmī Akhandānanda Sarasvati.

Their affiliation to four mathas is nominal because no ordination or residence in a particular matha is necessary for them.

On the contrary, they are supposed to wander everywhere like parivājaka without any fixed residence. In northern India, Daśanāmī samnyāsins are divided among different ākhādās - Niranjani, Juna, Mahanirvani, Ananda, Avahan, Atal and Agni which are extant till today. Except Agni which is only meant for brahmacārī initiates, all others have Daśanāmi samnyāsins as their members. Sankarācārya divided ascetics into two categories - śāstradhārī (those who hold scriptures) and astradhārī (those who hold weapons). Akhādās are training schools in which members get training from gurus. Astradhārī ākhādās were mainly for creating a militant force of Hindus. Originally Nāga sādhus were part of this but now they are just involved in wrestling. Šrī Pañca representing Brahmā, Visnu, Siva, Sakti and Ganeśa works as administrative body of *Akhādās*. This body is elected by Mahants of Mathas. This body is made up at every Kumbha Mela and holds its post for four years. Five elected *Pañcas* have the following hierarchy-

- i) Ācārya Mahāmandaleśvara
- ii) Mahāmandaleśvara
- iii) Mandaleśvara
- iv) Śrī Mahanta
- v) Mahanta

Ākhāḍās are aligned under the lineage of Akhil Bharatiya Akhara Parishad founded in 1954. It is the apex of organization consisting of thirteen ākhāḍās. These are entitled to śāhi snāna at Kumbha Mela as well as Simhastha parva (Gawde, S. 2020 for more information).

2) Amnāya Mathas:

Śaṅkarācārya established maṭhas in four directions of India namely - Śṛṇgerī in south, Badarikāśrama in north, Jagannātha Puri in the west and Dvārakā in the east for the spread of the philosophy propounded by him.

| | East | South | West | North |
|-----------------------|--|---|--|---|
| Name of the Pīṭhaṃ | Govardhana Pīṭhaṃ (Puri, Orissa) | Śṛṅgerī Sarada Pīṭhaṃ (Karnataka) | Dwaraka Pīṭhaṃ (Dwaraka, Gujarat) | Jyotirmaṭha Pīṭhaṃ (Badrikasrama, Uttarakhand) |

| Veda | Ŗgveda | Yajurveda | Sāmaveda | Atharvaveda |
|----------------------------------|--|--|----------------------------------|--|
| Mahāvākya | Prajñānam brahma (Consciousness is Brahman) | Aham brahmāsmi (I am Brahman) | Tattvamasi (That thou art) | Ayamātmā brahma (This ātman is Brahman) |
| Sampradāya | Bhogavala | Bhūrivala | Kitavala | Nandavala |
| Titles of the pontifical seat | Aranya, Vana | All the titles, particularly, Saraswati, Puri, Bharati, Aranya, Tirtha, Giri, Ashrama | Tirtha, Ashrama | Giri, Parvata, Sagara |
| First ācārya of the Pīṭhaṃ | Padmapāda | Sureśvara | Hastāmalaka | Toṭaka |

Each matha is associated with particular Veda and therefore called as $\bar{a}mn\bar{a}ya$ matha. They were headed initially by his direct disciples. Successive heads of these mathas are given the title of Śańkarācārya. The successor of this title is nominated by presiding Śańkarācārya. In case, if there is dispute about the succession then help of other mathas is taken into consideration. These mathas have number of branches all over India and they follow their affiliations to $\bar{a}mn\bar{a}ya$ mathas.

Srngeri:

Śaṅkarācārya established first āmnāya pīṭha in Śṛṅgerī. There is an anecdote regarding why Śaṅkarācārya established maṭha at Śṛṅgerī. He saw an unusual sight at the river Tunga, a serpent had spread its hoods on a frog who was in labour pain to provide a shadow in the mid-day scorching sun. Ācārya found this place very sacred as it generated a love between natural enemies. Beginning with Sureśvarācārya as the first pontiff of this pīṭham, it has got tradition of unbroken *guruparamparā*. In 1400 CE, this pīṭham also received royal patronage from kings of Vijayanagara under the guidance of 12th ācārya, Vidyāraṇya. Ācārya also began to conduct durbar in Navarātri festival which was an occasion for the rulers to revere their Guru.

Goddess Śāradā is the presiding deity of the pīṭham. Pīṭham

is blessed with Śāradāmbā temple with a golden idol of goddess Śāradā. Originally it was a sandalwood idol installed over the Śrī cakra carved by Sankarācārya on rock. Srī Bhāratī Krsna Tīrtha substituted the sandalwood idol with the golden idol. Navarātri festival of eleven days is celebrated every year with Śatacandī homa. Śrngerī pītham is also known for Torana Ganapati. 32nd ācārya of the pītham had a vision of Ganapati while solving some issues related to matha. He offered prayers by offering dūrvā to Ganapati carved on the Torana of the door nearby and the problem was resolved. Henceforth, Ganapati was worshipped as Torana Ganapati. It is customary for pilgrims to first have the darśana of Torana Ganapati before proceeding to the darśana of Śāradāmbā. Temple of Vidyāsankara which was built in 1338 CE receives a special mention here as it becomes a part of life for practising the tradition of Advaitins. It is famous for its unique style of architecture combining Chalukya and Dravidian styles of architecture. This temple is under the care of the Archaeological survey of India due to its architectural marvel. There is linga of Vidyāsankara along with shrines of Brahmā, Visnu and Maheśvara with their consorts.

There is temple dedicated to Lord Viṣṇu in the form of Janārdana i.e. who destroys janma (birth) brought about by avidyā (ignorance). The origin of this temple is traced to Śrī Jñānaghanācārya, the fourth ācārya of the guruparamparā (900 - 1000 CE). There is a Sudarśana cakra of 3ft. diameter placed inside this temple. Sudarśana is etymologised as su darśana means who gives darśana very easily making the devotee's mind tranquil. Prayers are offered to ward off feelings of enmity in us towards our fellow beings and cure psychological problems. Temples of Vagīśvarī, Bālasubramaṇya, Candramaulīśvara also deserve mention as they are part of worship in this pīṭham. Temples are also dedicated to Ādi Śaṅkarācārya and Sureśvarācārya. There are adhiṣṭhānams also known as samādhis of earlier ācāryas. Adhiṣṭhānam is a shrine where the mortal coil of saṁnyāsins is interred and śiva liṅgam is consecrated as per the injunctions of śāstra.

This pīṭham has got hoary *guruśiṣya parmparā*. Tradition gives utmost importance to Guru and grace of Guru. Only that knowledge received from lotus mouth of Guru is potent (Sri Sringeri Sarada Pitham, 2018). Lineage of gurus starts from divine group -

Lord Sadāsiva, Narāyaṇa and Brahmā then-semi divine group of Vasiṣṭha, Śakti, Parāśara, Veda Vyāsa, Śuka, Gauḍapādācārya, Govindapādacārya and then Śaṅkarācārya. Presently it is headed by Śrī Bhāratī Tīrtha and Srī Vidhuśekhara Bhāratī is nominated as a successor.

Govardhana Pīţham

Govardhana maṭha is located in the city Puri of Orissa. Padmapādācārya was the first leader of this maṭha. The maṭha has historical associations with the temple of Jagannātha. It is said that ādi Śaṅkarācārya established the deities Govardhananātha Kṛṣṇa and Ardhanārīsvara Śiva. The maṭha has the spiritual territory of whole eastern province - Bihar, Jharkhand, Chattisagarh, Andhra till Rajmahendri, Orissa, Bengal, Nepal, Bangladesh, Sikkim, Bhutan, Triptura, Mizoram, Uttarpradesh till Prayaga including Gaya and Varanasi. It has *guruparamparā* of a total of 145 Śaṅkarācāryas beginning with Padmapāda till the present Śaṅkarācārya Niścalānanda Sarasvatī.

Samudra āratī is a daily tradition started by present Śaṅkarācārya (Niścalānanda Sarasvatī) in 2008. Daily practice includes prayer and fire offering to the sea at Svargadvāra in Puri. Śaṅkarācārya himself performs grand āratī on every Pauṣa paurṇimā. This āratī is offered to the sea according to Vedic rituals. This has great spiritual significance. The sea is the abode of Lord Viṣṇu. All beings are sustained by water. The vastness of the sea is symbolic of the Divine creator of this infinite universe. This āratī is performed to spread the message of peace and harmony among humanity (Sahu, 2016).

Veda Vidyalaya was established under the auspices of Govardhana maṭha. Govardhana maṭha Sanskrit Mahavidyalaya is an internationally reputed institution. The institute has undertaken some educational experiments to modernize Sanskrit education and thereby to satisfy the cultural needs of the community at large. Other activities of the maṭha include running Sanskrit Vyāyāmaśāla, hospitals and Gośālā (Vaidya, 2008). Vyayamashala trains athletes in various exercises. Many athletes have stood first in various competitions. The hospital provides medical aid for pilgrims of Puri. Cowshed extends services to around fourty cows, not with the

objective of getting milk or milk products. It aims at developing pure Indian breeds of cows.

Govardhana maṭha is actively involved in the publication of philosophical books. 143rd Śaṅkarācārya Bhārat Kṛṣṇa Tirtha (1884-1960 CE) made valuable contributions by giving Vedic mathematics to the world. He first passed the MA examination for the American College of Sciences in Rochester, USA from the Bombay Centre. Swami Niścalānanda Sarasvatī is also a renowned mathematician who has authored over 20 books on the subject.

Maṭha is also involved in social activities through Aditya Vahini (institution of young males) and Ananda Vahini (institution of young females) governed by Pīṭha Pariṣad who has senior citizens as members but governed by Śaṅkarācārya. These institutions render social as well as religious services in about fifteen states of India including remote places. The medical services rendered by Aditya Vahini in Jagannātha Ratha Yātra are applauded by all.

Dvārakā Pitham:

Dvārakā Pīṭham is located in the coastal city of Dwaraka, Guajrat. This is also called as Śāradā Pīṭham or Kālikā maṭham which is located in the premises of Dwaraka temple. It has temple of Śāradāmbā and Candramauliśvara. Maṭha runs an educational society, an arts college and Sanskrit Academy.

Śrī Vikrama Tirtha was the head until 1921 when it was succeeded by Bhāratī Kṛṣṇa Tīrtha. Then Bhāratī Kṛṣṇa Tirtha was invited to lead the Puri maṭha in 1925. Then it was succeeded by Śrī Svarupānanda and Śrī Yogeśvarānanda.

Jyotirmatha Pītham:

Jyotirmaṭha is called as Uttarāmnāya maṭha. This maṭha was inactive for 165 years after the death of Brahmānanda in 1953. There was lot of dispute over the succession for the title Śaṅkarācārya and finally it was resolved by court.

Kāncī matham:

Though tradition believes in the theory of four mathas, there is dispute over Kāncī matham. Kāncī Kāmakoṭi matha claims that Śaṅkarācārya lived in the last few years of his life in this place. Anantānadagiri's biography of Śaṅkarācārya is cited as reference

where it is mentioned that world preceptor (Śaṅkarācārya) desiring to leave for his own abode, sitting once in the Mokṣapurī of Kāncī, absorbed his gross body into the subtle one and getting reduced in the size of a thumb, attained eternal bliss and remains as the all-pervading 'cit' to this day.' They believe that Śaṅkarācārya had occupied the throne of omniscience (Sarvajñānapīṭha) at Kāncī (Kancikamakoti Peeth, 2018). They proclaim that there are five maṭhas instead of four. They cite *Gurusahasranāma* which refers to five pīṭhas - Kamakoṭi maṭha as presided over by Śaṅkarācārya himself and other pīṭhas by his four disciples Padmapāda, Sureśvara, Hastāmalaka and Totaka.

Pīṭha has many branches as well as temples all over India. This pīṭham is active in religious as well as social activities. Renovation of ancient temples is one of the important activities of the pīṭham. Veda Pāṭhaśālās have been established by pīṭham. Apart from that, seventeen Oriental schools, thirty-eight Śāṅkara schools are functioning in different parts of country under the guidance of maṭha. It runs hospitals at different places. Charitable trusts are established for the aid of poor families to enable them to perform marriages of their daughters, homes for the aged and uncured, disabled, handicapped etc. Nitya annadānam (free food) is provided to all devotees visiting Kāncī maṭha. Maṭha also runs gośālās.

3) Institutions preaching Advaita Vedānta:

Institutions were founded by great people inspired by the work of Śaṅkarācārya. They follow the legacy of his work in modern world by making the philosophy all-comprehensive and suitable for present scenario.

Ramkrishna mission and matha:

There are different philosophical schools influenced by Advaita Vedānta. Vivekananda, Chinmayananda preached Advaita Vedānta through new systems which can be called as Neo Vedānta. They have founded independent institutions for propagation of Advaita Vedānta and bringing social change.

Vivekananda propagated that the essence of Hinduism was best expressed in Śańkarācārya's Advaita Vedānta philosophy. He gave new interpretation suitable to modern context where nationalism

was the centre point. Vivekananda considered intellectual side of Advaita Vedānta more suitable for preaching universal religion. He also combined other schools of Vedānta philosophy for harmonising knowledge with action and devotion. Thus, he gave practical Vedānta for modern society.

He established Ramkrishna mission and Ramkrishna matha propounded by Swami Vivekananada for continuity of philosophical tradition of Ramkrishna Pramahansa. Ramkrishna mission is a socioreligious movement which aims at promoting peace, harmony and equality in human beings. Ramkrishna matha is a monastic order meant for *samnyāsins* and *brahmacārins*. It is said that *ātmakoṣa* aspect resulted in the establishment of Ramkrishna maṭha, an organisation catering predominantly to the spiritual needs of monks of the order as well as its votaries. The *jagaddhita* aspect, on the other hand, gave rise to another, a sister organisation, concentrating solely on public service activities (Harshananda. 2018). Though Ramkrishna maṭha and Ramkirshna mission are two separate organisations, they are considered twin organizations. The maṭha and mission have 181 centres all over the world. The headquarters of Ramkrishna matha and mission is situated in Belur and Kolkata.

Ramkrishna matha mainly focuses on spiritual training. It has certain unique features which highlight its modernity in thought. It encompasses people from all kinds of faiths to embrace monastic life. Ramkrishna mission conducts work in health care, disaster relief, rural management, women's welfare, self-employment, interfaith understanding, education as well as culture. It has monks as well as householders as its members. Ramkrishna missions's activities are based on the principle that 'Jīva is Śiva' to suggest that service to humans is service to the divine. The motto of the organisation is 'ātmano mokṣārtham jagadhitāya ca' which means for one's own liberation and the welfare of the world. Three main ideals of these twin organizations are work as worship, potential divinity of the soul and harmony of religions. Their ideal 'service to man is a service to God' sustains a large number of hospitals, dispensaries, mobile medical units, schools, colleges, rural development centres and many other service institutions (Belur Math, 2018). Ramkrishna matha and mission together is a major publisher in India. It works to disseminate the highest and noblest ideas in the form of books,

and CDs to the modern world at very low price. Three main categories of books are published by organizations- 1) Scriptures including *Brahmasūtras, Upaniṣads, Gītā, Prakaraṇa granthas, stotras* etc along with translations in English and many Indian languages. 2) Ramkrishna-Vivekananda Literature- books on Ramkrishna Paramahamsa, books by and on Swami Vivekananda, life and teachings of Sarada devi etc. 3) Books on general topics like value education, philosophy, life, culture, spirituality etc. Organizations also published journals to spread the ideas of practical Vedānta. *Brahmavādin, Prabuddha Bhārat, Vedānta Kesarī, Udbodhan* are some examples of periodicals.

Organizations also continue with some ritual traditions like Dūrga $p\bar{u}j\bar{a}$. Swami Vivekananda started Dūrga $p\bar{u}j\bar{a}$ to gain the acceptance of local community. The Hindu society in Calcutta had not fully accepted Swamiji's going to the West, and the rather unconventional ways of life at Belur Matha which included disregard for caste rules and mixing with Western people. Celebration of Dūrga $p\bar{u}j\bar{a}$ helped to remove much of the misunderstanding and misgivings about the new monastic institution among the local people. Swami Vivekananda also wanted to uplift the status of women in the society. He observed progress of women in the west which became responsible for advancement of their country. Worship of divine mother would create the awareness of the potential divinity of women and respectful attitude towards them (Belur Math, 2018). Since samnyāsins cannot undertake any kind of ritualistic worship, Swamiji decreed that the $p\bar{u}j\bar{a}$ should be done in the name of Holy mother Sarada Devi whom he considered the divine counterpart of Ramakrishna.

It can be said that Ramkrishna mission and matha have carried the practical Vedānta propounded by Ramkrishna and Vivekananda till the times through various activities towards society. They are practising 'applied Advaita Vedānta' to promote peace and harmony in the world. Thus, the mission was never sectarian but all-inclusive due to its assimilative nature and strong philosophical foundation.

Chinmaya mission:

Swami Chinmayananda is credited with bringing about a worldwide Vedantic renaissance in the late 20th century CE through

his introduction of Ādi Śańkarācārya's works and teachings to the masses. Swami Chinmayananda carried jñānayajña i.e. series of lectures on *Upanisads*, *Bhagavadgītā*, Kṛṣṇa's teachings from Bhāgavata, His teachings are based on scriptural authority as well as his own experiences. He created study groups (svādhyāya) to enable discussions and study. It was meant for assimilation, practice and internalisation. Chinmaya mission was established in India in 1953 by devotees of the world-renowned Vedanta teacher and now it is flourished into worldwide organization with various centres, branches and institutes. Chinmaya mission follows the *guruśisya*paramparā and makes available the ageless wisdom of Advaita Vedānta (Chinmaya Mission, 2018). Chinmaya Mission publishes different magazines like Tapovan Prasad, Balvihar, Chinamaya Udghosh, Chinmaya Sandesha. Mission offers Vedānta study forums for all ages, promotes Indian classical art forms and operates numerous social service projects. Mission conducts activities like Bāl vihar, Yuvā Kendra, Devī group (for women), jnāna yajñas consisting of discourses on Vedantic scriptures, Swaranjali-musical wing, Vanaprastha sansthan (senior citizen wing) and Shishu Vihar for toddlers and Setukari as a bridge between Bal Kendra and Yuva Kendra. Chinmaya mission's activities range from spirituality to service of humanity. Vedānta Institutes are meant for spiritual training based on scriptures. They follow the Gurukula style and traditional teaching-learning method. Chinmaya International foundation (CIF) is meant for research in the area of Indology. CIF is located in the maternal birth home of the Adi Śańkarācārya. It has been doing outstanding work in academia like organizing seminars, workshops, preservation of manuscripts publishing an international journal entitled *dhīmahi*. Chinamaya Naada Bindu (CNB) is dedicated to promote Indian arts as gateway to liberation. This is a residential Gurukula for Indian Performing Arts situated in Kolwan near Pune. Chinmaya mission Hospital (CMH) is dedicated to provide quality medical services to all sections of society crossing all language barriers. The Chinmaya Institute of Nursing (CHIN) is a sister institution of the CMH. Chinmaya Mission has many educational institutions in its umbrella. Chinmaya mission also runs number of schools and colleges in different parts of India. Swami Tejomayananda established Chinmaya Vishwavidyapeetha for promoting and disseminating Indian knowledge traditions with its application in the society. The university aims to integrate the best practices of modern pedagogical advances with the beauty of traditional Gurukula model of learning and prepare students to address contemporary challenges, inspiring them to leave a positive impact on the world as confidents and cultured contributors to society (Chinmaya Mission, 2018). It organizes academic activities like seminars, workshops and lecture series. Chinmaya Vishwavidyapeetha envisions spirituality, purity, practicality and innovations as its foundation principles. It confers degrees of graduate and post graduates in traditional subjects like Sanskrit, *Vyākaraṇa*, Advaita Vedānta, *Darśanas*, Indic knowledge traditions and business administrations.

It seems that though Chinmaya Mission was initially started with the purpose scriptural knowledge particularly Advaita Vedānta, it has widened its horizons by the time. Advaita Vedānta is made practical and simple for masses. It also focuses on children and young generations for spiritual development. While doing so, they have not parted with modernity. Attitude of Chinmaya Mission is very much liberal as they have accommodated many undercurrents of Indian traditions. It has turned into Indological movement in recent times rather than being sectarian in any sense.

Conclusion:

Traditions of Advaita Vedānta have survived in modern era with new meaning and philosophy. Śāṅkara Vedānta has continued with new contextual meanings of the period. Literary tradition has flourished through dialogues and debates with other systems of philosophy. Institutional tradition has given a new shift to the Advaita Vedānta of Śaṅkarācārya as they have adopted idol worship, rituals as well as bhakti perspective trying to reach masses. Śaṅkarācārya is also found divinised and worshiped in temples. Maṭhas have entered into social welfare and education. Some maṭhas have also become the part of political controversies.

Indirect traditions like Ramkrishna mission or Chinmaya mission have put more emphasis on the intellectual side, academic excellence and publications related to Advaita Vedānta. They have assimilated many undercurrents and are also working for social cause.

They have proved that spiritual development cannot be separated from social welfare of the people.

Masses have adopted the philosophy of Advaita Vedānta with the recitation of *stotras* in their daily worship. Śāṅkara Vedānta has gained so much popularity that people identify Indian philosophy or Vedānta with Advaita Vedānta.

References:

- 1. Belur Math, 2018 'Durga Puja' retrieved from www.belurmath, org/durga-puja-at-belur-math/
- 2. Belur Math. 2018. 'About us', retrieved from www.belurmath.org/about-us/
- 3. Chinmaya Mission, 2018 'Who we are? retrieved from'<www.chinmaymission.com/who-we-are/the-mission/>
- 4. Chinmaya University, 2018 'Vision Mission' retrieved from www.chinmayauniversity.ac.in/the-vision-mission-2/
- 5. Dasgupta, S. 2010 (1992). *History of Indian Philosophy.* vol.2, Motilal Banarasidass, 81, 82
- 6. Kancikamakoti Peeeth. (2018). 'About Peetham', retrieved from www.kmkoti.org/peeth/aboutpeetham.html>
- 7. Mande, K. 2013. Philosophy of Absolute Monism. In U. C. Vaidya et al. (eds.), *Emerging Trends in Contemporary Sanskrit Literature*, Nag Publishers, 58
- 8. Radhakrishnan, S. 2012 (1940). *Indian Philosophy*, vol.2. Oxford University Press, 420, f.15
- 9. Sahu, Monideepa. (2016). Deccan Herald, 'The great Fire' retrieved from <www.deccanheral.com/content.532849/ fire.html>
- 10. Sri Sirngeri Sarada Pitham. (2018). 'Sri Sri Bharati Tirth Mahasvamiji anugraha bhashanam', retrived from <www.sringeri.net/jagadgurus>
- 11. Swami Harshananda. 2018. *A concise Encyclopaedia of Hinduism*, Vol.3, Ramkrishna Math, p.21
- 12. Vaidya, Dhananjay. (2008) *Poorvamanya Sri Govardhan Muth*, 2008 issues, retrieved from <www.organiser.org>

Digital Conservation and Preservation of Sanskrit Heritage: Bridging the Past and Future

-Dr. Rautmale Anand S.*

ISSN: 0975-1769

Abstract:

The digital era has ushered in a wealth of information, offering quick access to invaluable data for decision-making across industries. However, it also presents threats to the preservation of important knowledge. This research article explores these risks and offers strategies to combat digital loss.

Sanskrit, rich in historical, cultural, and linguistic heritage, faces the peril of extinction due to changing language dynamics and limited access to ancient texts. This research investigates the transformative potential of digital technologies for conserving Sanskrit heritage. We employ digitization methods, create digital libraries, and develop learning resources to safeguard and disseminate this tradition. Challenges like data integrity and standardized metadata are addressed. These initiatives increase accessibility, fostering a renewed interest in Sanskrit among new generations. This digital renaissance bridges tradition and the modern world, ensuring the survival of this cultural and linguistic heritage. Digital preservation of Sanskrit is pivotal in safeguarding a timeless legacy and providing a dynamic platform for global dissemination. Effectively harnessed, it strengthens the connection among the past & future, preserving a vital part of human history.

Key Words: Bridging past and future, Digital library Information explosion, Sanskrit heritage preservation and Sustaining ability.

^{*} Librarian, Central Sanskrit University, Guruvayoor Campus Library, Thrissur -680551

1. Introduction

Advancement in technology leads to an information explosion and the growth of knowledge in every field. Such newly invented information and knowledge need to be stored in a form that can facilitate quick and easy access and use of the same, even from remote locations. The digitalization of such information and knowledge is the only solution for all these storage problems. These features highly enhance the use of digital data and rapidly increase the translation of all forms of paper and print data to digital form.

Sanskrit, often hailed as the "language of the gods," is an ancient linguistic and cultural treasure that has endured for millennia. Its roots trace back to the Vedic period, and it has been a source of inspiration and knowledge for generations. The vast repository of classical texts, religious scriptures, philosophical treatises, and literary masterpieces composed in Sanskrit has shaped the intellectual, spiritual, and artistic landscapes of India and beyond. Yet, in our rapidly evolving digital age, the legacy of Sanskrit is at a crossroads. As the world moves forward, there is a growing need to bridge the chasm between preserving Sanskrit's rich heritage and ensuring its relevance and accessibility for future generations.

This research article is dedicated to exploring the pivotal role of digital conservation and preservation methods in safeguarding Sanskrit's immense cultural and historical significance. The fusion of tradition with technology is not merely a matter of preserving the past; it is a bridge that connects the wisdom of ancient sages with the boundless potential of the future. In the pages that follow, we delve into the methodologies, challenges, and opportunities associated with digital conservation, seeking to demonstrate the transformative impact these techniques have on the survival and accessibility of Sanskrit heritage. Our aim is not only to preserve the past but to bridge it with the future, ensuring that the profound legacy of Sanskrit remains a vibrant and enduring force in our interconnected world.

1.1 Digital Conservation: At the heart of our study lies the concept of "digital conservation." This term encapsulates the use of modern technologies, such as digitization, data archiving, and digital library development, to safeguard and ensure the

longevity of cultural, historical, and linguistic treasures. It signifies a dynamic approach to preserve the past while ensuring its convenience for future generations.

- 1.2 Sanskrit Heritage: "Sanskrit Heritage" encompasses the vast reservoir of knowledge, literature, religious texts, and philosophical teachings associated with the Sanskrit language. It represents a profound cultural and historical heritage that has shaped the intellectual and spiritual landscapes of India and beyond.
- 1.3 Preservation: Preservation, in the context of this research, is the act of protecting and maintaining the integrity of Sanskrit heritage, including its texts, manuscripts, and traditions. It encompasses not only safeguarding these invaluable resources from physical deterioration but also ensuring their continued relevance in an evolving world.

2. Digital Preservation:

Preserving Sanskrit heritage involves protecting and maintaining its texts, manuscripts, and traditions. This goes beyond just preventing physical decay; it is about keeping these valuable resources relevant in a changing world.

Digital preservation, on the other hand, is about managing digital information over time. Unlike traditional preservation methods, preserving digital information requires constant attention because of rapid technological changes. The challenge lies in the ongoing effort, time, and money needed to keep up with these advances. Interestingly, while we can still read texts from thousands of years ago, digital information from just a decade ago is at risk of being lost. This poses a unique challenge in creating a digital link between the past and the future.

3. Objectives

- 1. The current state of Sanskrit heritage preservation.
- 2. Explore digital technologies and systems for conserving Sanskrit texts and artefacts.
- 3. Identify and address tasks in the digital preservation of Sanskrit heritage.

4. Examine the impact of digital conservation efforts on accessibility and research.

- 5. Propose recommendations for enhancing the digital conservation and accessibility of Sanskrit heritage materials.
- 6. To study the status of the manuscripts in the libraries.
- 7. Understanding the method by which these libraries store these manuscripts and how they preserve them.
- 8. Challenges faced while preserving the scripts.

4. Hypotheses:

- 1. Digital conservation methods can effectively safeguard Sanskrit heritage.
- 2. Challenges like data integrity and digital obsolescence are addressed through proactive strategies.
- 3. The fusion of tradition with technology fosters a renewed interest in Sanskrit among new generations.
- 4. Digital preservation standards, including metadata attachment and migration, are crucial for long-term conservation.
- 5. Large-scale digital preservation initiatives contribute to expanding access to scholarly resources.
- 6. The digital renaissance ensures the continuity and relevance of Sanskrit heritage in the ever-evolving digital landscape.
- 7. The study suggests practical strategies, such as regular data migration and continuous monitoring, to overcome challenges in digital preservation.
- 8. Evaluate the sustainability of current preservation practices.

5. Why Active Manuscript Preservation is Necessary

Active preservation is essential to safeguarding valuable cultural and historical assets. It involves on-going efforts to protect, maintain, and ensure accessibility to these assets, preventing their deterioration and loss. Without active preservation, these treasures may become inaccessible or vanish, severing our connection to the past and depriving future generations of their heritage. The following active preservation is necessary:

5.1 Cultural Heritage Conservation : Manuscripts are windows

- into the history, culture, and knowledge of past civilizations. They contain literary, religious, philosophical, and scientific wisdom, which, when preserved, enriches our understanding of human heritage.
- **5.2** Preventing Loss of Knowledge: Manuscripts are often unique or rare sources of knowledge. Without active preservation, this knowledge may be lost due to natural degradation, disasters or neglect.
- **5.3 Scholarly and Academic Significance :** Manuscripts provide critical resources for scholars, researchers and academics. These documents remain essential for studying historical contexts, linguistic evolution and the development of ideas.
- **5.4 Maintaining Cultural Identity:** Preserving manuscripts helps to maintain cultural identities and connections to the past. Manuscripts are vital components of many cultures' storytelling, traditions and practices.
- **5.5 Fostering Global Understanding :** Manuscripts can bridge cultural gaps and promote cross-cultural understanding. They enable customers from different backgrounds to access and appreciate the wisdom and experiences of others.
- **5.6 Preventing Deterioration :** Manuscripts are often fragile, and over time, they deteriorate due to environmental conditions, pests and aging. Active preservation ensures their physical integrity.
- **5.7 Digital Access and Dissemination :** Digitization and preservation efforts make manuscripts accessible to aninternational viewer, breaking down geographical barriers and facilitating dissemination.
- **5.8 Encouraging Research and Education :** Preserved manuscripts provide a wealth of documents for educational institutions, libraries, and researchers, promoting on-going study and investigation in various fields.
- **5.9 Protecting Against Disaster:** Active preservation includes disaster preparedness and recovery strategies. In the event of fires, floods, or other emergencies, preserved manuscripts have a better chance of survival.

5.10 Ensuring Continuity: Active preservation keeps manuscripts relevant and accessible for future generations. It bridges the gap between tradition and the modern world, maintaining their enduring significance.

Active manuscript preservation is not only about safeguarding documents but also about preserving cultural heritage, knowledge, and the links that bind us to our collective past. It is a commitment to cherishing the written word and sharing the wisdom it holds with the world.

6. Physical Deterioration:

The first big challenge for keeping digital things safe is that the way we store them can wear out and lose information faster than old-fashioned paper. You know how old books might turn yellow and get fragile after a long time? Well, that is slow, and we can usually save everything even if it starts to get old. But with digital stuff like photos or documents on a computer, they can get old quickly, and by the time we notice, we might have already lost some data. Unlike old papers where we can see it happening and save everything, digital things wear out fast, giving us a short time to decide how to keep them safe.

7. Digital Obsolescence:

Digital obsolescence happens when the technology and formats we use to store information become outdated, making it hard to access or risking the loss of data. As technology keeps changing quickly, files, software, and hardware can become obsolete. This creates a big challenge for saving digital heritage and knowledge. To deal with digital obsolescence, we need strategies like regularly moving data to newer formats, using software and hardware emulators for old systems, and sticking to open and standardized file formats. If we do not take these steps, important digital assets like historical documents and research could be lost over time.

Digital obsolescence is a big worry in today's world, showing the need to actively work on saving our digital heritage. This highlights the importance of staying alert and adaptable as technology changes fast. The challenge is made worse by the lack of set standards, protocols, and proven methods for saving digital information. In the past, we used to save data on tapes, but tape standards have changed a lot in the last five to ten years, and there is no guarantee tapes will be readable in the future. Edstrom explained that most digital library researchers focus on organizing information, presenting it, and dealing with intellectual property rights, while digital preservation is still experimental and risky due to untested methods. The quick advancement of technology threatens access to digital content broadly, and the lack of digitizing standards makes the issue even more complicated.

Strategies and Solutions:

As per the Online Computer Library Centre technologically advanced a four-point strategy for the long-term preservation of digital objects that consisted of:

- **7.1 Regular Data Migration :** Periodically transfer data and content from out-dated formats to contemporary, more sustainable ones. This approach involves converting files into newer formats to maintain accessibility as technology evolves.
- **7.2 Digital Archiving :** Create digital archives that store content in a well-maintained and standardized manner. Digital archiving ensures the long-term preservation of content and metadata.
- **7.3 Emulation :** Use emulation software to run out-dated software and file formats on modern systems. This allows access to legacy content even when the original software or hardware is obsolete.
- **7.4 Documentation and Metadata :** Comprehensive documentation of digital assets and metadata is essential. This information provides context and instructions for accessing and understanding the data.
- **7.5 Digital Repositories :** Utilize digital repositories and libraries specifically designed for long-term preservation. These repositories often employ best practices in digital archiving and migration.
- **7.6 Continuous Monitoring :** Regularly monitor digital collections for signs of obsolescence or degradation. Proactive maintenance

helps prevent data loss.

7.7 Data Redundancy : Create redundant copies of digital assets and store them in geographically distributed locations to mitigate the risk of data loss due to hardware failures or disasters.

- **7.8 Education and Awareness:** Promote awareness and education about digital preservation best practices among institutions, organizations, and individuals who generate and store digital content.
- **7.9 Legal and Ethical Considerations:** Address legal and ethical considerations related to the preservation and accessibility of digital data, including issues of copyright and privacy.
- **7.10 Resource Allocation :** Allocate resources, including funding and expertise, to support on-going digital preservation efforts.

These strategies and solutions aim to counter the challenges of digital obsolescence and support the long-term preservation of valuable digital assets. It is essential to adapt and implement a combination of these approaches to suit the specific needs and nature of the digital content being preserved.

8. Refreshing

Refreshing the digital conservation and preservation of Sanskrit heritage is an imperative task in bridging the past with the future. The profound historical, cultural, and linguistic richness contained within Sanskrit texts and artefacts necessitates a rejuvenation of preservation efforts. This endeavour involves embracing advanced digital technologies, updating metadata standards, and assessing risks to safeguard this invaluable heritage. By revitalizing these conservation practices, we ensure that Sanskrit heritage remains accessible, intact, and perpetually relevant. This revive breathes new life into an age-old legacy, allowing it to flourish in this digital period and continue to inspire generations to come.

9. Migration

Migration in the context of digital conservation and the preservation of Sanskrit heritage is a crucial strategy for ensuring the longevity of this rich cultural legacy. It involves transferring digital assets to more sustainable formats, storage systems, or platforms to

mitigate the risks of format obsolescence and technological changes. By carefully planning and executing migration processes, we can bridge the past with the future, making sure that Sanskrit texts and remain accessible and unaltered in the ever-evolving digital landscape. This meticulous approach to migration plays a pivotal role in preserving the integrity of Sanskrit heritage for generations to come.

10. Replication

Copying and safeguarding Sanskrit heritage in the digital world is crucial, and one way to do this is through replication. Replication means making extra copies of digital stuff to make sure they are safe and will not disappear. This helps protect against unexpected events or disasters. When we replicate important Sanskrit texts, we make sure they stay around for a long time and that people can still read them in the future. Think of it like making copies of your favourite book so that even if something happens to one copy, you still have others. Without replication, if something goes wrong with the computer or the place where the digital stuff is stored, we might lose it forever. Making duplicate copies and storing them in different places is like having a backup plan to keep our digital treasures safe from accidents or disasters like fires or floods.

11. Metadata attachment

Metadata attachment is a fundamental aspect of the digital preservation of Sanskrit heritage, serving as the bridge between the past and the future. By meticulously attaching descriptive metadata to digital assets, we provide essential context and information about these cultural and linguistic treasures. This metadata not only enhances discoverability but also ensures the integrity and authenticity of Sanskrit. It is a vital step in safeguarding the invaluable knowledge and heritage they contain, making them readily accessible to scholars, students, and enthusiasts worldwide while preserving the legacy for future generations.

12. Digital Sustainability

Digital sustainability is about making sure digital information lasts for a long time. Unlike short-term fixes or permanent solutions, it is more of an ongoing effort. Instead of just focusing on specific

solutions or technologies, digital sustainability is more about creating a flexible system. This involves building a structure and approach that can adapt, emphasizing the ability for different things to work together, keeping things well-maintained, and always improving. In simpler terms, digital sustainability is like taking care of digital information now so that it stays accessible and available in the future. It is about being smart and adaptable in how we handle digital stuff to make sure it does not become outdated or lost over time.

13. Digital Preservation Standards

In 2006, the Council on Library and Information Resources (CLIR) brought together audio experts to talk about the best ways to save old sound recordings. They came up with a report in March 2006 that investigated how to change old-style sound (analogy) into a digital form. The report shared ideas and suggestions for the best practices to keep digital versions safe. In this meeting, experts gave 16 suggestions to make transferring analogy audio for archiving better. Now, just like how it is important to have rules for saving sound recordings, it is also crucial to create rules for keeping digital versions of manuscripts safe. This will help make sure we can protect these important historical and cultural documents for a long time. Here is a guide on how to make these rules specifically for manuscripts recommendations are:

13.1 Scope and Objectives:

- Clearly define the choice of your digital conservation for manuscripts, including the types of manuscripts, historical periods and cultural contexts.
- Specify the objectives, such as ensuring the accessibility, authenticity and integrity of digitized manuscripts.

13.2 Review existing standards:

- Familiarize yourself with existing digital preservation standards, including those for textual materials, archives, and cultural heritage.
- Identify relevant elements and best practices that can be adapted for manuscript preservation.

13.3 Stakeholder Engagement:

- Involve manuscript curators, archivists, librarians, historians and educational tradition experts in the growth of standards.
- Collaborate with institutions and organizations experienced in manuscript digitization and preservation.

13.4 Metadata Schema:

 Develop a metadata schema specific to manuscript preservation, which includes information about the manuscript's origin, provenance, content, physical characteristics and digitization process.

13.5 Image Resolution and Quality:

- Define image resolution and quality standards to balance readability with storage space requirements.
- Consider including guidelines for capturing color and monochrome images.

13.6 Metadata for Language and Script:

- Incorporate metadata elements for the manuscript's language and script to aid search and retrieval.
- Include character encoding standards to represent non-Latin scripts accurately.

13.7 Storage and Backup Strategies:

- Determine storage requirements, such as the use of preservation-quality media and redundant storage systems.
- Develop backup and disaster recovery procedures to mitigate data loss risks.

13.8 File Fixity and Validation:

- Establish procedures for checksums and file fixity checks to verify data integrity.
- Define validation processes to ensure the authenticity and completeness of digitized manuscripts.

13.9 Access and Usage Policies:

• Develop policies for controlled access to digitized manuscripts, considering copyright and cultural sensitivities.

• Address digital rights management and access restrictions, if applicable.

13.10 Migration and Refreshment Plan:

- Define strategies for migrating digital content to new formats as technology evolves.
- Specify the frequency and process for refreshing digital copies to prevent data degradation.

13.11 Documentation and Preservation Logs:

- Create comprehensive documentation of digitization processes and preservation activities.
- Implement preservation logs to track changes and actions taken over time.

13.12 Training and capacity building:

- Provide guidelines for training staff in digitization and preservation practices.
- Promote capacity building to ensure that personnel are equipped with the necessary skills.

13.13 Testing and validation:

• Test the preservation standards on a sample set of digitized manuscripts to ensure their effectiveness and reliability.

13.14 Publication and Dissemination:

- Publish the preservation standards as accessible documents for internal and external use.
- Share these standards within the cultural heritage and scholarly communities for reference.

13.15 Feedback Mechanisms:

 Develop instruments for receiving feedback from users, scholars, and organizations to improve and refine the standards over time. Creating digital preservation standards for manuscripts is an on-going process that demands collaboration, adaptability and continuous improvement to safeguard the long-term conservation of these invaluable historical things.

14. Examples of Digital conservation Creativities

- D-Space is open-source software that is available to anyone who has access to the World Wide Web.
- D-Space takes data in multiple formats (text, video, audio or data), distributes it over the web, indexes the data (for easy retrieval) and preserves the data over time.
- The British Library is responsible for several programs around digital preservation. The National Archives of the United Kingdom have also pioneered various initiatives in the field of digital preservation. Both use the Safety Deposit Box software from Tessella.

15. Large-scale Digital Preservation Initiatives (ISDIS)

Lots of research libraries and archives are starting or planning big projects to preserve digital information on a large scale. The key players in these efforts are cultural institutions, big companies like Google and Microsoft, and non-profit groups such as the Open Content Alliance (OCA), the Million Book Project (MBP), and Hathi Trust. The main goal for these groups is to make scholarly resources more accessible to people.

Result & Discussion:

This research underscores the critical role of digital conservation in preserving Sanskrit heritage. Through digitization, digital libraries, and learning resources, the study addresses challenges like data integrity. These initiatives enhance accessibility, renew interest in Sanskrit, and bridge tradition with the modern world. The dynamic approach ensures the survival and global dissemination of this cultural and linguistic legacy.

Conclusion

"Digital Conservation and Preservation of Sanskrit Heritage: Bridging the Past and Future" emphasizes the urgent need to employ

digital technologies in safeguarding and revitalizing the precious cultural and linguistic heritage of Sanskrit. This profound language, replete with historical and philosophical significance, is on the precipice of obscurity.

Our research showcases the transformative power of digital preservation, employing advanced techniques like digitization, digital libraries, and online resources to enhance global access to Sanskrit texts and artifacts. Despite challenges such as metadata standardization and data integrity, our mission is to construct a bridge spanning from the past to the future. This digital renaissance provides a fresh opportunity for Sanskrit heritage to inspire, educate, and continue shaping the cultural and linguistic fabric of the modern world.

Through preservation practices and embracing the digital age, we are not merely conserving the past; we are ensuring the lasting relevance and accessibility of Sanskrit heritage for upcoming time. The preservation of Sanskrit heritage transcends academics; the situation is a testament to an enduring cultural and linguistic legacy that enriches our global heritage. Through collective efforts, it will thrive, bridging the past with the future.

References:

- 1. Archaeological Survey of India, Government of India, http://asi.nic.in/asi_aboutus.asp
- 2. Bhattacharyya, B. "Palm Leaf Manuscripts and other Preservation", Indian Archives
- 3. Edstrom, M. Digital conservation: a time bomb for digital libraries.
- 4. Flagstad, Myron (2007). Website Archiving: the Long-Term Preservation of Local Born Digital Resources.
- 5. Harinarayana, N., and Jeyaraj, V., (Ed.), Care of Museum Manuscripts, Published by the Commissioner of Museums, Government Museum, Madras, June, 1995.
- 6. India, Department of Culture: National Mission for Manuscript, Project Document, 2002, 36p.

- 7. Irene Buckle, "Bleaching Paper in Conservation: Decision-Making Parameters," Restaurateur 30, no. 4 (2009): 323.
- 8. Jean Ann Croft, "The Preservation Evolution: A Review of Preservation Literature, 1999-2001," Library Resources & Technical Services 47, no. 2 (2003): 59
- 9. Kathleen Arthurs et al., Recognizing Digitization as a Pressevasion Reformatting Method (Washington, D.C.: ARL, 2004), 19 (2011).
- 10. Kumar, S., & Shah, L., Digital preservation of manuscripts: A case study. In 2nd Convention Planner-2004, Impala, 2004, 27-28.
- 11. Lorie, Raymond A. (2001). "Long Term Preservation of Digital Information".
- 12. National Mission for Manuscripts" Government of India website.
- 13. Nicholson Baker, Double Fold: Libraries and the Assault on Paper (New York: Random House, 2001).
- 14. Psohlavec, S: "Digitization of old manuscripts" http://digit.nkp.cz/stp.htm 29/11/2003).
- 15. Vaishnav.A, and Sonwane, S.S. "Information requirement for digitization of manuscript at BAMUL" http://www.irinflibnet.ac.in.
- 16. website: Library of Congress "digital preservation"
- 17. Website: Wikipedia, "digital libraries"
- 18. https://www.tandfonline.com/doi/abs/10.1080/01960075. 2011.570199.



Melodic Maternity: Exploring Gayatri Mantra's Influence in Garbha Samvad

- Dr Bhairavi Dixit*

ISSN: 0975-1769

Abstract:

This research paper explores the profound relationship between the verses of the Gayatri Mantra and the nurturing practice of Garbha Samvad during pregnancy. Termed "Melodic Maternity," this exploration seeks to delve into the profoundness and significance of the Gayatri Mantra in the context of prenatal care and the bond between mother and fetus.

The study encompasses a thorough analysis of ancient Sanskrit scriptures, linguistic examination, and modern medical perspectives. It seeks to analyze the linguistic, spiritual and cultural aspects of the Gayatri Mantra in relation to Garbha Samvad exploring its individual verses and their potential impact on the prenatal environment and maternal welfare.

Furthermore, this study seeks to delve into the psychological and emotional effects of the rhythmic resonance of the Gayatri Mantra. It aims to explore the impact of this connection on the emotional well-being of expectant mothers and the overall health of the developing fetus.

This study seeks to delve into the significant impacts of merging ancient wisdom with modern scientific investigation. Through an exploration of the potential benefits of Garbha Samvad and the profound resonance of the Gayatri Mantra, we aim to gain valuable insights into their overall impact on well-being. This work seeks to establish a connection between ancient spiritual practices and modern maternal care, creating opportunities to integrate these practices into prenatal healthcare. It prioritizes the health and

^{*} Assistant Professor (Sanskrit), Children's University, Gandhinagar.

happiness of both the mother and the unborn child.

As we embark on the journey of "Melodic Maternity," this research aims to investigate the melodies of the Gayatri Mantra and their influence on fostering a nurturing and harmonious prenatal environment through the practice of Garbha Samvad. This sets the stage for a comprehensive approach to maternal and fetal health.

I would like to express my appreciation to ICSSR, New Delhi, for providing me with the chance to work on my Minor Research Project, *Impact of Sanskrit Literature as Garbha Samvad: Socio-Cultural Analysis.* A component of my project is this research paper.

Keywords: Gayatri Mantra, Garbha Samvad, Maternal-fetal bonding, Maternal welfare, Embryonic maturation, Transcendental harmony, Psycho-emotional effects, Ancient wisdom

Introduction:

Exploring the profound bond that exists between a mother and her unborn child holds great significance. Exploring the profound depths of prenatal communication and delving into the intricate dynamics of fostering the holistic development of the unborn child are paramount considerations that demand our attention during the sacred journey of pregnancy. The Sanskrit shloka holds within it the power to unveil a deep sense of euphoria. Through the profound act of singing a shloka, a pregnant woman is able to tap into a deep sense of joy and connection, as if she is engaging in a direct conversation with the divine essence residing within her womb.

Within the realm of motherhood, an ethereal connection emerges between age-old spiritual knowledge and the nurturing of life before birth. This profound bond is beautifully expressed through the sacred verses of the Gayatri Mantra and the practice of Garbha Samvad. This research delves into the profound connections between the evocative resonance of the Gayatri Mantra and its role within Garbha Samvad during the transformative phase of pregnancy. It explores the intricate nuances of this relationship, shedding light on the profound impact it has on the journey of motherhood.

The presence of pleasant emotions such as love, joy, thankfulness and healthy thoughts in a parent can contribute to the development of the unborn child in the mother's womb. While

negative thoughts, despair and stress can harm the developing fetus. (Nikam -2023) Therefore, it is crucial to instill the notion of Sanskar (positive thinking) starting from the prenatal stage, which refers to the period when the fetus is in the mother's womb. Research has shown that the mother's actions during pregnancy, such as praying, maintaining positive thoughts, engaging in positive emotions, talking to the fetus, or expressing feelings through touch, are not only perceived by the unborn baby but also have beneficial impacts on their physical and mental well-being.

There is a substantial amount of research (Kinsella & Catherine-2009) that supports the idea that prenatal environmental exposures, such as changes in the mother's psychological state during pregnancy, can have long-lasting effects on an individual's health and well-being throughout their life. Prenatal environmental exposures -- including maternal psychological state-based alterations in *in utero* physiology -- can have sustained effects across the lifespan.

The Gayatri Mantra, a timeless Sanskrit hymn of immense significance in Hindu scriptures, has traversed through the ages as a conduit of spiritual enlightenment and cosmic resonance. The melodic cadence of its syllables, imbued with profound significance, reverberates across the ages. Within the realm of Garbha Samvad, these poetic verses assume a transcendent purpose in the sacred voyage of motherhood.

The Gayatri Mantra, an integral component of Hindu ceremonies, has its roots in ancient Vedic customs and holds profound spiritual significance. By reciting this ancient mantra, followers establish a connection with heavenly forces, leading to personal growth and a deep sense of unity with all beings. The prayer is valued for its ageless wisdom and global appeal, which allows it to transcend religious barriers. Adopting the fundamental meaning of the Gayatri Mantra enhances an individual's spiritual quest, imparting deep wisdom and sacred benefits to nurture the inner self. Ultimately, the Gayatri Mantra has a pivotal position in Hindu ceremonies, providing a deep and enlightening spiritual encounter for those who adopt its principles. (Tiwari-2023)

Garbha Samvada profoundly explores into the depths of human

connection and delves into the ancient wisdom of Vedic traditions. It sheds light on the profound significance of engaging in heartfelt communication with the unborn child, a practice that transcends time and space. It explores the notion that the environment in which a fetus develops, encompassing both the physical and spiritual aspects, exerts a profound influence. The convergence of Garbha Samvad and the melodious verses of the Gayatri Mantra gives rise to a profound exchange between the mother-to-be and her unborn child, nurturing a bond that is said to transcend the limitations of language.

This study aims to explore the profound depths of this sacred conversation, examining the subtle intricacies of language, the spiritual echoes it carries, and the potential effects it may have on the prenatal environment and the well-being of mothers. This study delves into the depths of ancient scriptures, linguistic studies, and contemporary medical perspectives to unravel the profound impact of the Gayatri Mantra on the practice of Garbha Samvad. Through a meticulous analysis, it seeks to illuminate the intricate connections between these elements.

A secondary objective of this study is to bridge the gap between age-old spiritual practices and contemporary maternity care, potentially providing valuable perspectives on comprehensive approaches to the well-being of both mother and fetus. Delving into the depths of "Melodic Maternity," this study aims to reveal the intricate interplay between the profound melodies of the Gayatri Mantra and the nurturing essence of Garbha Samvad. Through this exploration, it seeks to shed light on pathways that can lead to a more holistic and spiritually enriched approach to maternal care.

The Gayatri Mantra remains relevant in contemporary times, resonating with those who are searching for comfort, enlightenment, and a profound spiritual bond. The global message of this work surpasses cultural and theological limitations, providing comfort to anyone grappling with the intricacies of modern existence. (Mukherjee-2023) With the passage of time, the appeal of this phrase as a symbol of hope and enlightenment has only increased.

In today's world, the Gayatri Mantra still holds a profound significance for those who yearn for inner peace, profound insights,

and a profound bond with the spiritual realm. (Mukherjee-2023) The profound insights of Garbha Samvad extend far beyond the confines of any particular culture or religion, providing a comforting refuge for individuals grappling with the intricacies of modern existence. With the passage of time, the allure of this mantra has only deepened, becoming a symbol of hope and enlightenment.

Gayatri Mantra:

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो। देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात॥

"Om Bhur Bhuvah Svah Tat Savitur Varenyam Bhargo Devasya Dhimahi Dhiyo Yo Nah Prachodayat"

Through an exploration of the Gayatri Mantra, we delve into the profound concept of Garbha Samvad. Each word of the Gayatri Mantra carries a unique message, guiding us towards the path of becoming enlightened individuals. May the inherent wisdom within us illuminate our intellectual endeavors, propelling us towards a profound comprehension of the intricacies of existence.

Meaning of Gayatri Mantra:

The Gayatri Mantra is a highly renowned and ancient Vedic mantra found in the Rigveda, an esteemed literature originating from the oldest period of Hinduism. The chant is specifically aimed toward the Sun God, Savitr, and is widely recognized as a very holy invocation with significant spiritual potency.

The Gayatri Mantra is a highly significant prayer that aims to enlighten the mind and guide individuals towards the path of moral uprightness and truth. This analysis explores the deep essence of the luminous Sun, both its tangible form and its symbolic significance as a catalyst for personal enlightenment.

Each Element of the Mantra holds profound significance:

The word Om carries immense significance as it represents the fundamental essence of ultimate reality or awareness.

The word *Bhur Bhuvah Svah* embraces the many realms of existence, which include the terrestrial, celestial, and transcendental aspects.

The lyric *Tat Savitur Varenyam* glorifies the divine brilliance of the Sun God, depicting it as worthy of veneration.

The phrase *Bhargo Devasya Dhimahi* functions as an entreaty to meditate on the divine deity's ineffable luminosity and attributes.

The phrase *Dhiyo Yo Nah Prachodayat* is intended to excite and guide the mind towards moral righteousness.

The mantra serves as a meditative reflection on the celestial radiance of the Sun, as one embarks on a quest for enlightenment, sagacity, and direction. It is widely acknowledged that the practice is capable of inducing profound spiritual and transformative experiences in the individual, resulting in the purification of the mind and the potential for spiritual enlightenment.

Gayatri Mantra and its meaning as Garbha Samvad-(Communication with the fetus)

In a profound exploration, one can observe that much like the concept of God embodying various aspects of existence such as life, sorrow, happiness and divine illumination, my unborn child, being intricately connected to this Supreme Being, also possesses similar qualities. It is akin to the Supreme Being, encompassing life, pain, joy, the purest illumination and the divine essence.

Alternatively, if we consider the profound implications of each word in the Gayatri Mantra, we can unlock a transformative message that has the potential to elevate human existence to new heights of virtue and greatness. By embracing the teachings encapsulated within each word, we can transcend mere humanity and strive towards becoming truly exceptional individuals. Furthermore, if we impart this invaluable wisdom to the child in the womb, their life will undoubtedly be enriched with a profound sense of virtue and humanity.

Every Phrase of Gaytri Mantra functions as the best Garbha Samvad: (As an excellent means of communication with the divine):

By undertaking a comprehensive analysis of the Gayatri Mantra, we embark on a profound exploration of the concept of Garbha Samvad. Through a meticulous examination of every word

within the Gayatri Mantra, we are able to reveal the profound and enlightening message it encapsulates, leading individuals on a path towards personal growth and the attainment of greatness.

1. Om (3\dd{s})

The initial word of the *Om* Gayatri Mantra conveys the profound notion that divinity permeates every living being, urging us to engage in altruistic and devoted actions towards all. The profound message conveyed through the supernatural essence of Om in the Gayatri Mantra serves as a reminder of the Nishkam Karmayoga philosophy expounded in the Shrimad Bhagavad Gita. It imparts the wisdom of working selflessly and wholeheartedly for the divine, regardless of the nature of the task at hand.

In contemplating the essence of existence, one cannot overlook the profound revelation that the physical form is merely a transitory vessel, devoid of eternal permanence. It is imperative, therefore, to refrain from excessive attachment to this mortal coil and instead embark upon a path of self-assurance. For the purpose of human birth extends far beyond the pursuit of fleeting pleasures and material contentment. Rather, it beckons us to awaken our innermost being by traversing the path that leads to spiritual advancement, transcending the realm of mere enjoyment and material gratification. Indeed, the ultimate aim of human existence lies in the attainment of spiritual progress and the realization of the divine.

The activation of the vagus nerve has been scientifically linked to the vibrations produced by the sound "Om". The functioning of the parasympathetic nervous system is intricately intertwined with the vagus nerve, which plays a crucial role in inducing relaxation and alleviating tension. The impact of maternal stress and anxiety on the intrauterine environment and the developing fetus is a matter of great concern. Reciting the sacred syllable "35" during the Garbha Samvad ritual has been found to potentially alleviate maternal stress through the stimulation of the vagus nerve. The activation of certain processes within the body has the potential to generate neurotransmitters that promote a sense of calmness, while simultaneously reducing the presence of stress-inducing chemicals such as cortisol. By examining the intricate interplay between

maternal hormones and biochemical signals transmitted through the placenta, it becomes evident that mitigating maternal stress and anxiety can potentially yield positive outcomes for the developing fetus. An environment of tranquility within the womb can potentially contribute to the optimal growth of the fetus, encompassing aspects such as the regulation of stress responses and the nurturing of emotional development. Reciting the sacred syllable "ॐ" in the Garbha Samvad practice has been observed to have a calming effect on the expectant mother, fostering a serene environment that can positively influence the well-being of the developing fetus. Reciting this sacred utterance has the potential to generate favorable vibrations within the womb, thereby establishing a serene and tranquil atmosphere that bestows advantages upon both the mother and the child during the course of pregnancy.

2. Bhu (भ:)

In a manner reminiscent of a philosophical research paper, the word $bh\bar{u}hu$ carries a profound and unique message. Life is not just a mere vessel, but rather a transient entity that is bound to perish. Therefore, instead of becoming overly attached to the body, one should strive to enhance their spiritual strength and follow the path of righteousness. Human existence is not solely meant for indulging in material pleasures and physical comforts, but rather to transcend them and become devoted to the divine. It is through the pursuit of this noble path that life can be illuminated, as the ultimate purpose of human life lies in spiritual growth and attaining union with the divine. When these messages are heard even in the womb, life becomes essential in carrying out one's duties and progressing on the spiritual path, ultimately leading to enlightenment.

3. Bhuvah (भ्वः)

The concept of Bhuvaḥ revolves around the idea that individuals who persistently resist societal influences can achieve a state of divinity. This suggests that human existence serves a greater purpose beyond the ordinary, namely the pursuit of universal wellbeing and the realization of a higher power. In a world consumed by materialism, individuals who strive to remain perpetually awake and cultivate virtuous qualities engage in a relentless battle against

the pervasive influence of societal conditioning. Through this ongoing struggle, they endeavor to enrich their lives with noble attributes and ultimately attain a state of divinity. The essence of human existence lies in the pursuit of self-improvement and the cultivation of positive qualities. From the earliest stages of life, even before birth, individuals are exposed to the importance of breaking free from societal conditioning and embracing virtuous qualities. Education plays a crucial role in shaping individuals into exemplary human beings, starting from the very beginning of life and continuing throughout their journey towards greatness. The profound significance of this message endures throughout an individual's existence, resonating until their final breath.

4. Swah (स्व:)

The basic idea of *Swah* is to encourage individuals to cultivate self-restraint and renunciation by seeking truth through introspection and intellectual discernment. In the Vedas, truth is equated with God, emphasizing the importance of developing a conscientious understanding of oneself and the divine. This conscientiousness is the key to acquiring a sound intellect, which not only benefits personal growth but also contributes to the well-being of society and others. By earnestly pursuing knowledge of the truth or the Supreme Being, one naturally embodies virtues such as self-discipline and renunciation. Let us delve into the profound exploration of an individual who has chosen the path of discipline and renunciation, not only for their own sake but also to ignite a spark of inspiration in those who surround them, urging them to lead a life of virtue and selflessness. With their profound insights, they inspire others to pursue greatness, knowledge, and enlightenment. Through the profound practice of Garbha Samvad, a mother's communication with her child transcends mere words and reaches the realm of profound truth. This sacred connection nurtures the child's innate wisdom, instilling in them a deep understanding of the world and a selfless spirit of renunciation. As the child grows, they become a beacon of noble virtues, radiating their wisdom and teachings to all those fortunate enough to be in their presence. Their ultimate objective revolves around the betterment of society and the world, as they embody the divine essence of the gods.

5. Tat (तत्)

The message conveyed here is that it represents someone who possesses deep intellectual understanding of the enigmas surrounding existence and mortality, and leads a life free from apprehension and clinging. This message delves into profound concepts, exploring the depths of existence and the quest for eternal life and enlightenment. In the Bhagavad Gita, Lord Krishna beautifully expounds on the eternal nature of the soul and the profound significance of attaining knowledge of Brahman. His teachings shed light on the ultimate purpose of life. Understanding the mysteries of life and death is a profound pursuit, as demonstrated in the dialogue between Yama and Nachiketa in the Katha Upanishad. In this ancient text, the sages of India shared their wisdom on these profound subjects, offering a deep understanding. Human beings are able to free themselves from fear and attachment through the knowledge they gain about this enigma. By immersing themselves in the Gayatri mantra, infused with deep and profound understanding, they are able to attain the precious elixir of innocent spiritual wisdom within. The profound understanding that one gains in the womb is a testament to the profound spiritual imprints and merits from their past life. Such an individual is bound to lead a life aligned with this ideal, carrying out every action with utmost excellence, devoid of any attachment to outcomes, and thus transcending desires and fears in this world.

6. Savitur (सवितुः)

In contemplating the teachings of *Savitu*, one is compelled to reflect upon the profound notion that humans ought to aspire to radiate with the brilliance akin to that of the sun. This entails not only recognizing the divine as the epitome of supreme illumination and vitality, but also acknowledging the inherent divine essence that resides within each and every human being. Thus, it is essential for individuals to strive for brilliance and vitality, harnessing their talents and capabilities to uplift not only their own nation but also the global community. By tackling the challenges faced by humanity and illuminating the shadows of suffering with the radiance of joy, individuals can make a profound impact on the world. Let us strive to embody the brilliance of our virtues, illuminating society and

purging it of its flaws and vices. Through the power of our virtues, we can foster both immediate and enduring social welfare, contributing to the well-being of our global community. These profound insights are truly captivating! When a mother recites the Gayatri mantra with a profound spiritual connection, and engages in a heartfelt dialogue with her unborn child, a beautiful bond is formed between the mother and the child in the womb, creating a sacred and transcendent experience. It shines brightly and illuminates the lives of those around it, banishing shadows and guiding towards enlightenment. The purpose of this task is not ordinary, but rather extraordinary and divinely ordained, bestowed upon us by a higher power and brought to this earthly realm. Understanding the profound impact of early teachings on a child's development is truly remarkable. Research shows that a significant portion of a child's growth takes place during the time spent in the mother's womb. This highlights the importance of providing nurturing and positive influences even before birth.

7. Vareņya ü (वरेण्यम्)

The essence of the term *Varenyam* is to consistently pursue excellence, to perceive the inherent goodness in all beings and things, and to consistently cultivate positive thoughts and actions. This message exudes a sense of positivity and serves as a wellspring of uplifting energy. Recognizing the inherent beauty within ourselves and appreciating the best in our surroundings and environment allows us to truly appreciate excellence in everything around us. Through a relentless quest for perfection, it is imperative that we endeavor to transcend our thoughts and ideals to their utmost potential. As mere mortals, we are bestowed with the potential to transcend our ordinary nature and strive for greatness, for we are the pinnacle of divine creation. Let us transcend the mundane and embrace a profound perspective, delving into the depths of existence. Our purpose is to elevate every facet of life, striving to create a more harmonious world through our unwavering commitment to perfection. In this endeavor, we can draw inspiration from the divine essence of Lord Krishna, whose very essence radiates with an aura of serenity and grace. Let us delve into the depths of profound contemplation and research, exploring the vastness of our existence and the divine

nature within us. May we embrace the wisdom of the Gayatri mantra, just as an unborn child in the womb absorbs its teachings, aspiring to embody them throughout their life. May we become lifelong seekers, devoted worshippers and masters of excellence, dedicated to the noble task of improving the world, a task that only a truly remarkable individual can achieve.

8. Bhargah (भर्गः)

The concept of *Bhargah* delves into the profound significance of upholding innocence and steering clear of transgressions in the realm of human existence. It emphasizes the importance of individuals nurturing virtuous qualities and being mindful of their actions, so as to avoid any wrongdoing. An exploration into the essence of human existence reveals a vision of a life adorned with purity, kindness and a deliberate shield against the intrusion of detrimental forces. It is the pinnacle aspiration of living a virtuous existence.

9. Devasya (देवस्य)

The essence of *Devasya*'s philosophy lies in cultivating a pure and fair perspective, intricately woven with the embodiment of selflessness in all our pursuits. Through a profound exploration of the human mind, we unlock the potential to unveil a realm beyond our immediate perception, one that extends beyond our individual selves and permeates the very fabric of our existence. This requires a detached and impartial approach towards every individual, ensuring fairness and impartiality, while providing assistance to others without any ulterior motives. Individuals who consistently dedicate themselves to acts of selflessness and explore the depths of spiritual pursuits are regarded as having achieved a state of transcendence, irrespective of their inherent humanity. It is of utmost importance to adopt a way of life centered on acts of altruism and the quest for spiritual awakening, all the while acknowledging the inherent sacredness within ourselves and fellow beings. The profound insights contained within this remarkable composition, "Vaishnav Jan To," are eloquently expressed by the revered poet narasimha Mehta. By delving into the depths of this topic, we can unlock the vast possibilities of shaping the destiny of our future generations. Through

deep reflection on the profound significance of our thoughts and actions during pregnancy, we possess the ability to imbue the child with a profound and sacred bond, instilling within them the very essence of the divine. The profound connection between individuals and their surroundings has a transformative impact on their lives, influencing their thoughts, actions, and the manifestation of higher virtues.

10. Dhimahi (धीमहि)

The notion of Dhimhi serves as a poignant reminder that genuine human contentment is attained by wholeheartedly embracing the myriad of sacred energies and emotions that permeate our existence. Through an exploration of the profound realms of supernatural forces and the depths of human emotions, we are able to embark on a transformative journey towards purifying our hearts and nurturing the growth of auspicious thoughts and sacred wisdom.

11. Dhiyo (धियो)

Similarly, the word Dhiyo conveys the idea that a wise individual consistently makes decisions by considering reason, conscience and justice, taking into account the present circumstances. Furthermore, the mother communicates to her unborn child through the Gayatri Mantra, employing Garbha Samvad, that they possess intelligence and brilliance, thereby encouraging them to always make sound judgments based on reason, justice, and the prevailing conditions. Hence, to ensure sound decision-making, it is imperative that you approach each decision in your life with maturity and meticulous deliberation. Prior to reaching a conclusion, it is necessary to meticulously scrutinize and assess all the variables linked to that particular option. The inherent knowledge acquired before to birth instructs the individual to make judgments by establishing connections with all the pertinent factors influencing the decision. As a result, when confronted with any choice in their life following their birth on earth, that individual will consistently make decisions with utmost wisdom. Consequently, they will attain achievement in all domains, while also experiencing a sense of joy and contentment in their lives.

12. Yo Nah (यो नः)

Delving into the depths of Garbha Samvad, the incorporation of the term *Yo Nah* in the Gayatri Mantra takes on a profound and contemplative significance. Garbha Samvad explores the deep importance of upholding purity, nurturing virtuous qualities, and refraining from wrongdoing within the realm of human existence. Embedded in this framework, the notion of "Yo Nah" encompasses a collective longing for profound spiritual illumination and direction.

The term Yo Nah holds great significance, symbolizing the essence of togetherness and cooperation among individuals in a community. Garbha Samvad explores the profound concept that the pursuit of spiritual enlightenment, wisdom and virtuous living transcends the limitations of individual existence. It delves into the profound exploration of the community's shared desire and the universal longing for embarking on this transformative journey in unison.

The communal nature of this phenomenon encourages a sense of unity and a shared dedication to the exploration of knowledge and moral principles. The proposition put forth suggests that the blessings sought through the Gayatri Mantra transcend personal growth and encompass the progress of society as a whole. By delving into the depths of the Gayatri Mantra and its intricate ties to Garbha Samvad, a captivating emphasis arises on the shared pursuit of wisdom and virtuous being, fostering a profound sense of togetherness and ethical consciousness among individuals.

'Yo nah' - The notion of effectively and altruistically utilizing our resources is a profound lesson bestowed upon us by the journey of life. When we embrace a simple and humble lifestyle, we are able to direct our surplus wealth, resources and influence towards acts of compassion and generosity, thus offering support to those less fortunate in our community.

Our society promotes the consumption of food, so it is important for individuals to be self sufficient in meeting their needs. Jainism also emphasizes the avoidance of material possessions. If a mother adopts this principle, she will undoubtedly benefit and enjoy it. Additionally, if the mother establishes a connection with her unborn child through the Gayatri Mantra, the child will inherit

exceptional qualities such as generosity from the very beginning. These qualities acquired in the womb will endure throughout the child's lifetime, enabling them to become an influential role model and philanthropist in society. They will assist the less fortunate and bring positivity to the lives of others.

13. Prachodayāt (प्रचोदयात्)

The concept of Prachotdayāt encapsulates the profound notion that individuals should inspire themselves and others to embark on the path of moral integrity and truthfulness. Through the recitation of the Gayatri Mantra, a mother has the potential to internalize virtuous qualities. Furthermore, by engaging in a profound connection with her unborn child via the Gayatri Mantra, the child may cultivate ideal qualities while still in the womb. By adhering to these principles, individuals can navigate life's challenges and shield themselves from detrimental forces. Expanding upon the subject of Garbha Samvad, the term "Prachodayāt" takes on a profound significance as it beckons for a shared source of motivation and direction towards leading a righteous existence and attaining spiritual illumination. It embodies a profound yearning for celestial guidance, not just for the individual, but for the collective community or all of humanity.

This concept evokes a profound yearning for intellectual enlightenment and moral guidance, as one seeks inspiration to navigate ethical dilemmas and uphold righteousness in their existence. Within the realm of Garbha Samvad, the concept of "Prachodayāt" delves into the profound longing for guidance, inspiration and enlightenment that fosters a shared commitment to upholding virtues and righteous behavior. It delves into the profound exploration of knowledge and ethical principles, with the aim of fostering positive change in society and the global community.

Conclusion:

The profound nature of the Gayatri mantra is truly captivating, as it encapsulates profound wisdom within each syllable, nurturing a deep sense of awareness and guiding individuals towards their highest potential. In today's world, there is a pressing need to cultivate individuals who possess not only a heightened sense of

empathy, but also embody the highest virtues in their interactions with the world around them. Thus, the Gayatri mantra is regarded as the epitome of fostering a profound and enlightened discourse within the womb, molding a human being with sublime virtues.

The Gayatri Mantra, in the context of Garbha Samvad, represents a profound source of wisdom, encapsulating enlightenment within its sacred syllables. It cultivates a deep understanding, leading individuals towards their highest capabilities. In our modern society, there is a pressing need to cultivate individuals who possess a deep sense of empathy and exemplify exceptional virtues in their interactions. The Gayatri Mantra holds a profound significance, as it is believed to shape a discourse within the womb, molding individuals with sublime virtues. It is considered to be the pinnacle of enlightenment and a symbol of profound nurturing.

References:

- 1. Nikam, Utkarsha, et al. "Importance of Garbhasanskar: A Review." *International Journal of Herbal Medicine*, vol. 34-37, no. 3, 1 May 2023, https://doi.org/10.22271/flora.2023.v11.i3a.867.
- 2. Kinsella, Michael T., and Catherine Monk. "Impact of maternal stress, depression & anxiety on fetal neurobehavioral development." Clinical obstetrics and gynecology 52.3 (2009): 425.
- 3. Tiwari, Anita. "Gayatri Mantra: Significance and Role in Hindu Rituals." Divine Sansar, 7 Aug. 2023, divinesansar.com/gayatri-mantra-significance-and-role-inhindu-rituals.
- 4. Mukherjee, Somnath. *Unveiling the Profound Significance of the Gayatri Mantra in Hinduism*. 16 Aug. 2023, www.linkedin.com/pulse/unveiling-profound-significance gayatri-mantra-somnath-mukherjee.



Generative Artificial Intelligence and gamification for enhancing student engagement and volition for the promotion of the Bhartiya Knowledge System

Dr Ramesh C Sharma*Dr Madan K Jha**

ISSN: 0975-1769

Abstract

Generative Artificial Intelligence (AI) and gamification techniques have a transformative impact on elevating student engagement and volition in the promotion of the traditional Bhartiya Knowledge System. This synergistic alliance facilitates the creation of personalized and dynamic learning experiences, tailoring content delivery to individual preferences. Gamification elements enhance motivation, turning the exploration of traditional knowledge into an interactive and rewarding journey. Through this innovative convergence of technology and education, students are not only immersed in the richness of Indian heritage but are also actively motivated to explore and contribute to the preservation of this invaluable cultural legacy. This article explores the key attributes of generative artificial intelligence, large language models, and the influence of gamification, examining their collective impact on fostering student engagement and motivation in support of promoting the Bhartiya Knowledge System.

Generative AI: Unleashing Creative Machines

Generative AI, a subset of artificial intelligence (AI), is a revolutionary paradigm that empowers machines to generate content autonomously (Chui et al., 2022). Unlike traditional AI models that

^{*} Dr B R Ambedkar University Delhi, New Delhi

^{**} Central Sanskrit University, Shri Ranbir Campus, Jammu

are rule-based or rely heavily on pre-existing data, generative AI has the capability to create new, original content by learning patterns and relationships from vast datasets (Bozkurt & Sharma, 2023). This innovation marks a leap forward in the realm of creativity and problem-solving, making machines not just efficient processors but also imaginative creators. Generative AI, encompassing models and systems capable of producing new content, has witnessed remarkable advancements in recent years (Al Dahoul et al., 2023). The content can be textual, audio, video, simulations, and code, etc. OpenAI's GPT series, notably GPT-3, stands out as a language model that excels in generating coherent and contextually relevant text across diverse topics. Google's BERT, originally designed for natural language processing, also exhibits generative capabilities. Deep Dream, a neural network by Google, has garnered attention for its ability to create visually captivating and surreal images through pattern interpretation. NVIDIA's Style GAN showcases the potential of generative adversarial networks (GANs) in generating realistic yet non-existent human faces. Chat GPT, designed by OpenAI for conversational interactions and launched in November 2022 is the most notable. Muse Net, another creation by Open AI for music composition illustrates the breadth of generative AI applications. Beyond these, platforms like Runway ML provide access to a range of pre-trained generative models, allowing users to explore and experiment across different creative mediums, including text, images, and music (Gozalo-Brizuela & Garrido-Merch n, 2023).

Key Components and Concepts of Generative AI:

- 1. Generative Models: These are the core algorithms or models within generative AI that learn patterns from data and generate new content. Generative Adversarial Networks (GANs) and Variational Autoencoders (VAEs) are examples of popular generative models, that are designed to learn and mimic patterns in data, allowing them to generate novel outputs.
- 2. Training Data: Generative AI systems are trained on large and diverse datasets. The quality and variety of this training data significantly impacts the system's ability to generate meaningful and diverse content.
- **3. Neural Networks :** The generative models often rely on neural

networks, which consist of interconnected nodes (artificial neurons) that process information and contribute to the learning process (Kruse, et al., 2016).

Generative Adversarial Networks (GANs):

Generative Adversarial Networks (GANs) are composed of two neural networks-the generator and the discriminator. The generator's role is to create entirely new data, while the discriminator assesses the authenticity of this generated content. The process unfolds through adversarial training, wherein the generator refines its output iteratively until it can generate content that is nearly indistinguishable from real data. This adversarial interplay between the generator and the discriminator represents a novel approach to artificial intelligence, allowing GANs to produce realistic and novel data with applications across various domains, from image and text generation to creative content creation (Goodfellow et al., 2020; Creswell et al., 2017).

Variational Autoencoders (VAEs):

Variational Autoencoders (VAEs) function as probabilistic models adept at discerning the inherent structure within input data. These models generate fresh content by sampling from a learned distribution, introducing a crucial element of variability in the output. Unlike traditional autoencoders, VAEs are probabilistic and generate data points based on a range of possibilities rather than a single deterministic representation. This inherent flexibility makes VAEs particularly suited for tasks requiring diverse and creative data generation, contributing to applications in image synthesis, data representation, and other domains where introducing variability is key to the learning process (Liu, 2023).

The primary goal of generative AI is to enable machines to exhibit creativity, problem-solving abilities, and the capacity to produce novel outputs across various domains (Livingstone et al, 2008; Yang, 2010).

Applications of Generative AI:

1. Content Creation: It helps in creating new and original content, including images, videos, text, and even music. For

example, generating realistic images, creating artwork or composing music.

- **2. Data Augmentation :** In fields like computer vision, generative AI can be used to augment datasets by creating variations of existing data, helping improve the robustness of machine learning models.
- **3. Simulation and Training :** Generative models can be employed to simulate real-world scenarios for training purposes, especially in domains like autonomous vehicles, robotics and healthcare.
- **4. Natural Language Processing :** In language models, generative AI generates human-like text, aiding in applications like chatbots, language translation and content summarization.
- **5. Drug Discovery :** Generative AI is explored in pharmaceutical research for generating molecular structures and exploring potential drug candidates.

Examples of Generative AI Tools and Applications:

1. OpenAI's GPT (Generative Pre-trained Transformer):https://chat.openai.com/

GPT-3, the most recent iteration in the series, stands out as a language model boasting an impressive 175 billion parameters. Its extensive capabilities find applications in various domains, including content generation, language translation, code writing, and creative writing assistance. Whether tasked with creating diverse content, translating languages, generating code snippets, or aiding in creative writing endeavors, GPT-3 showcases its versatility as a language model with unparalleled parameter richness.

2. DeepArt

https://apps.apple.com/us/app/deepart-ai-image-generator/id6461267481

https://play.google.com/store/apps/details?id=de.nextsol.deeparteffects.app&hl=en&gl=US&pli=1

https://deepai.org/art

Deep Art utilizes neural networks to execute transformative

processes on photos, drawing inspiration from renowned painters to imbue them with artistic styles. This application extends its influence primarily to artistic image transformations and style transfer. By leveraging the capabilities of neural networks, DeepArt allows users to witness their photos undergo a metamorphosis, adopting the distinct visual characteristics reminiscent of masterful painters. This transformative process finds applications in creating visually stunning and artistically influenced images, showcasing the intersection of technology and artistic expression through style transfer techniques.

2. GANPaint Studio:https://ganpaint.io/

GAN Paint Studio, a creation of MIT, empowers users with the ability to "paint" objects seamlessly into a scene, observing as the AI seamlessly integrates these additions. This innovative tool finds applications in scene manipulation and augmented reality, offering a dynamic and interactive platform for users to enhance and modify their visual environments. GAN Paint Studio exemplifies the fusion of creativity and technology, enabling users to actively participate in shaping and transforming their visual experiences in real-time.

3. DALL-E by OpenAI:https://openai.com/dall-e-3

DALL-E, an OpenAI product, generates images based on textual descriptions, showcasing its prowess in translating written concepts into visual representations. This innovative application finds relevance in conceptual art creation and design prototyping. Leveraging its ability to bridge the gap between text and imagery, DALL-E assists users to articulate and visualize their creative ideas. By generating images that align with textual descriptions, this technology proves invaluable in the realms of artistic expression and design exploration, offering a powerful tool for translating abstract concepts into tangible visual forms.

4. Magenta Studio:https://magenta.tensorflow.org/studio/

Magenta Studio, a project spearheaded by Google, represents an exploration into the convergence of music and AI, aiming to unlock new possibilities at the intersection of these two domains. This innovative initiative finds applications in music composition and the generation of novel musical ideas. Magenta Studio, through its fusion of artificial intelligence and musical creativity, provides a platform for musicians and enthusiasts to experiment with the generation of new musical content. By leveraging AI algorithms, this project contributes to the creative process, offering musicians unique insights and tools to explore uncharted territories in music composition and generation.

5. This Person Does Not Exist:https:// thispersondoesnotexist.com/

"This Person Does Not Exist" is a tool based on Generative Adversarial Networks (GANs) that specializes in crafting highly realistic faces of entirely fictitious individuals. Its applications extend to the generation of stock photos and ensuring identity protection in visual content. By employing GAN technology, this tool offers a solution for scenarios where realistic, but non-existent, faces are needed, such as in stock photo libraries or situations requiring safeguarding identities in visual media. The tool's capacity to generate diverse and authentic-looking faces highlights its utility in maintaining privacy and expanding resources for stock photo creation.

Challenges and Future Outlook:

While generative AI opens avenues for creativity and innovation, ethical concerns, like deepfake creation and potential misuse, need vigilant attention (Gillotte, 2019; Houde et al., 2020). The future promises continued advancements, potentially expanding generative AI into domains like drug discovery, scientific research, and personalized content creation. Striking a balance between innovation and ethical considerations will be crucial in navigating the evolving landscape of generative AI.

Large Language Models (LLMs)

Large Language Models (LLMs) can understand, generate, and manipulate human language (Cerf, 2023). These models are characterized by their vast size in terms of parameters, which are the internal components that the model learns during the training process. The Large Language Models can comprehend and generate

human-like text across various applications and domains.

Key characteristics of Large Language Models include (Azamfirei et al., 2023):

- 1. Scale of Parameters: LLMs have tens of millions to billions of parameters. The LLMs adjust these parameters during training, allowing them to deal with complex patterns and relationships within language.
- **2. Pre-training and Fine-tuning:** LLMs follow a two-step process: pre-training and fine-tuning. Pre-training enables the model to learn general language patterns, and fine-tuning tailors its capabilities to more specialized tasks.
- **3. Transformer Architecture :** Many LLMs are built on the Transformer architecture that facilitate parallel processing and captures long-range dependencies in language.

4. Applications:

- Natural Language Understanding (NLU): They help in processes like sentiment analysis, named entity recognition, and language translation.
- Natural Language Generation (NLG): LLMs are valuable for chatbots, content creation, and text completion.
- Question Answering: LLMs can comprehend and respond to questions posed in natural language, contributing to improved conversational AI.

5. Examples of Large Language Models:

- > GPT (Generative Pre-trained Transformer): GPT-3 (developed by Open AI.)
- ➤ BERT (Bidirectional Encoder Representations from Transformers): BERT (developed by Google) helps in natural language processing tasks by considering context from both directions in a sentence.

While LLMs have demonstrated remarkable capabilities, their large size raises concerns related to computational resources, energy consumption, and ethical considerations.

Gamification

Gamification is the application of game elements, principles, and design techniques in non-game contexts to engage and motivate individuals, solve problems, or achieve specific goals (Dale, 2014). The idea is to leverage the psychological and motivational aspects of games to make non-game activities more enjoyable, interactive, and rewarding. By incorporating game-like features, organizations aim to enhance user engagement, foster learning, and drive desired behaviors.

Key components of gamification include(Swacha, 2023):

- 1. **Points and Rewards:** Assigning points for completing tasks or achieving milestones, with the possibility of earning rewards or badges. This taps into the intrinsic motivation for recognition and accomplishment.
- **2. Leaderboards :** Displaying rankings or leaderboards to create a sense of competition and encourage friendly rivalry among participants.
- **3.** Challenges and Quests: Introducing challenges, missions, or quests that users can complete, providing a structured and goal-oriented experience.
- **4. Levels and Progression :** Breaking down activities into levels or stages, allowing users to progress through a hierarchy of achievements.
- **5.** Achievements and Badges: Awarding digital badges or achievements for completing specific actions or mastering particular skills, recognizing accomplishments.
- **6. Storytelling :** Incorporating narratives or storylines to make the experience more immersive and to provide context for users' actions.
- 7. Social Interaction: Encouraging social interaction and collaboration among participants through features such as sharing achievements, competing with friends or collaborating on challenges.
- **8. Feedback and Rewards:** Providing instant feedback on performance and offering tangible rewards to reinforce positive behavior.

Applications of Gamification:

1. Education: Gamification is widely used in educational settings to make learning more engaging. It can involve quizzes, educational games and progress tracking.

- **2. Employee Training :** Many organizations use gamification to enhance employee training programs, making them more interactive and enjoyable.
- **3. Health and Fitness:** Fitness apps often incorporate gamified elements to motivate users to exercise regularly, set goals and track their progress.
- **4. Marketing and Customer Engagement :** Companies use gamification in marketing campaigns to engage customers, encourage brand loyalty, and drive specific behaviors.
- **5. Productivity and Workforce Engagement :** Gamification can be applied in the workplace to boost employee engagement, increase productivity and achieve organizational goals.
- **6. Financial Services :** Some financial apps use gamification to encourage users to save money, invest wisely or achieve financial goals.
- 7. Customer Loyalty Programs: Loyalty programs in retail and other industries often incorporate gamified elements to reward customers for repeated interactions.

The success of gamification lies in its ability to tap into intrinsic motivators, such as a sense of achievement, competition and social recognition. When applied thoughtfully, gamification can transform mundane tasks into engaging and enjoyable experiences.

Bhartiya Knowledge System

Bhartiya Knowledge System, also known as Indian Knowledge Systems (IKS), [https://iksindia.org/] deals with ancient Indian knowledge that has been created by our elders from their vast experiences, customs, and traditions (Sharma & Garg, 2023). Jñāna, Vigñana, and Jeevan Darshana are the three strong pillars of the Indian Knowledge Systems. The Ministry site https://www.education.gov.in/nep/indian-knowledge-systems can be accessed for details on the IKS. The main objectives of the IKS division are:

- To integrate tribal knowledge and indigenous ways of learning into the scientific curriculum "by covering various aspects of life such as astronomy, philosophy, yoga, architecture, medicine, agriculture, engineering, linguistics, literature, sports, games, governance, polity and conservation.: (Govt of India).
- To train scholars about the Bhartiya way of living, thinking, and high ideals.
- To promote and enable further research in various fields, drawing from the vast indigenous knowledge.

The IKS division aims to inspire and restore the legacy of Indian knowledge and traditions, which have been passed down through generations and are still relevant today. These knowledge systems encompass various domains such as Ayurveda (traditional medicine), Yoga, traditional agricultural practices, indigenous sciences, and other cultural and intellectual traditions.

Here are some key aspects of the government's efforts in this regard:

- 1. National Mission on Interdisciplinary Cyber-Physical Systems (NM-ICPS): It aims to promote interdisciplinary research and development in various fields, including traditional knowledge systems.
- 2. Ayushman Bharat Scheme: The Ayushman Bharat initiative focuses on promoting traditional systems of medicine, including Ayurveda, Yoga, Naturopathy, Unani, Siddha, and Homeopathy (AYUSH). The government has established AYUSH Wellness Centres to provide traditional healthcare services.
- **3.** National Digital Library (NDL): The NDL project by the Ministry of Human Resource Development aims to digitize and make available a vast repository of traditional knowledge and cultural resources.
- 4. National Mission for Manuscripts (NMM): The NMM is an initiative to document, conserve and disseminate Indian manuscripts, many of which contain valuable traditional knowledge. This mission is implemented by Indira Gandhi National Centre for the Arts (IGNCA).

5. **Promotion of Yoga:** The International Day of Yoga, celebrated annually on June 21, is an initiative by the government to promote the ancient Indian practice of Yoga globally. Yoga is recognized as part of India's traditional knowledge and cultural heritage.

- 6. Protection of Geographical Indications (GIs): The government has been actively working to protect traditional products and practices through the Geographical Indications (GI) tagging system. This helps in safeguarding the unique identity and quality of products associated with specific regions.
- 7. Traditional Knowledge Digital Library (TKDL): A joint project of Council of Scientific and Industrial Research (CSIR) and the Department of AYUSH, it aims to document traditional knowledge related to health and medicine in a digital format to prevent misappropriation of this knowledge.

Enhancing personalised learning experiences using generative AI and gamification

Personalized learning experiences about Bhartiya Knowledge System can be enhanced using generative AI and gamification by creating customized learning paths, interactive challenges and immersive environments tailored to individual needs and preferences. Here are some ways to leverage generative AI and gamification in personalized learning:

1. Generative AI for Content Personalization:

- Adaptive Content Creation: Adaptive and personalized content based on individual learning styles, preferences, and proficiency levels can be created using Generative AI. It can generate customized quizzes, exercises or learning materials that cater to the specific needs of each learner.
- > Smart Tutoring Systems: AI-driven tutoring systems can dynamically adjust the difficulty of problems, provide targeted feedback and offer additional resources based on a learner's performance and progress. This ensures that learners receive content at an optimal level for their current understanding.
- **Language Learning:** Generative AI can assist language

learners by generating contextually relevant sentences, dialogues or scenarios tailored to their proficiency level. This helps learners practice and improve their language skills in a personalized context.

2. Gamification for Engagement:

- Personalized Quests and Challenges: Gamification allows the creation of personalized quests or challenges aligned with individual learning goals. Learners can progress through a series of tasks, earning rewards and recognition as they achieve milestones.
- Adaptive Difficulty Levels: Gamified elements can dynamically adjust the difficulty of challenges based on a learner's performance. This ensures that activities remain engaging and challenging, promoting a sense of accomplishment without causing frustration.
- Leaderboards and Social Interaction: Incorporating leaderboards fosters healthy competition and social interaction. Learners can compare their progress with peers, encouraging friendly competition and collaboration.
- > Storytelling and Narrative: Gamification often involves storytelling elements. Personalized narratives or storylines can make the learning experience more immersive and relatable, creating a sense of purpose and connection for the learner.

3. Integration of Generative AI and Gamification:

- AI-Generated Game Content: Generative AI can dynamically generate game scenarios, characters or elements, ensuring that the gaming aspect remains fresh and tailored to individual preferences.
- Real-Time Feedback and Adaptation: Generative AI can provide real-time feedback during gamified activities, adapting the game's progression based on the learner's performance. This ensures that learners receive personalized guidance and challenges.
- Personalized Avatars and Environments: Using generative AI, personalized avatars or virtual environments can be created,

reflecting the learner's preferences and interests. This enhances the sense of identity and engagement within the gamified learning experience.

4. Continuous Learning Analytics :

- ò Data-driven Personalization: Both Generative AI and gamification generate valuable data. Analyzing this data can provide insights into individual learning preferences, strengths and areas that need improvement. This information can be used to further personalize the learning journey.
- deliberative Improvement: Learning platforms can use AI algorithms to continuously analyze user interactions, adapt content and refine gamification elements over time. This iterative improvement ensures that the personalized learning experience evolves with the learner.

By combining generative AI and gamification, educational institutions and businesses can create more engaging, personalized, and enjoyable learning experiences. This can lead to improved knowledge retention, skill development and overall learning outcomes.

Some AI tools and apps that can enhance personalized learning experiences include:

- **1. Edmodo:** This platform uses AI to personalize learning experiences, provide real-time feedback, and offer insights into student performance.
- **2. Querium:** It is an AI-powered tutoring platform that uses machine learning algorithms to assess students' strengths and weaknesses.
- **3. Squirrel AI :** It is a personalized adaptive learning AI platform that assesses students strengths and weaknesses, offering personalized lessons and real-time feedback.
- **4. Audiopen.ai**: An AI-powered tool designed to restructure and organize the text you speak, allowing for more personalized learning experiences.
- **5. Carnegie Learning :** An AI-powered math education software that provides personalized learning experiences, using machine

learning algorithms to provide students with interactive lessons and help them understand difficult concepts.

6. Generative AI Assessments : A web-based AI-powered system that can define interactive, engaging assessments for personalized learning experiences.

Conclusions

Promoting the "Indian Traditional Knowledge System" using generative AI and gamification can have significant potential in preserving and enhancing the rich cultural heritage of India while also addressing the challenges of preserving and documenting these traditional knowledge systems. Generative AI exhibits remarkable versatility in creating diverse types of content across various domains. In the realm of text generation, models like GPT-3 have proven adept at producing coherent and contextually relevant text, spanning articles, stories, poetry and even code snippets (Fui-Hoon Nah et al., 2023). Image generation capabilities, exemplified by models like Style GAN and artistic interpretations by DeepDream, showcase the ability to create realistic and visually captivating images. Music composition is another domain where generative AI, as seen in models like Muse Net, can compose original pieces spanning multiple genres. From visual art and design with platforms like DeepArt.io to conversational interactions facilitated by models like Chat GPT, generative AI contributes significantly to creating content across diverse mediums (Rabowsky, 2023). It extends its influence into code generation, storytelling, language translation, poetry and even simulation of virtual environments, highlighting its broad applicability and continuous evolution across creative and practical domains.

Using AI-generated models by traditional craftsmen creation and preservation of knowledge resources that stood the test of time, can be strengthened. Moreover, integrating generative AI and gamification in learning programs can boost engagement and make the learning experience more enjoyable and motivating. However, it is crucial to address the potential challenges and ethical issues of these technologies in educational settings (Alkaissi & McFarlane, 2023). Some of these challenges include protecting student data, ensuring equitable access to technology, and addressing concerns about privacy. The generative AI and gamification can be adopted

in promoting the Indian Knowledge System by:

ò Developing comprehensive and nuanced approaches that consider the unique context and challenges of India's educational system.

- ò Empowering teachers and build up the teaching system to ensure that the integration of technology is effective and sustainable.
- ò Collaborating with Indigenous communities to ensure that their rights and digital inclusion are at the forefront of the process.

In conclusion, promoting the traditional Indian Knowledge System using generative AI and gamification has the potential to preserve and enhance the rich cultural heritage of India while also addressing the challenges of preserving and documenting these traditional knowledge systems. By addressing the potential challenges and working towards an inclusive and equitable implementation, we can ensure that these technologies serve as a catalyst for promoting and preserving the traditional Indian Knowledge System for future generations.

Harnessing the capabilities of generative AI and gamification not only revitalizes traditional wisdom but also creates immersive and tailored learning experiences. Gamification, with its engaging elements, transforms the learning journey into a captivating adventure, fostering a deeper connection with the rich tapestry of Indian traditional knowledge. By integrating these technologies, we not only ensure the preservation and dissemination of our cultural legacy but also empower learners to explore and embrace the wisdom passed down through generations in a manner that is both enriching and enjoyable.

References:

AlDahoul, N., Hong, J., Varvello, M., & Zaki, Y. (2023). Exploring the Potential of Generative AI for the World Wide Web. ArXiv. /abs/2310.17370

Alkaissi, H., & McFarlane, S. I. (2023). Artificial hallucinations in ChatGPT: Implications in scientific writing. Cureus, 15(2), 1-4. https://doi.org/10.7759/cureus.35179

- **Azamfirei, R.,** Kudchadkar, S. R., & Fackler, J. (2023). Large language models and the perils of their hallucinations. Critical Care, 27(1), 1-2. https://doi.org/10.1186/s13054-023-04393-x
- Bozkurt, A., & Sharma, R. C. (2023). Generative AI and Prompt Engineering: The Art of Whispering to Let the Genie Out of the Algorithmic World. Asian Journal of Distance Education, 18(2), i-vii. Retrieved from http://asianjde.com/ojs/index.php/AsianJDE/article/view/749
- **Cerf, V.G.,** (2023). Large Language Models. Communications of the ACM, 66(8), 7. https://doi.org/10.1145/3606337
- Creswell, A., White, T., Dumoulin, V., Arulkumaran, K., Sengupta, B., & Bharath, A.A. (2017). Generative Adversarial Networks: An Overview. IEEE Signal Processing Magazine, 35, 53-65.
- Chui, M., Roberts, R., & Yee, L. (2022, December 20). Generative AI is Here: How Tools Like ChatGpt Could Change Your Business. Quantum Black AI by McKinsey. https://www.mckinsey.com/capabilities/quantumblack/our-insights/generative-ai-is-here-how-tools-like-chatgpt-could-change-your-business#/
- **Dale, S.** (2014). Gamification: Making work fun, or making fun of work? Business Information Review, 31(2), 82-90. https://doi.org/10.1177/0266382114538350
- Fui-Hoon Nah, F., Zheng, R., Cai, J., Siau, K., & Chen, L. (2023). Generative AI and ChatGPT: Applications, challenges, and AI-human collaboration. Journal of Information Technology Case and Application Research, 1-28. https://doi.org/10.1080/15228053.2023.2233814
- Gillotte, J.L. (2019). Copyright infringement in AI-generated artworks. UC Davis L Rev, 53, 2655. https://ssrn.com/abstract=3657423
- Goodfellow, I., Pouget-Abadie, J., Mirza, M., Xu, B., Warde Farley, D., Ozair, S., Courville, A., & Bengio, Y. (2020). Generative adversarial networks. Communications of the ACM, 63(11), 139-144. https://doi.org/10.1145/3422622
- **Gozalo-Brizuela,** R. & Garrido-Merch n, E. C. (2023). A survey of Generative AI Applications. ArXiv. /abs/2306.02781

Houde, S., Liao, Q.V., Martino, J., Muller, M.J., Piorkowski, D., Richards, J.T., Weisz, J.D., & Zhang, Y. (2020). Business (mis)Use Cases of Generative AI. ArXiv, abs/2003.07679.

- **Kruse, R.,** Borgelt, C., Braune, C., Mostaghim, S., Steinbrecher, M. (2016). Introduction to Neural Networks. In: Computational Intelligence. Texts in Computer Science. Springer, London. https://doi.org/10.1007/978-1-4471-7296-3_2
- **Livingstone, D. J.,** Browne, A., Crichton, R., Hudson, B. D., Whitley, D. C., & Ford, M. G. (2008). The extraction of information and knowledge from trained neural networks. Methods in molecular biology (Clifton, N.J.), 458, 231-248.
- **Liu, J.** (2023). Review of variational autoencoders model. Applied and Computational Engineering, Vol. 4: 159-167. DOI: 10.54254/2755-2721/4/2023328.
- **Rabowsky, B.** (2023). Applications of Generative AI to Media. SMPTE Motion Imaging Journal, 132(8), 53-57. https://doi.org/10.5594/jmi.2023.3297238
- Sharma, R. & Garg, S. (2023). Embedding Bhartiya Knowledge System for Futuristic Education. University News, 61(47), November 20-26, 2023, pp.20-26. [ISSN 0566-2257]
- **Swacha, J.** (2023). Meaningful Typology of Gamification Components. Procedia Computer Science, 225, 4274-4283. https://doi.org/10.1016/j.procs.2023.10.424
- **Yang Z. R.** (2010). Neural networks. Methods in molecular biology (Clifton, N.J.), 609, 197-222. https://doi.org/10.1007/978-1-60327-241-4_12

The Mysterious Fact of Number - 33

(33 Crore Gods and Goddesses)

- Abhishaik Chitraans*

ISSN: 0975-1769

-Ankakshr Miracless**

Abstract: The number 33 holds a profound significance in Indian Sanatan Dharma, deeply intertwined with the human body's mystical aspects. According to this ancient belief system, the human spine comprises 33 vertebrae, each representing a facet of spiritual awakening energy centers known as Chakras. This energy signifies the union of individual consciousness with the divine, where one transcends earthly limitations to attain a higher state of awareness and unity with the cosmos. The enigmatic nature of number 33 in the human body, intertwined with spiritual evolution and cosmic significance, remains a mysterious and revered aspect of Indian Sanatan Dharma. Its symbolism transcends the physical realm, inviting seekers on a transformative journey toward enlightenment and spiritual fulfillment.

Indian Sanatan Dharma is not only a religion, literature or philosophical theory to follow by someone, but it is also an ancient proven science to live a long and healthy life. Sanatan is called eternal, beyond the beginning and the end. The principles of Sanatan Dharma are based on environmental and scientifical ideologies to know the history and facts of human Mind and Body as well as Soul.

Keywords:

Divine Science of Human Body, Fact of 33 crores Gods & Goddess

^{*} Master Numerologist, Numerology - Research and Development.

^{**} The Institute of Occult Sciences, Spiritual Activities and Research, Bareilly (U.P) India

Mysterious Fact of Number - 33 Number - 33 Spiritual Numerology

Introduction:

Where the Modern Science ends, the Spiritual Science begins.

Everyone is aware about the word 33 crore or 1 koti, the number of Gods and Goddess is to worship or to follow them spiritually, but what is real fact behind this number of 33, is it in crore or is it in koti or whatever?

Actually, there is no meaning of the word crore here, but 'koti' means 'type' in Sanskrit language, which is used as a unit to count, so there are 33 koti Gods and Goddess to strengthen them by the wordship or taking care to live with a spiritually abundant and healthy life on this mother earth as a human being.

Spiritual Calculation:

If we read the spiritual calculation of Vedic Gods, we found total 33 types of Gods according to Vedas, i.e. 12 Aditya, 8 Vasu, 11 Rudra and 2 Ashwini Kumar. (12+8+11+2 = 33)

Name of 12 Aditya: Vishnu, Dhata, Bhaga, Tvashta, Savitri, Mitra, Varuna, Aryaman, Pushan, Ansa, Ushas, Vivasvan.

Name of 8 Vasu : Agni, Prithvi, Vayu, Antariksha, Aditya, Dyaus, Soma, Nakstrani.

Name of 11 Rudra: Kapali, Pingala, Bhima, Virupaksa, Vilohita, Ajesha, Shasana, Shasta, Shambhu, Chanda, Dhruva.

Name of 2 Ashwani Kumar: Nadasn and Dasn

Astrological Calculation:

If we read the astrological calculation to understand the mystery of 33 types of Gods, we found total 27 Nakshatras, 4 Pindaj with 2 signs to rise i.e. Sun and Moon (Day & Night).

Total 27+4+2 = 33 Gods/ Goddess to be enlightened by an individual.

Name of 27 Nakshatras: Ashwini, Bharani, Krittika, Rohini, Mrighasira, Ardra, Punarvasu, Pushya, Ashlesha, Magha, Purva

Phalguni, Uttara Phalguni, Hasta, Chitra, Swati, Vishaka, Anuradha, Jyestha, Moola, Purvashada, Uttarashada, Sharavan, Dhanishta, Shatabisha, Purvabhadra, Uttarabhadra, and Revati.

Name of 4 Pindaj: Jarayuj, Swedaj, Andaj, Udbhij.

Name of 2 signs: Sun and Moon

Scientifical Calculation:

If we read the scientifical calculation of human body in term of 33 Gods, we found that whole body is completely around only on 'Spinal Cord' or 'Merudand'. This circular pole made up of many bones and components, on which each vertebra of human body is tightened with threads. This group of bones divided into 5 parts of total 33 vertebras, i.e.

- 1. Spinal region 7 bones
- 2. Thoracic region 12 bones
- 3. Lumbar region 5 bones
- 4. Sacral region 5 bones
- 5. Coccygeal region 4 bones

Total 7+12+5+5+4 = 33, vertebrls of spinal cord in human body, which is the most necessary part to empower your immunity.

According to Yoga Science:

In yogic traditions, the awakening of the 33rd Chakra is considered the ultimate goal of spiritual practice, leading to an elevated state of consciousness and inner pease. The number's symbolism stands beyond the physical body, resonating with 33 koti (types) of divine deities in Hinduism, reprenting various aspects of creation and existence.

If we practice our ancient science of Yoga, during the process of "Kundalini Awakening", the sages and others do practice to uncover these divine powers of their body to give self-realization of all those 33 deities of the universe in the form of 7 chakras and 5 elements are pointed in spinal cord only. The 'Moksha Pradayani Kundalini' is directly presented in human body in the form of 33 deities.

Numerological Factor of Number - 33:

Number - 33, is called 'Master Number' in term of divine science and cosmic language of number, Numerology. This compound number stands for a connector, the master communicator to care. We know about the human body, each and every small or big and direct or indirect part of body is connected with 'Spinal Cord', which communicates by Mind to do all the functions and care of body. If the spinal cord injured or effected, the body can't do its routine function too. Spinal cord is a base of body to stand and run on the ground in proper manner. It is called the 'Master of Body' to care and control. Number - 33, also denotes the care and communication as a 'Master/ Teacher/ Guru'.

Conclusion:

Hence, these are real and scientifical facts of number 33 and 33 Koti Gods and Goddesses in our human body to worship and to take care for living with a healthy-wealthy and spiritually enlightened life on the mother earth. If the spinal cord of 33 vertebrals is strong in each manner, the body will be strong and healthy, that's why our ancient literatures say to pray or to care our 33 Gods and Goddesses to be strong, healthy and enlightened life. That's why number 33 is called Master Number in Numerology, which can communicate with entire universe spiritually and scientifically as well.

References:

- 1. Mahashiv Puran by Geeta Press, Gorakhpur
- 2. Skand Puran by Geeta Press, Gorakhpur
- 3. Vedant Darshan by Pt. Sri Ram Sharma Acharya, Shantikunj, Haridwar
- 4. Science of Fortune by Pt. Sethuraman
- 5. Indian Astrology



The Logical Conclusion of Karmayoga Philosophy of the Bhagavadgītā

-Dr. Arpit Kumar Dubey*

-Dr. Kamini Kumari**

ISSN: 0975-1769

Abstract

Śrīmadbhagavadgītā is a classical text of Indian Philosophy (Sāṅkhya-Yoga, Vedānta). The unique contribution of Gītā to humanity is the concept of Sthitaprajñā (Ideal Man) and the theory of KarmaYoga (ideal way of doing). Shri Balgangadhar Tilak (commentator of Gītā) said that the message of Gītā is KarmaYoga. The Gītā begins with rejection of one's own duties by Arjuna, but by the last scene of Gītā, Arjuna is ready to perform his duty due to Śrī Kṛṣṇa's guidance. Thus, it can be argued that the message of Gītā is KarmaYoga. Theory of KarmaYoga says

karmaņyevādhikārastemā phaleşu kadācana. mā karmaphalaheturbhūrmāte saṅgo'stvakarmaṇi. 2.47

A man is free to act but not to select the result of his action (Why?), he should not consider himself the only reason for the result of an action (Why?) and he also shouldn't stop following the course of action (why?). The message of KarmaYoga is "Perfection in Action and balanced approach towards the result of Action". KarmaYoga means detached action. Detached action is that action which is devoid of the wish for result, which is destined for oneself and related to the constant, ongoing processes of the world. This paper comprehensively analyzes the theory, philosophy and practice of Karma Yoga as described in Gītā.

^{*} Assistant Professor (Sanskrit), Morarji Desai National Institute of Yoga (Ministry of AYUSH, Govt. of India) 68, Ashoka Road, New Delhi-01 arpitkumarprince@gmail.com

^{**} Assistant Professor (Sanskrit), Sanskrit Department, Lady Shri Ram College for Women, University of Delhi, Delhi

Keywords: Śrīmadbhagavadgītā, Karmayoga, Phala.

Introduction:

Śrīmadbhagavadgītā (SBG) is a classical text of Sanskrit language. It is also a text of Indian Philosophy (Sānkhya-Yoga, Vedānta). The text is divided into 18 chapters and 700 Slokas. It is not an individual text but it is a part of great epic Mahabharata's 6th chapter (Bhīsma parva), subchapters 25 to 42. The book is a conversation between Dhrtarastra and Sanjaya and Śrī Krsna and Arjuna. SBG is a great book of personal and professional life management. The unique contribution of this book to humanity is the concept of Sthitaprajña (Ideal Man) and the theory of KarmaYoga. To reveal the essence of SBG, many scholars have written commentaries on it and have concluded that the message of Gītā variously as Jñāna Yoga (Acharya Shankar), Bhakti Yoga (Shri Ramanujacharya), Dhyana Yoga (Swami Paramhamsa Yogananda) etc. Shri Balgangadhar Tilak said that the message of this text is KarmaYoga. The Gītā begins with rejection of one's own duties by Arjuna, but by the last scene of Gītā, Arjuna is ready to perform his duty due to Śrī Krsna's guidance. Thus, it can be argued that the message of Gītā is KarmaYoga. This paper comprehensively analyze the Theory, philosophy and practice of Karma Yoga as described in Gītā.

Methodology: Descriptive (analytical).

KarmaYoga

Karma Yoga is made up of two words: Karma and Yoga. Karma here refers to action and yoga refers to the path of freedom/liberation/salvation/kaivalya. When action becomes the cause of liberation, it is Karma Yoga. It is generally believed that action (karma) is the reason of bondage, but the philosophy of Karma Yoga opposes this belief. According to Karma Yoga, a being can liberate himself through action. While actions are the cause of bondage, they are also the path to freedom from bondage. But action can become a method of liberation only when it is done in a detached manner, i.e. when a person does not attach any wish/hope for the result to the action and when it is done for the greater good of mankind. Just like the path which takes us to a certain

point is also the path which can bring us back. Karma or action can lead us to bondage as well as to liberation from that bondage.

Karma is of two types: i. Śubha Karma (good or auspicious actions) which are beneficial and favorable and ii) Aśubha Karma (bad or inauspicious action) which are detrimental and unfavorable. Further, we can divide Subha karma into two categories: beneficial for us and detrimental to others and beneficial to all. Similarly, Asubha Karma is also of two kinds: harmful to us and beneficial to others and harmful to everyone. Śubha Karma here means those actions that are beneficial to everyone and such actions have been called "yajña" in the Vedas.

It is said that the subject matter of The Bhagavad Gītā is Karma Yoga. This is because the knowledge of Gītā was given to Arjuna by Śrī Kṛṣṇa when he was disinclined (running away from) to do his karma (i.e. fight the battle) at Kurukshetra (the battle ground). And after this knowledge, he became ready to perform his karma (i.e. fight the battle). In this way, the dilemma raised in the Gītā is related to action (battle) and the fruit of action (violence/sin etc.) while the solution is Karma Yoga i.e. performing the action destined for a being without any attachment.

The Philosophy of KarmaYoga:

The first question that arises in a curious mind is why act at all? Śr $\bar{\imath}$ Kṛṣṇa says that a human being does not have the option of performing or not performing an action. In other words, a human being can not survive for a moment without performing an action . To perform an action is his nature, he has no option but to act, for without action it is impossible to even sustain the human body. In other words, action is needed for survival (to keep the body active

na hi kaścitkṣaṇamapi jātu tiṣṭhatyakarmakṛt. kāryate hyavaśaḥ karma sarvaḥ prakṛtijairguṇaiḥ. SBG 3-5 Swami, Rama,. (2008) Perennial Psychology of The Bhagavad-Gītā, USA: Himalayan Institute Press.

niyatam kuru karma tvam karma jyāyo hyakarmanan. śarīrayātrāpi ca te na prasiddhyedakarmanan. SBG 3-8. Swami, Rama,. (2008) Perennial Psychology of The Bhagavad-Gītā, USA: Himalayan Institute Press.

and to fulfill its basic needs). A human being does not have a choice between action and non-action, but he does have a choice between Subha *and a*subha *karma* (auspicious or inauspicious action). As soon as he makes the choice, his freedom to choose will end and he will reap the fruits of his action according to the nature and the purpose of the choice of action made by him. In other words, the fruit of beneficial actions will be beneficial whereas an inauspicious action will lead to an inauspicious result. A person cannot change this. Therefore, his choice is limited to the selection of his action but not the result of those actions.

Philosophical analysis of the mahavakya (great saying) of Karma Yoga:

karmanyevādhikāraste mā phaleşu kadācana. mā karmaphalaheturbhūrmā te sango'stvakarmaṇi.¹

This mahāvākya can be divided into four parts:

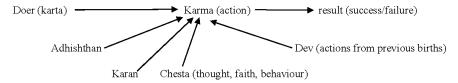
- **1. Karmanyevādhikāraste:** Man is free to act. A man is free to choose between good and bad deeds, this choice falls within his purview.
- **2.** mā phaleṣu kadācana: Man is not free to select the result of his action. The result of his action is beyond his purview. In other words, he cannot decide what the result will be. The result is decided by the nature of the action, and the result follows the action.

Unlike the freedom to choose our actions, we do not have the freedom to decide or choose the result which the actions will bring since the result depends upon the action. The result of every action is pre-determined. For example, 2+2=4 while 2+3=5. We can choose whether we want to add 2+2 or 2+3 but we cannot choose the result of either because they are predefined (2+2 will always be 4 and 2+3 will always be 5).

Four factors besides the doer are crucial in determining the result or outcome of an action: adhisthan (place), karan (the medium), cheshta (physical and mental state) and daiva (the actions

^{1.} SBG 2.47 Swami, Rama,. (2008) Perennial Psychology of The Bhagavad-Gītā, USA: Himalayan Institute Press.

of our previous lives). Srī Kṛṣṇa has described these five as the determining factors for every action. When all these are in accordance, the outcome is success. If even one of these factors is discordant, the result is failure. In other words, whenever a person acts, he is bound to get either outcome - that of success, which means getting the desired outcome, or that of failure, which means not getting the desired outcome. That we accept only success and reject failure, not accepting it as result of our actions is a mark of our ignorance.



It is important to understand these five determining factors of karma or action.

- 1. Karta or doer is the person who takes an action.
- 2. Adhishthan refers to the place of action.
- 3. Karan refers to those resources, those mediums which are used to accomplish a task easily. For example, the use of train or aeroplane to travel to a far off place.
- 4. Cheshta refers to our mental and physical activities, like our thoughts, our belief and behaviour. What should be our thought, belief and behaviour like when we take an action? These are indirectly associated with the action but influence its outcome.
- 5. Daiva is a technical term which means the actions done in our past lives. The actions of our past lives tend to influence and impact the actions of this life as well as their outcomes.

When all these five factors are harmonious, we get success or the desired result. When even one of these is not in harmony with the others, we don't get the desired result. That is why we are not free to choose the result of an action.

adhiṣṭhānam tathā kartā karaṇam ca pṛthagvidham. vividhāśca pṛthakceṣṭā daivam caivātra pañcamam. SBG 18-14. Swami, Rama,. (2008) Perennial Psychology of The Bhagavad-Gītā, USA: Himalayan Institute Press.

The philosophy of Karma Yoga, then, inspires us to perform an action without attaching ourselves too much to its result. This is because there are many actions whose results are not immediate or whose results are not limited to just the doer. For example, if getting quick results for only oneself becomes the driving factor behind an action, then no man will ever plant a tree. For a tree doesn't give fruits immediately and even when it does, the one who planted is not the only one benefitting from its fruits. A tree will bear fruits for a short period of time each year and this short time period combined with the limited eating capacity of the person means that he cannot expect to be the only one benefitting from the tree he has planted. On the basis of their results, actions (karma) can be of two types: those yielding immediate results (like milking a cow) or those that yield result over a period of time (like farming, planting trees). That is why, the KarmaYoga asks its followers to act while detaching oneself from the outcome.

- 3. mā karmaphalaheturbhūr: Do not consider yourself the only reason for the result of an action. Since every action and its outcome is determined by the five factors discussed above, a person should not feel himself only responsible for the success or failure of an action. If he doesn't consider himself to be the cause of the success or the failure of an endeavour, he will be free from both pride (in the case of success) and depression (in the case of failure). In other words, if the action is successful, the feeling that I have achieved this and that I can do anything is pride whereas in the case of failure, the feeling that I am incapable of doing this and I am good for nothing is depression. Following KarmaYoga frees a person from both.
- **4.** karmaphalaheturbhūrmā te sañgo'stvakarmaṇi : A person shouldn't stop following the course of action decided for him because to take action is his nature.

In this way, the summary of the *mahavakya* of KarmaYoga is that man is free to act because he cannot survive for a moment without acting and to act is his natural state of being. But he is not free to choose the result of his action because the result is decided by five factors and the outcome is decided on the basis of his action, not his will. A person shouldn't consider only himself responsible for the outcome of an action either because there are five factors

influencing it. At the same time, he should also not give action up because he cannot survive for a moment without it.

A contextual analysis of Karma Yoga on the basis of the Māhābhārata:

When Śrī Krsna discourses on the *mahāvākya* of "Karmanye" in the battlefield of Kuruksetra, the question arises as to why did its need arise during an ongoing battle? To understand this, one must understand the mental conflict of Arjuna. Arjuna has entered the battlefield with the intention to act, i.e., to fight against the opposition. But as soon as he sees his loved ones on the opposite side, he doesn't want to fight anymore (doesn't want to do his karma). This is because he begins to think that this battle will mean violence and violence is a sin. He doesn't want to be a part of this sin and the only way to stay away from committing this sin is not to act at all. So he decides not to take part in the battle. It is in this situation that Śrī Kṛṣṇa tells him that O Parth! You have control over action but you do not have any control over its outcome. Therefore, you should not hold yourself responsible for the outcome. Do not quit what lies in your control, act because you cannot live a moment without acting. And the best course of action for a person is that which is in keeping with his dharma, his responsibilities and duties. At present, to fight is your duty because you are not fighting for a personal gain. Rather, you are fighting to protect the world from the injustice, misdemeanour and malpractices of Duryodhana. Therefore, the fear of sin in your mind is your ignorance because no action is good or evil in itself. It's the aim of that action that makes it so.

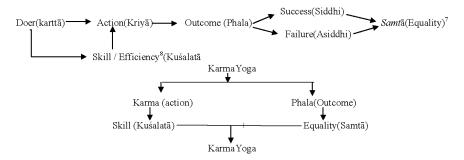
For example, it is generally accepted that prayer, *havan* etc. are auspicious actions while violence is inauspicious. And auspicious actions are virtuous while inauspicious actions are sinful. But if we analyse it deeply, we will find that this is not so simple. If a person indulges in an apparently auspicious action like prayers etc with the intention of harming someone through tantrik acts, then that auspicious action will be considered sinful. Similarly, if an apparently inauspicious action like violence is the means to an end like self defence and defending others, it will generate virtue and not sin. Thus, the aim of an action and not its nature (good/bad; auspicious/

inauspicious) is the deciding factor of its outcome (virtuous or sinful). O Partha! You lack the in-depth understanding of the theory of karma (you believe that auspicious means virtue and inauspicious means sin). That is why you are unwilling to participate in this battle because you are afraid that this battle will be the cause for violence and violence will lead to sin. But the fact is that though this battle will lead to violence, that violence will not be sinful as this battle is being fought for the common good of all, for *loka-kalyana*. Therefore, you are free to fight (act) and not worry about its outcome (violence and sin) or consider yourself responsible (as the reason for this battle is not you but the misconduct and bad policies of Duryodhan). Neither should you desert the battle (action) since as a kshatriya, to protect the world is your responsibility and duty.

In the above context, it is not action which is problematic. It is the result of the action that causes confusion. Śrī Kṛṣṇa says, O Arjun! One has to commit various actions in life and sometimes, even those acts that seem incorrect in form are virtuous if their aim is the well being of the world. So Arjun, you must act because this is in your sphere of action and because you are doing this for the betterment of the world. Don't worry about the result. You cannot decide the result because it is subservient to action and the outcome of this battle will not be sinful because its aim is *loka-kalyana*. Do not become the reason for the outcome either, because the reason is not the doer but the aim behind the act. Nor should you stop participating in the battle because it's your duty. Do not leave the battlefield because the Indraprastha that you had founded is now being plundered by the misconduct of Duryodhana. Fighting this battle is your duty to end the misrule of Duryodhana and to free the people of Indraprastha from his oppression.

Arjuna, you have the control over action but not its result. Do not worry about result for result is not the only deciding factor of sin or virtue. It is the intention behind that action which decides whether a particular action can be called virtuous or sinful. Do not become the reason of the result and do not stop acting for the fear of its outcome. Rather keep acting for the welfare of the world as well as for yourself.

The KarmaYoga Method:



Elucidating upon the method of Karma Yoga, Śrī Kṛṣṇa says that there are two entities involved here, action and outcome. Those who want to follow the path of Karma Yoga need to become skilled and learn efficiency of the highest order in the action they want to undertake and they also need to cultivate a sense of equality towards the outcome. In other words, whether the result is success or failure, they should be able to stay detached from it because the doer is not the only factor to determine the result. Many a times, a person might not be successful despite the best of efforts because of the unfavourable daiva karma (those of the past lives). But this is beyond his control. Therefore, he must do with full vigour that what he can do best - his present action. In this manner, when a person attains skill in his action along with detachment towards favourable/ unfavourable result, his ordinary action itself becomes KarmaYoga. This is the method and the secret of KarmaYoga.

Karma Yoga and Karma-samyasa (Jnana Yoga):

The Vedānta philosophy espouses that karma is a reason for bondage. A person cannot achieve liberty through karma. Arjuna poses this philosophical question before Śrī Kṛṣṇa that which path

 [&]quot;Yogasthaḥ kuru karmāṇi saṅgaṃ tyaktvā dhanañjaya. siddhyasiddhyoḥ samo bhūtvā samatvaṃ yoga ucyate. SBG 2-48. Swami, Rama,. (2008) Perennial Psychology of The Bhagavad-Gītā, USA: Himalayan Institute Press.

buddhiyukto jahātīha ubhe sukṛtaduṣkṛte. tasmādyogāya yujyasva yogaḥ karmasu kauśalam." SBG 2-50 Swami, Rama,. (2008) Perennial Psychology of The Bhagavad-Gītā, USA: Himalayan Institute Press.

is better - that of KarmaYoga (performing an action) or that of karma-samyasa (renunciation of action). Śrī Kṛṣṇa answers him by telling him that both practices are excellent and I have discoursed upon both. But Karma Yoga is better than karma-samyasa² because karma-samyasa is the last stage of KarmaYoga itself. Karma-samyasa doesn't mean giving up of actions but detachment from their outcome. In other words, when a person becomes well versed in KarmaYoga, he automatically attains karma-samyasa. Karma-samyasa cannot be attained by rejecting the performance of actions.³

Karma-samyasa is often misinterpreted as rejecting all actions (including our responsibilities and duties). That is why Śrī Kṛṣṇa elucidates upon it and clarifies that KarmaYoga and Karma-samyasa are the same. When a person acts without any attachment to the outcome of his action, he becomes a yogi (karma yogi) and a samyasi (karma samyasi). One doesn't need to reject one's family and society and run away from one's responsibilities to become a yogi or a samyasi (hermit). Śrī Kṛṣṇa further clarifies the difference between samyasa and tyaga and says that while giving up the actions that lead to ones own benefit only is samyasa, true renunciation is when one becomes detached from the results of all actions. That is true tyaga or renunciation of the highest kind.

loke'smin dvividhā niṣṭhā purā proktā mayānagha. jñānayogena sāṅkhyānāü karmayogena yoginām. SBG 3-3. Swami, Rama,. (2008) Perennial Psychology of The Bhagavad-Gītā, USA: Himalayan Institute Press.

samnyāsah Karma Yogaśca nihśreyasakarāvubhau. tayostu karmasamnyāsātkarmayogo viśiṣyate. SBG 5-2. Swami, Rama,. (2008) Perennial Psychology of The Bhagavad-Gītā, USA: Himalayan Institute Press.

na karmaṇāmanārambhānnaiṣkarmyam puruṣo'śnute.
 na ca samnyasanādeva siddhim samadhigacchati. SBG 3-4 Swami, Rama,. (2008) Perennial Psychology of The Bhagavad-Gītā, USA: Himalayan Institute Press.

anāśritaḥ karmaphalam kāryam karma karoti yaḥ.
 sa samnyāsī ca yogī ca na niragnirna cākriyaḥ. SBG 6-1 Swami,
 Rama,. (2008) Perennial Psychology of The Bhagavad-Gītā, USA:
 Himalayan Institute Press.

^{5.} kāmyānam karmaṇām nyāsam samnyāsam kavayo viduḥ. sarvakarmaphalatyāgam prāhustyāgam vicakṣaṇāḥ. SBG 18-2.

KarmaYoga, then, boils down to the fact that a person must perform action or karma because he cannot survive without it. One doesn't need to give up action, rather one needs to perform them without any desire, any attachment to their outcome. Hence, KarmaYoga is superior to karma-samyasa.

The Essence of KarmaYoga:

All the actions of a person come under the influence of the three gunas of nature - sattva, rajas and tamas. When the sattva guna dominates, he works for the well-being of all. When the rajas guna dominates, he works for self and when the tamas guna is dominant, he remains either inactive or acts to harm others. Since these actions depend on the three gunas, a person need not be proud of himself when he does something good. This is because that action has been performed due to the dominance of the sattva guna. Similarly, when he does something bad, he need not feel depressed because this has happened due to the excess of the tamas guna. To do good and bad actions intermittently and consider himself responsible for them is the characteristic of an average person. But a karmayogi is beyond these. Each of his action is directed towards the well being of everyone, whether directly or indirectly.

In fact, a person does not act. It is nature that makes him act. That is why, a person should not consider himself to be a doer (karta). To consider oneself the doer of any kind of action is folly.

The second philosophical interpretation of not considering oneself the doer of the action is that the body through which action is performed is the product of nature, while the self is distinguishable from the body as an ever present consciousness. Then, in his true, ultimate form a person is not the doer of any action. As such, it is foolishness to consider one's true form (of ever present consciousness) to be the performer of any action.

Swami, Rama,. (2008) Perennial Psychology of The Bhagavad-Gītā, USA: Himalayan Institute Press.

prakṛteḥ kriyamāṇāni guṇaiḥ karmāṇi sarvaśaḥ.? ahaṅkaravimūḍhātmā kartāhamiti manyate. SBG 3-27 Swami, Rama,. (2008) Perennial Psychology of The Bhagavad-Gītā, USA: Himalayan Institute Press.

Types of Karma

Saatvik Rajsik

- 1. Those karmas which are beneficial to the self as well as others.
- 2. An action which is done in accordance to the method elaborated in the Shastras, devoid of any feelings of attachment or aversion, done without considering oneself the doer and without any hope or desire for result with the aim of betterment of the society is a saatvik karma.
- 1. A karma which is beneficial only to oneself.
 - 2. An action done under the influence of of either attachment or aversion and with a desire for result is a Rajsik karma.

Tamsik

- 1. A karma which is beneficial neither for the self nor for others.
- 2. An action which causes harm to self and/ or others is a tamsik karma.

Karma

Akarma: Karma: Vikarma:

An action which is good for oneself and also for others is akarma An action which is good only for oneself is karma.

An action which is not good for oneself but/and harmful to others it is called Vikarma.

Akarma is the highest and Vikarma is the lowest form of Karma.

Karma

Sakama Karma: Nishkama Karma:

The actions done with the desire for result and keeping in mind only one's own benefit are sakama karmas.

Taking an action devoid of any desire for result and fulfilling one's responsibilities for the greater good of the world is a nishkama karma.

Karma Yoga: A Summary:

Karma Yoga means detached action. Detached action is that action which is devoid of the wish for result, which is destined for

oneself and which is related to the constant, ongoing processes of the world. The aim of the action is both "abhyudaya" i.e., for physical prosperity and one's own well-being as well "nishreyas" ie. for the ultimate liberation, moksha and for well-being of the entire world. The enlightened ones² as well god himself (Śrī Kṛṣṇa) work for the "lok-sangrah" or the well-being and maintenance of the world.

Reference books

- 1. Chari, S.M. Śrinivasa (2005) The Philosophy of the Bhagavadgita, Delhi: Munshiram Manoharlal.
- 2. Easwaran, Eknath (2003) The Bhagavad-Gītā (for daily living), Mumbai: JAICO publishing.
- 3. Paramhansa, Yogananda. (2010) God Talks with Arjuna The Bhagavad Gītā, (Vol. I & II) Fifth Impression. Kolkata: Yogoda Satsang Society of India.
- 4. Radhakrishnan, S.(2011). The Bhagavad-Gītā, India: Harpercollins.
- 5. Swami, Rama,. (2008) Perennial Psychology of The Bhagavad-Gītā, USA: Himalayan Institute Press.
- 6. Swami Gambhiranand (2003) Bhagvatgita with the commentary of Sankaracharya, Kolkata: Advita Ashrama.
- 7. Swami Adidevananda. (2003) Sri Ramanuja Gītā Bhashya, Madras: Sri Ramakrishna Math.

 tasmādasaktaḥ satataŭ kāryaṃ karma samācara? asakto hyācarankarma paramāpnoti pūruṣaḥ. SBG 3-19. Swami, Rama,. (2008) Perennial Psychology of The Bhagavad-Gītā, USA: Himalayan Institute Press.

 karmaņaiva hi samsiddhimāsthitā janākadayḥ. lokasangrahamevāpi sampaśyankartumarhasi. SBG 3-20. Swami, Rama,. (2008) Perennial Psychology of The Bhagavad-Gītā, USA: Himalayan Institute Press.

 na me pārthāsti kartavyam triṣu lokeṣu kiñcana. nānavāptamavāptavyam varta eva ca karmani.? SBG 3-22. Swami, Rama,.(2008) Perennial Psychology of The Bhagavad-Gītā, USA: Himalayan Institute Press.

8. Swami Vivekananda (2000). Karma Yoga, Calcutta : Advaita Ashrama.

- 9. Swami Abhidananda. (1990) Bhagvatgita, the divine message, Kolkata: Ramakrishna Vedānta Matha.
- 10. Swami Raghvendrananda (2000) Universal message of the Bhagvatgita, Kolkata: Advita Ashrama.
- 11. Shri Aurobindo (1997) Essays on Gītā, Shri Aurobindo Pondicherry: Ashram Publication department.
- 12. Tilak, B.G.(1982) Bhagavadgitarahasya Athva Karmayoga-Shastra, Poona : Tilak Mandir.



संस्कृतिवमर्शः - यु.जी.सी. केयर-मानिता विद्वत्परिशीलिता अन्ताराष्ट्रीया षाण्मासिकी शोधपित्रका केन्द्रीयसंस्कृतिवश्वविद्यालयेन प्रकाश्यते। प्रकाशनेच्छुभिः शोधपत्रं Unicode Font माध्यमेन 14अक्षराकारेण संस्कृतसाहित्यसंबद्धशोधलेखाः संस्कृतम्, हिन्दी आङ्ग्लम् वा भाषया विलिख्य Sanskrit.nic.in इति जालपुटे स्थापित-www.rsif.csu.co.in पोर्टलद्वारा प्रेषयितुं शक्यन्ते। साक्षात् प्रेषितः शोधलेखः प्रकाशनाय नानुमन्यते। विद्वद्धिः अनुशीलनात् परम् अनुमतानां शोधलेखानां प्रकाशनार्हता निर्धारिता भवति।

Copyright - केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालय:, देहली।

मूल्याङ्कनसमित्या निर्धारितशोधलेखेषु निहिताः सर्वोपि विषयः सत्यतथ्यरूपेणैवाङ्गीक्रियते। लेखेषु विद्यमानायाः मौलिकतायाः विषये मूललेखकः उत्तरदायी भवति। मौलिकतायाः विवादः स्यात् तर्हि लेखक एव न्यायालयस्य उत्तरदायी भवति। अधिकविवरणज्ञानार्थं विश्वविद्यालयस्य Sanskrit.nic.in द्रष्टुं शक्नुवन्ति।

संपर्क: - शोधप्रकाशनविभाग:, केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालय:, देहली Email: res-pub@csu.co.in



केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः

संसदः अधिनियमेन स्थापितः

56-57, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, जनकपुरी, नवदेहली-110058

दूरभाष: 011-28524993, 28521994, 28520977 email: res-pub@csu.co.in, sales@csu.co.in website: www.sanskrit.nic.in